ओ३म्

वैदिकयुग और आदिमानव

लेखक

सामवेदभाष्य, आर्यसिद्धान्त-सागर, वैदिकज्योति, कर्ममीमांसा, शिक्षणतरंगिणी
वैदिक इतिहास-विमर्श, दयानन्द-सिद्धान्त-प्रकाश, वैदिक-विज्ञान-विमर्श
आदि पुस्तकों के रचयिता

आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री

अध्यक्ष

वैदिक (सार्वदेशिक सभान्तर्गत) अनुसन्धान विभाग

देहली

सितम्बर १९६४

प्रकाशक
मन्त्री—सार्वदेशिक आर्य-प्रतिनिधि सभा
दयानन्द भवन, रामलीला मैदान
नई दिल्ली-१

प्रथम संस्करण १०००

विक्रमी संवत् २०२१

मूल्य : चार रुपये मात्र

मुद्रक
रामकृष्णदास 'रसिक'
संचालक—श्री महामाया प्रिंटर्स
बाजार सीताराम, दिल्ली-६

दो शब्द

सार्वदेशिक आर्य-प्रतिनिधि सभा
महर्षि दयानन्द-भवन
रामलीला मैदान, नई देहली-१

प्रस्तुत पुस्तक को आर्य-जनता की सेवा में भेंट करते हुये मुझे अपार प्रसन्नता हो रही है। श्री के० एम० मुन्शी और उनके साथियों ने 'वैदिक एज' प्रकाशित करके वैदिक साहित्य पर जो अनावश्यक प्रहार किये थे वह उन लोगों के योरुपीय गुरुवों की पुरानी परम्परा की एक नई कड़ी थी। महर्षि स्वामी दयानन्द के निधन के पश्चात् भारत के महाविद्वान् मुनिवर पंडित गुरुदत्त एम० ए० ने जिस अपार विद्वत्ता से योरुपीय पंडितों के ईसाई-समर्थक उस षड्यन्त्र को तोड़कर चूर-चूर कर दिया था — आधुनिक काल मे ठीक उसी प्रकार आर्य-जगत् के मूर्धन्य विद्वान् सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र महापण्डित आचार्य श्री वैद्यनाथ शास्त्री ने अपने अपूर्व विद्याबल से योरुपीय पंडितों के उच्छिष्ट पर निर्वाह करने वाले अधूरे पण्डितम्मन्यों का जिस योग्यता से उत्तर देकर निराकरण किया है उससे वे महर्षि के प्रथम कोटि के शिष्यों की पंक्ति मे आ विराजे हैं। वैसे तो उनकी पाण्डित्यपूर्ण लेखनी से 'वैदिक-ज्योति', 'वैदिक-इतिहास-विमर्श' सरीखे अनेक उच्च कोटि के ग्रन्थ लिखे जाकर प्रकाशित हो चुके है। किन्तु प्रस्तुत पुस्तक लिखने मे उनके मस्तिष्क मे निहित ज्ञान का जैसा प्रकाश लेखनी द्वारा हुआ है नि सन्देह वैदिक-धर्म-रूपी भास्कर पर छा रही काली नीली बदलियों को छिन्न-भिन्न करने मे वह पूर्ण-रूप से सफल होगा।

प्रारम्भ मे सत्यार्थप्रकाश, स्वमन्तव्यामन्तव्य आदि अनेक ग्रन्थों की कुछ महत्त्वपूर्ण पंक्तियों को उद्धृत किया गया है — वह वैदिक धर्म के मूल तत्त्वों का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण संग्रह है।

फिर डार्विन साहब के विकासवाद पर अटूट तर्क-शैली का अवलम्बन कर जिस योग्यता से योरुपीय विकासवाद को अधूरा, बुद्धि-विरुद्ध और परम्परा-विरुद्ध सिद्ध किया गया है वह अत्यन्त उच्च कोटि की योग्यता विद्वत्ता और लेखन-कला का मूक प्रदर्शन है। आचार्य जी का यह व्यंगात्मक तर्क कि डार्विन महोदय ने एक-अणुक अमीबा से लेकर जलचर, स्थलचर और नभश्चर — तथा सृष्टिकुल-चूडामणि मानव का

बन्दर से विकसित होना बतलाते हुये कई कड़ियाँ दिखाई हैं, कई कड़ियाँ उनकी अनुसूची में टूटती भी है — इच्छा' द्वेष, प्रयत्न, सुख, दु:ख और ज्ञान लिङ्गों से जानी जाने वाली चेतना किस प्रकार जड एव चेतनाशून्य प्रकृति से 'अमीबा' मे प्रकट हुई ? — अकाट्य है ।

" 'वैदिक एज' के निर्णीत परिणाम भी अनिर्णीत हैं"—इस शीर्षक से आचार्य जी ने बडी खोजपूर्ण योग्यता से ताम्रयुग, कास्ययुग, लोहयुग, पुरा-पाषाण तथा नव-पाषाणयुग एव पाश्चात्यों तथा उन्हीं के भारतीय शिष्यों द्वारा वेदाविर्भाव का समय ३५००, ४०००, ८०००, १०००० तथा ५०००० वर्षों की कल्पनावों का चित्र खींचकर उस पर जो समीक्षा की है वह वस्तुत पठनीय सामग्री है ।

'भूगर्भ-शास्त्र और इतिहास'—इस शीर्षक से अनेकों योरुपीय विद्वानों की सम्मतियाँ उद्धृत करने के अनन्तर ग्रन्थकार की यह टिप्पणी बड़ी ही मार्मिक है कि — परन्तु भूस्तरों, चट्टानों आदि के द्वारा पृथिवी का इतिहास, उनका समय और हिमयुगों का निर्धारण ऐसी वस्तुयें है जो इस विज्ञान मे बलात प्रविष्ट कर ली गई है । इससे यह विज्ञान एक कल्पित वस्तु बनकर रह गया है ।

इसके अनन्तर इसी विषय पर शास्त्रीय विचारधारा के आधार पर बतलाया गया है कि वेद मे केवल विज्ञान का वर्णन है—किसी घटना अथवा इतिहास के तिथि-क्रम का वर्णन नहीं । वेद ईश्वरीय ज्ञान है । उसमे किसी देश काल की घटना का वर्णन नहीं हो सकता । विज्ञान का वर्णन अवश्य है । यह घटना का क्रम ब्राह्मण और शाखावों मे पाया जाता है जो वेदों के व्याख्यान है ।

इस पर आचार्य जी ने वेदों के अनेक मत्र और ब्राह्मणों तथा शाखावों के प्रमाण देकर सृष्टि विज्ञान की वैदिकी विचारधारा को अनूठे ढङ्ग से उपस्थित किया है । इसके अतिरिक्त श्री के० एम० मुन्शी और उनके साथियों द्वारा 'वैदिक एज' मे गप के साथ वेद-मन्त्रों को आधार बनाकर जो अन्याय किया गया है, श्री आचार्य वैद्यनाथ जी शास्त्री ने महर्षि दयानन्द की वेदार्थ शैली द्वारा उस अवैदिक षड्यन्त्र को जिस योग्यता और विद्वत्ता से तोड़ा है वह स्वाध्यायशील जनता और भावी सन्तान के लिए बडी ही अमूल्य वस्तु सिद्ध होगी ।

भाषा-विज्ञान आदि विविध विषयों को लेकर उठने वाले आक्षेपों का परिहार करने मे प्रचुर अनुसन्धानपूर्ण अन्य सामग्री भी इस पुस्तक मे प्रस्तुत की गई है ।

भाषा विज्ञान पर गम्भीर विचार करते हुये, "वाणी का विस्तार" इस शीर्षक से बताया गया है कि यह परमात्मा की प्रेरणा से ऋषियों पर सृष्टि के प्रारम्भ मे प्रकट होता है, ऋग्वेद के एक मन्त्र के आधार पर वाणी के चार पद कहे गये है। यह चार पद, ओंकार, भू, भुव और स्व हैं। इसी क्रम मे भाषाओं की उत्पत्ति—ऋषि-सकोच-क्रम, मानव-सकोच-क्रम, असुर-सकोच क्रम—इन क्रमों मे वैदिकी भाषा के अतिरिक्त सस्कृत भाषा एव देशीय तथा विदेशीय अन्य भाषाओं के बनने का क्रम बड़ा ही खोजपूर्ण है। इसी प्रसग मे सभी भाषाओं के मूल वैदिकी सस्कृत भाषा से ही अनेक भाषाओं के शब्द उदाहरण के रूप मे दिखाये गये है जो भाषा-विज्ञान के विद्यार्थियों के लिये बड़ा ही खोजपूर्ण है।

लोकमान्य बालगगाधर तिलक प्रभृति उच्चकोटि के पण्डित भी किस प्रकार भ्रान्त धारणाओं के वशीभूत होकर विदेशी विद्वानों के स्वर मे स्वर मिलाकर उनकी ही पंक्ति मे खड़े होने के लिये बाधित हो गये और अनेक प्रकार अवैदिक धारणाओं की ध्वनि उनकी लेखनी से निकल पड़ी ।

आचार्य-प्रवर ने अपने अनुसन्धान और विद्याबल से ऐसी कल्पित विचारधारा का जो आत्मपूर्ण और अकाट्य निराकरण किया है वह आर्य-जगत् के लिये बड़े गौरव का विषय है ।

मेरा विश्वास है इस ग्रन्थ के प्रकाशन से देश एव विदेश के विद्वानों को वेद के सम्बन्ध मे अपनी त्रुटिपूर्ण धारणा पर पुन विचार करने की प्रचुर सामग्री प्राप्त होगी ।

रामगोपाल
मन्त्री
सार्वदेशिक आर्य-प्रतिनिधि सभा
देहली

श्रीनगर (कश्मीर)
श्रावण शुक्ला १० सवत् २०[illegible] विक्रम
दिनाक १७-८-[illegible]

ओ३म्

भूमिका

आजकल देशीय और विदेशीय विद्वानों के द्वारा वेदों पर अनेक प्रकार के आक्षेप होते रहते हैं। इधर अनुसंधान के नाम पर जितनी ही प्रवृत्ति बढ़ी उतना ही वेदो पर आक्षेप और अवक्षेप भी बढ़ गये हैं। कभी वेदों के काल के विषय मे आपत्ति उठाई जाती है और कभी उसमे वर्णित विषयो को लेकर बड़ी-बड़ी पुस्तकें साजसज्जा के साथ विविध उपाधियों से विभूषित विद्वानो द्वारा लिखी जाकर प्रकाशित होती रहती हैं। कहना पड़ेगा कि आजकल को स्कालरशिप का यह सबसे प्रधान कार्य हो गया है कि कुछ-न-कुछ वह ऐसी बात लिखे ही जो प्राचीनता और पौरस्त्यता की विरोधी हो। ऐसी वस्तुवों का वैज्ञानिक प्रक्रिया का नाम देने की भी एक साधारण प्रचलिति हो गई है। अनुसंधान की प्रक्रिया ही आज एक उल्टे मार्ग पर चल रही है। फिर भी नाम उसका वैज्ञानिक-प्रक्रिया ही बना हुआ है। किसी वस्तु का समय आकलित करना इसका प्रधान कार्य बन गया है। इसके लिये विकासवाद, भाषाविज्ञान और इतिहास की वैदेशिक प्रणाली के आधार पर कार्य किया जा रहा है। जबकि यह सुनिश्चित तथ्य कि भाषा विज्ञान कोई विज्ञान नहीं, विकासवाद का दर्शन कोई दर्शन नही और विदेशियों द्वारा प्रचारित प्रणाली कोई प्रशस्त प्रणाली नही—फिर भी इसका ही प्रचार अधिकतर किया जा रहा है। भारत के दुर्भाग्य से इस देश पर विदेशियो का लम्बे काल तक शासन रहा। इससे बहुत अधिक प्रभाव इस देश की सभ्यता और विचार-सरणि आदि पर पड़ गया है ऐसा अमिट छाप इसकी पड़ गई है कि यह स्वतन्त्र होने के बाद भी नहीं मिट रही है। आवश्यकता इस बात की है कि इस छाप को मिटाया जावे और इस अवैज्ञानिक भाषा-विज्ञान आदि का भली प्रकार निराकरण कर वास्तविकता सुनावगे और जनसाधारण के समक्ष रखा जावे। इस दिशा में पर्याप्त प्रयत्न इस पुस्तक मे किया गया है।

ऊपर लिखा गया है कि वेद के काल से लेकर उसकी भाषा और उसके विविध विषयों आदि को भाषा-विज्ञान आदि की दृष्टियों से आक्षिप्त किया जाता रहता है। वैदिक-एज नाम की पुस्तक ने वेदों और उसके काल आदि के विषय में अनेक अनर्गल आक्षेप किये हैं। आर्यसमाज के साथ वेद का सदा समवाय सम्बन्ध रहा है अतः आक्षेपों का उत्तर देना भी उसका एक प्रधान कार्य हो जाता है। आर्यसमाज के प्रवर्त्तक महर्षि दयानन्द सरस्वती ने वेद के वास्तविक स्वरूप को पुनः संसार के सामने रखा। आचार्य ने वेदार्थ की प्राचीन आर्ष-परम्परा का प्रचलन किया और वेद को ईश्वरीय ज्ञान घोषित करते हुए उसे समस्त सत्य विद्यावों का पुस्तक बताया। यह धारणा जितनी ही प्रशस्त है उतनी ही वर्तमान समय में इसकी स्थापना भी कण्टकाकीर्ण हो गई है। अनेक प्रकार के कण्टकों को साफ करके ही इसे प्रस्थापित किया जा सकता है। इस दृष्टि को लेकर इस पुस्तक मे पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत की गई है और वेद के काल आदि का निर्णय कर उसके वास्तविक स्वरूप को लोगों के सामने रखने का प्रयत्न किया गया है। इस दिशा मे भी भाषा विज्ञान और विकासवाद और भूगर्भशास्त्र आदि की जो कठिनाइयाँ खड़ी होती हैं सबका भली प्रकार निराकरण और समाधान किया गया है। अवेस्ता की भाषा और अनेक विदेशी भाषावों के शब्दों को लेकर वेद पर जो आक्षेप किये जाते हैं— सभी का विस्तार से युक्तियुक्त प्रमाणपुरःसर उत्तर दिया गया है। इस बात को प्रबल प्रमाणों और आधारों से सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि वेद से पूर्व की न कोई भाषा है, न कोई उससे पूर्व का धर्म है, न वेद मानव की कृति है और न संसार की कोई भाषा है जो वेद की भाषा से न बनी हो। वेद की वाणी ही ऐसी है जो सब भाषावों का मूल है। वैदिक एज के सभी तर्कों की पूर्णरूपेण खण्डन कर निःसारता दिखला दी गई है। वैदिक एज के अतिरिक्त अन्यों द्वारा जो तर्क वेद के खण्डन मे दिये गये हैं उनका भी समाधान किया गया है। कहना चाहिए कि हर प्रकार के प्रहारों से वेद की रक्षा कर वास्तविकता को उपस्थापित किया गया है। इस प्रसंग मे विकासवाद के सिद्धान्तों और भाषा-विज्ञान की कल्पनावों को चकनाचूर करने में कोई भी कोर-कसर उठा नहीं रखी गई है। विविध नवीन तथ्यों को उद्घाटित करने का यत्न किया गया है। भूगर्भ-शास्त्र की बड़ी भारी आड़ ली जाती है अपने इतिहासों और विविध घटनावों के काल आदि के आकलन

में। इसका भी वास्तविक रूप क्या है ? —प्रस्तुत करने का सम्यक् समुद्योग किया गया है।

आचार्य दयानन्द सरस्वती ही एक ऐसे महापुरुष हैं जिन्होंने अंग्रेजी राज्य के पूर्ण यौवनकाल मे होते हुये भी अपने अमरग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश में भारत के प्राचीन इतिहास को वास्तविक रूप देने की आवाज उठाई। उन्होंने प्राचीन भारतीय इतिहास के कई मूल सूत्रों का अपने ग्रन्थ मे वर्णन भी किया है। ११वें समुल्लास के अन्त में एक बहुत बड़ी वंशावलि भी प्रकाशित कर दी थी। वे चाहते थे कि आर्येतिहास को विदेशी मान्यतावों से हटाकर उसके निजी रूप में प्रस्तुत किया जावे। जहाँ अनेक प्रकार के सुधार ऋषिवर ने किये वहाँ आर्येतिवृत्त को उसके असली रूप में रखने के कार्य की भी प्रेरणा दे गये। आर्यलोग कहीं बाहर से भारत में नही आये, सृष्टि के आदि मे त्रिविष्टप में पैदा हुये, उनसे पूर्व धरा पर कोई भी जाति नहीं थी—आदि बातों का वर्णन महर्षि के ग्रन्थों में मिलता है। महर्षि के बताये मार्ग पर चलते हुये उनके सभी इतिहास-सम्बन्धी सूत्रों को लेकर इस ग्रन्थ में वास्तविक आर्येतिहास के मार्ग को प्रशस्त किया गया है। इसी प्रसग में इतिहास-सम्बन्धी विदेशी मान्यतावों की पूर्ण निराकृति की गई है और महर्षि की समस्त स्थापनावों को स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। इस विषय मे प्रागैतिहासिक, प्राग्वैदिक, और हिमसम्बन्धी, पाषाणसम्बन्धी युगो और इन पर चलने वाली विशेष मान्यतावों को निर्मूल सिद्ध किया गया है। वैदिकएज के एतद्विषक विचारों का ऊहापोहपूर्वक निरास किया है। जातिभेद (Race Movement) को सर्वथा ही बनावटी सिद्ध किया गया है। उपजाति सम्बन्धी समस्त कल्पनायें ही निराधार हैं—यह भली प्रकार अनेक तर्कों से सिद्ध किया गया है। इसी प्रसग में आदिवासी और द्राविड आदि जातिभेदो पर विचार करके यह बतलाया गया है कि आर्यों से पूर्व ऐसी कोई जाति नहीं थी। भारत में आर्य ही इसके मूल निवासी थे। आर्यो से ही च्युत होकर अनेक जातियाँ बन गई। इस धारणा का भी खण्डन किया गया है कि प्राचीन भारत के इतिहास के लिए सामग्री नहीं उपलब्ध होती है। इतिहास के स्रोतों का वर्णन पृथक् ही एक प्रकरण में किया गया है।

इस पर पूर्ण प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है और सर्वथा निश्चित रूप से सिद्ध किया गया है कि वेद में किसी प्रकार की इतिहास-सम्बन्धी सामग्र

नहीं है। जो लोग वेद से इतिहास की सामग्री निकालते हैं—वे ठीक नहीं करते हैं। वेदों में किसी व्यक्ति-विशेष का न इतिहास है और न उनमें किसी ऐतिहासिक घटना का वर्णन है। ब्राह्मणग्रन्थो के जिन ज्योतिष सम्बन्धी प्रमाणों से लोग वेद का समय थोड़ा सिद्ध करते हैं उन्हीं ब्राह्मणग्रन्थो की ज्योतिष-सामग्री के आधार पर वेदों की बहुत बड़ी प्राचीनता सिद्ध की गई है।

युगों के विषय में कई प्रकार के भ्रामक विचार प्रकट किये जाते हैं—इन सबका भी निरसन किया गया है। युगों की वर्षसंख्या को वैज्ञानिक ढंग पर स्थापित किया गया है। कई लोगो ने आधुनिकों के प्रभाव में आकर इन युगों की वर्षसंख्या अपनी पृथक् रूप से बना ली है। परन्तु यह ठीक नहीं। आचार्य दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में सूर्यसिद्धान्त और मनुस्मृति आदि में प्रदर्शित युग-गणना को ही प्रमाण माना है। अत इसका पूर्ण बल के साथ समर्थन इस ग्रन्थ में किया गया है।

कई इतिवृत्तविद् पुराणों को आर्येतिहास की सामग्री का स्रोत मानते हैं। परन्तु इस पुस्तक मे यह बात स्वीकार नही की गई है। पुराणों को महर्षि ने विषसंपृक्त अन्नवत् परित्याज्य और कपोलकल्पित अप्रमाण ग्रन्थ माना है। अतः इसी स्थिति को इस ग्रन्थ मे सर्वथा स्वीकार कर पुराणा को इतिहास का स्रोत नहीं स्वीकार किया गया है और इन्हे त्याज्य ग्रन्थ समझा गया है। लोग कहेंगे कि पुराणों में तो कई आर्य-विद्वान् भी इतिहास की सामग्री स्वीकार करते हैं फिर ऐसा यहाँ भी मैने क्या नहीं किया? इसका समाधान यह है कि पुराणों की बातें परस्पर विरुद्ध हैं और सृष्टिनियमो के विरुद्ध हैं। यही कारण है कि महर्षि ने उन्हें स्वीकार नहीं किया है। इसी सिद्धान्त का मैंने भी अनुसरण किया है। जो पुराणों को इतिहास के विषय में प्रामाणिक समझते हैं उनसे पूछना चाहिए कि क्या महर्षि ग़लती पर थे? सच्चा रहस्य पुराणों का इन्ही की समझ मे आया है—वा अन्य किसी की भी? साथ ही यदि पुराणों मे प्रदर्शित इतिहास को आर्येतिहास की सामग्री माना जावे तो कोई भी वस्तु याथातथ्य से सिद्ध नहीं हो सकेगी। न वंशपरम्परा बन सकेगी और न उसका काल निर्धारित हो सकेगा। हजारों वर्षों की आयु की कल्पनायें करनी पड़ेंगी—जो सम्भव नहीं। कई इतिहासज्ञों को ऐसी कल्पनायें करनी पड़ीं—इन पुराणों को इतिहास की सामग्री मानने से। परन्तु वे

किसी प्रकार ठीक नहीं। पुराणों को स्वीकार करने में अनर्गल और असम्भव बातें भी स्वीकार करनी पड़ेंगी तथा अंग्रेजी भाषा भी व्यास आदि बोलते थे तथा अन्य सृष्टि विरुद्ध बातें भी इसी प्रकार माननी पड़ेगी। जो कोई भी विज्ञ स्वीकार नहीं कर सकता है। अतः यही प्रशस्त मार्ग है कि पुराणों को त्याज्य ही समझा जावे। महाभारत और वाल्मीकि रामायण को इतिहास की सामग्री से युक्त स्वीकार किया गया है। लेकिन इनके प्रक्षेपों को इस प्रमाणकोटि में नहीं माना जा सकता है अतः उसके अनुसार ही यहाँ पर भी समझना चाहिए।

इस पुस्तक का लिखना जब बहुत कुछ हो गया—यहाँ तक कि जब पुस्तक भी प्रेस में आधी छप चुकी तब एक सज्जन ने सुझाव दिया कि 'वैदिक एज' का उत्तर तो एक विद्वान् ने अपनी अमुक पुस्तक में दे दिया है। अतः पुनः समय क्यों खराब किया जावे? उनकी सम्मति उनकी दृष्टि में प्रशस्त हो सकती है और वे धन्यवाद के पात्र हैं। परन्तु कहना तो यह है कि यदि एक ही पुस्तक का उत्तर दो विद्वान् अपनी पृथक्-पृथक् प्रतिभा से लिख दें, अथवा एक ने कोई उत्तर दिया है और दूसरा पुनः उसी का अन्य ढंग से पृथक् और विशेष अपिष्टपेषक, समुज्ज्वल उत्तर दे दे तो हानि क्या हो जावेगी? साथ ही जिस पुस्तक का नाम उन्होंने लिखा वह पुस्तक वेद के विषय में निबन्ध तो हो सकती है परन्तु वैदिक एज का उत्तर उसे नहीं कहा जा सकता है। उस पुस्तक का अपना स्थान है और दूसरे जो लिखते हैं अथवा लिखेंगे उनका अपना स्थान होगा।

यहाँ पर एक बात यह विशेष स्मरण रखने की है कि 'वैदिक एज' इतिहास की पुस्तक है। अतः इतिहास के आधार पर ही उसका उत्तर भी दिया जाना चाहिए। उसमें भाषा-विज्ञान आदि आधारों को लेकर तथा इतिहास की मान्यतावों को लेकर जो तर्क दिये गये हैं उनका उत्तर होना चाहिए। इसीलिए इस पुस्तक में इतिहास के उन आधारों को खण्डित कर अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। तथा जिस पुस्तक का नाम लिया जाता है उसको उसके लिए ही रहने दिया गया है और उसकी शोभा को तनिक भी क्षत नहीं होने दिया गया है।

यह भी ज्ञात रहे कि यह प्रस्तुत पुस्तक केवल वैदिक एज का ही उत्तर मात्र नहीं है। वैदिक एज का उत्तर तो इसमें प्रसंगतः हो ही गया है—परन्तु

इसमें वैदिक एज जैसी अनेक पुस्तकों की आपत्तियों का भी समाधान कर दिया गया है । साथ ही महर्षि द्वारा प्रदर्शित प्रकारों से इतिहास की वास्तविक स्थिति की स्थापना भी कर दी गई है । आर्येतिहास का वास्तविक स्वरूप क्या हो, वेद का वास्तविक स्वरूप क्या है, इस विषय पर मौलिक 'सामग्री प्रस्तुत कर इतिहास के स्वरूप की स्थापना की गई है ।

१—काल के आकलन में बी० सी०, ए० डी० की कल्पना ।
२—विभिन्न हिमादि युगों की कल्पना ।
३—विकासवाद का इतिहास मे अप्रतिहत प्रवेश ।
४—भाषा-विज्ञान ।
५—भूगर्भ शास्त्र का इतिहास मे प्रवेश ।
६—उपजातिवाद (Race Movement) ।
७—विदेशी शब्दो के वेद मे होने की कल्पना ।
८—भारत मे आर्यों से पूर्व आदिवासी आदि का होना ।
९—मोहेंजो-दारो आदि की साक्षियाँ ।
१०—तथा इस प्रकार की अन्य मान्यतायें ।
११—वेद का विभिन्न समयो मे बनना ।

इन उपर्युक्त कल्पनावों एव मान्यतावों का निराकरण करके यह सिद्ध किया गया है कि इस धरा पर आर्य ही सर्वप्रथम उत्पन्न हुये और भारत मे ये ही सबसे पहले से रहते थे, इनमे पूर्व यहाँ पर कोई नही था। वेद ईश्वरीय ज्ञान है, सृष्टि की आदि मे इसकी प्रेरणा मिली है, इससे पूर्व का ससार मे कोई धर्मग्रन्थ नही है। वेद सर्व सत्य-विद्यावा का भण्डार है—आदि विषया का स्थापन किया गया है। इस मौलिक सामग्री के साथ यह पुस्तक "वैदिकयुग और आदिमानव" सुधीवर्ग और जनता-जनार्दन के सामने प्रस्तुत किया जा रहा है ।

मुझे इस बात की बड़ी प्रसन्नता है कि साहित्य की रचना के इस कार्य मे आर्यसमाज के मान्य मूर्धन्य नेता पू० स्वामी ध्रुवानन्द जी महाराज ने सदा ही उत्साह प्रदान किया। जब भी हुआ इस कार्य के लिए तथा और कोई असुविधा तो नहीं है आदि विषयो मे बराबर पूछते रहे। वे सदा यह कहते हैं कि महर्षि के सिद्धान्तों की रक्षा

और पोषण मे जितना भी हो सके उसके करने में सदा तत्पर रहियेगा। यह वस्तुतः एक बड़ी भारी प्रेरणा है। सभा के वर्तमान प्रधान श्री सेठ प्रतापसिंह शूरजी—एक कर्मठ आर्यश्रेष्ठि हैं। उनका सारा परिवार आर्य-धर्म से ओतप्रोत है। वेद और महर्षि के सिद्धान्तों के प्रचार के लिए वे सदा ही प्रयत्नशील रहते हैं। अपने साथ इस परिवार का बहुत पुराना परिचय और संपर्क है। श्रीप्रतापभाई जी सदा जब भेट हो कार्य के विषय में चर्चा करते हैं और पत्र आदि के द्वारा किये गये और किये जा रहे कार्य पर आदर भाव दर्शाते रहते हैं। इनके पिता स्वर्गीय श्री सेठ शूरजी वल्लभदास वर्मा का मेरे प्रति यह विश्वास था और इनका अपना भी ऐसा ही विश्वास है कि मै महर्षि के सिद्धान्तों की रक्षा में सदा तत्पर रहता हूँ, और इसकी विशेष क्षमता भी है अत. इस बात की सदा ये याद दिलाते रहते हैं। ये चाहते हैं कि अधिकाधिक कार्य इस दिशा में हो।

देहली में सभा कार्यालय में अपने कार्य के इस महान् उत्तरदायित्व को निभाने के लिए रहते हुये बहुत निकट का सपर्क जिनसे रहा वे वर्तमान-सभा के मंत्री श्री लाला रामगोपाल जी शालवाले हैं। लालाजी शक्ति के पुंज है और अहर्निश आर्यसमाज और जनसेवा के कार्य में लगे रहने मे वे प्रसन्न रहते हैं। शारीरिक कष्ट भी हो, फिर भी वे कार्य मे लगे ही रहते हैं। एक बात उनमें यह देखी जाती है कि वे महर्षि के सिद्धान्ता और वेद के विषय पर किये गये आघात को कभी भी सहन नही कर सकते। तत्काल उसका उत्तर दिया जावे—यह उनकी इच्छा रहती है। यह वस्तुत' एक बड़ा-भारी गुण है। श्री लालाजी सदा ही मेरी सुविधावों आदि का ध्यान रखकर अपना महयोग देते रहते हैं। उनका इस प्रकार का सहयोग सदा ही बना रहेगा—इसमे सन्देह नही।

मुझे बड़ी प्रसन्नता है कि सभा-कार्यालय सदा सहयोग देता रहता है। श्री पं० रघुनाथप्रसाद जी पाठक और श्री प० प्रेमचन्द जी शर्मा सदा प्रत्येक आवश्यकता का ध्यान रखते हैं और मेरा कार्य जो भी जिस समय उपस्थित हुआ उसके करने में तत्परता ही वर्त्तते हैं। मुझे पूर्ण आशा है कि यह सहयोग-यंत्र सदा इसी प्रकार चलता रहेगा।

पुस्तक प्रेस में भेजी गई कि शीघ्रातिशीघ्र छप जावे। परन्तु कतिपय कारणों से छपने में कुछ विलम्ब हुआ। फिर भी एक बात जो इस विलम्ब में भी

सराहनीय है वह यह है कि पुस्तक में प्रूफ की अशुद्धियाँ न जाने देने में श्री महामाया प्रिंटर्स, देहली के संचालक श्री रामकृष्णदास 'रसिक' ने विशेष तत्परता और सावधानी वर्ती है। उन्होंने स्वयं ही इस कार्य में स्वच्छ छपाई के हेतु विशेष सक्रियता रखी जो प्रशंसनीय है और एक प्रेस के लिए भूषण है।

वैद्यनाथ शास्त्री
अध्यक्ष
वैदिक अनुसन्धान-विभाग
सार्वदेशिक आर्य-प्रतिनिधि सभा

महर्षि दयानन्द-भवन, देहली
२३—८—६४

आर्य-काल-कलन-प्रकार

आर्य-लोग जहाँ दार्शनिक और वैज्ञानिक दृष्टि से काल के सूक्ष्म-तत्त्व को जानते थे वहाँ उनकी काल-गणना का क्रम भी संसार में अपूर्व स्थान रखता है—

सूर्य-सिद्धान्त

(१) भूतों का नाशकर्त्ता काल

(२) कलनात्मक काल

|

स्थूल और सूक्ष्म

|

मूर्त्त — अमूर्त्त

प्राण = १० गुरु अक्षरों के उच्चारण का समय

विनाडी वा पल = ६ प्राण

घटिका = ६० पल

अहोरात्र = ६० घटिका

मास = औसत ३० दिन कुछ अधिक

वर्ष = १२ मास

उत्तरायण और दक्षिणायन = छः-छः मास

ऋतुयें = दो-दो मास की

पक्ष = शुक्ल और कृष्ण

दिन = रविवार आदि

कलियुग =	४३२०००
द्वापर =	८६४०००
त्रेता =	१२९६०००
कृतयुग =	१७२८०००
चतुर्युगी =	४३२००००

मन्वन्तर = १४

ब्राह्म दिन वा सृष्टि-समय = ४ ३ २ ० ० ० ० ० ० ०

ब्राह्मरात्रि वा प्रलय-काल = " "

ब्रह्माण्ड कक्षा = १८७१२०८०८६४०००००० योजन

अथर्ववेद मे सृष्टि का समय = ४३२००००००९ वर्ष

परान्त काल अथवा मुक्ति का समय = ४३२००००००० × ३६०१०
= ३११०४००००००००००

सुश्रुत

निमेष = लघ्वक्षरोच्चारण मात्र
काष्ठा = १५ निमेष
कला = ३० काष्ठा
मुहूर्त्त = २० कला
अहोरात्र = ३० मुहूर्त्त
पक्ष = १५ अहोरात्र
मास = माघ आदि १२
ऋतुवें = ६ शिशिर आदि
|
तपस्, तपस्य = शिशिर
मधु-माधव = वसन्त
शुचिशुक्र = ग्रीष्म
नभस्-नभस्य = वर्षा
इष-ऊर्जा = शरत्
सहस्-सहस्य = हेमन्त

यह ऋतु और मास का वर्णन यजुर्वेद से लिया गया है।

यजु १७।२ का संख्या-कलन-प्रकार निम्न प्रस्तार सिद्ध करता है—

एक—१
दश—१०
शत—१००
सहस्र—१०००
दशसहस्र—१००००
लक्ष—१०००००
दशलक्ष—१००००००
कोटि—१०००००००
दशकोटि—१००००००००
अरब—१०००००००००
खरब—१००००००००००
दशखरब—१०००००००००००
नील—१००००००००००००
दशनील—१०००००००००००००
पद्म—१००००००००००००००
दशपद्म—१०००००००००००००००
शङ्ख—१००००००००००००००००
दशशङ्ख—१०००००००००००००००००

कुछ पारिभाषिक शब्द

Axidian=जलचर (केकड़ा)
Archean=आद्यकल्प
Alluvial=जलोढ
Arctic=ध्रौव
Biological evolution=जीवन-विकास
Cosmological evolution=सृष्टि-विकास
Cambrian=त्रिखण्ड
Carboniferous=कोयलामय
Cretaceous=खड़ियायुगीन
Degeneration=ह्रास
Denundation=नग्नीकरण
Devonian=मत्स्ययुगीन
Evolution=विकास
Evolution Theory=विकासवाद
Eocene=प्रातिनूतन
Fossilized=अश्मीभूत
Fossil=निखातक
Fossiliferous=निखातयुत
Geology=भूगर्भशास्त्र
Granite=कणाश्मक
Hybrid=संकरीकरण
Intellectual evolution=ज्ञानविकास
Igneous fusion=द्रवीभाव
Jurasic=महासरट
Lithosphere=सान्द्रमण्डल
Metamorphic Rocks=परिवर्तित चट्टानें
Miocene=मध्यनूतन

Natural Selection=प्राकृतिक निर्वाचन
Ordovian=[illegible]
Oligocene=आदिनूतन
Pre-Vedic=प्राग्वैदिक
Pre-historic=प्रागैतिहासिक
Polype=बहुभुजधारी कीट
Plutonic=अधोघनित
Pre-cambrian=पूर्वत्रिखण्ड
Pliocene=प्रतिनूतन
Pleistocene=प्रतिनूतन
Paleantology=पुराशिलाजातिकी विद्या
Primary rocks=प्राथमिक चट्टानें
Primitive=प्राथमिक
Permian=गिरियुगीन
Quartenary series=चतुर्थ शृङ्खला
Sedimentary=अवसादित
Silurian=प्रवाल [illegible]
Seccndary=द्वितीय
Stratified=स्तरीभूत
Sch'st=सुभाजा
Triassic=रक्ताश्म
Tertiary series=तृतीय शृङ्खला
Transitional=मध्यवर्ती

विषयानुक्रमणी

विषय	पृष्ठ
दो शब्द (प्रकाशकीय वक्तव्य)	iii—v
भूमिका	vi—xiii
आर्य-काल-कलन-प्रकार	xiv—xvi
कुछ पारिभाषिक शब्द	xvii—xviii

अध्याय १

उपोद्घात	१—१७
महर्षि दयानन्द-प्रदर्शित कुछ इतिहास-सूत्र	१—४
सिद्धान्त-निर्धारण	४—६
विकासवाद की असङ्गतता— सृष्टि-विकास, जीवन-विकास, ज्ञान-विकास का निराकरण	६—१७

अध्याय २

'वैदिक एज' के निर्णीत परिणाम भी अनिर्णीत और संशयग्रस्त हैं	१८—४४
समयाकलन की परिपाटी	२४—२७
प्रागैतिहासिकयुग (निराकरण)	२७—२९
प्राग्वैदिककाल (निराकरण)	२९—३२
कुछ प्रकीर्ण	३२—३४
पुरातत्त्व	३४—३६
पुरापाषाण-ताम्र आदि युग (निराकरण)	[illegible]—४४

अध्याय ३

भूगर्भशास्त्र और इतिहास — ४५—५६
हिमयुग — ४५—४६
समीक्षा — ४६—५१
भूगर्भविज्ञान और शास्त्रीय विचारधारा — ५२—५६

अध्याय ४

भाषा-विज्ञान और इतिहास — ६०—८६
भाषा की उत्पत्ति — ६०—६२
वाणी का विस्तार — ६२—६५
वेदवाणी का स्वरूप — ६५—६७
भाषाओं की उत्पत्ति — ६७—६८
अपसंकोचक्रम आदि — ६८—७६
आक्षेपों का समाधान — ७६—८२
भाषाविज्ञान के नियम का व्याघात — ८२—८४
भाषा-विज्ञान की इतिहास के निर्णय में व्यर्थता — ८४—८६

अध्याय ५

आर्येतिहास के प्रमाणित स्रोत — ८७—८९

अध्याय ६

आर्यलोग बाहर से नहीं आये और न उनसे पूर्व धरा पर अन्य कोई जाति थी। — ८८—१०७
इस विषय के कुछ सिद्धान्त एवं जातिभेद — ८८—९६
समीक्षा — ९६—१०२

द्राविड़ और आदिवासी आर्यों से
पृथक् नहीं — १०१—१०७

अध्याय ७

अवेस्ता-वेद और ईरान-भारत सम्बन्ध — १०८—१४६
विविध विषयों का प्रतिपादन — १०८—११२
समीक्षा — ११३—११६
भाषा-विज्ञान का आधार भी ठीक नहीं — ११६—१२२
अवेस्ता और वेद के शब्द तथा मंत्र-भाग — १२३—१३०
वेद से ही पारसी धर्म ने अपनी शिक्षायें,
भाषा आदि की प्रेरणा ली — १३०—१३५
ईरानी लोग भी भारत से ही ईरान गए — १३५—१३८
देव और असुर पूजा — १३८—१४०
असुर शब्द का अर्थ — १४०—१४४
विदेशी भाषा के शब्द — १४४—१४६

अध्याय ८

मोहेंजो-दारो तथा हरप्पा — १४७—१५४
मुद्राओं, सभ्यता आदि पर विशेष विचार — १४७—१५४

अध्याय ९

वेद की अन्तःस्थिति की खोज — १५५—२१४
युगों के विषय में — १५५—१५६
चारों वेदों के काल में भेद नहीं — १५६—१५७
बालखिल्य-सूक्त — १५७—१६२
क्या दशम मण्डल बाद में रचा गया—
विविध युक्तियों पर विचार — १६२—१९८

ऋग्वेद के सूक्तों के क्रम-निर्धारण पर विचार—विविध तर्कों का निराकरण	१६८—१७८
कुन्ताप-सूक्तों पर विचार	१७८—१८१
यजुर्वेद पर विचार	१८१—१८३
सामवेद पर विचार	१८३—१८५
ऋग्वेद और यज्ञोपवीत—चार वर्ण, चार आश्रम	१८५—१८८
अन्न, कृषि एवं विविध विद्याओं पर विचार	१८८—१९१
आर्य भोजन—मांस-भक्षण आदि का विरोध—विविध मन्त्रों की अर्थ-संगति	१९१—२०२
जगत् के मूलतत्त्व	२०३—२०८
कुछ मौलिक शिक्षायें	२०८—२१०
उपसंहार	२११—२१४

कुछ विशेष ग्रन्थ जिनका सहयोग लिया गया   २१५—२१६

वैदिकयुग और आदिमानव

ओ३म्

अध्याय १

उपोद्घात

महाभारत काल भारत के इतिहास मे एक ऐसा काल है जब से इस देश का पतन प्रारंभ हुआ । परस्पर की फूट और अविद्या के विस्तार से इस देश मे यह अवस्था आगे आने वाले समयो मे और भी बिगडती गई । महाभारत काल तक इस देश के चक्रवर्ति-सम्राटो ने धरा के अधिकाश नही पूर्ण भागो पर एकछत्र राज्य किया था । राज्य-व्यवस्था का सामाजिक जीवन पर पर्याप्त प्रभाव पडता है। जब आर्यों का चक्रवर्ती राज्य छिन्न-भिन्न हो गया और एक लम्बे काल के बाद इस देश मे विदेशी लोगो ने राज्य करना प्रारम्भ किया तो भारत केवल परतन्त्र ही नहीं हुआ बल्कि शासको की सभ्यता और मान्यतावो के प्रभाव से भी बहुत अधिक प्रभावित हुआ । राजनैतिक परिवर्तन की दृष्टि मे यह प्रभाव स्वाभाविक था । इस परतन्त्रता के काल म जहाँ विदेशियो ने इस देश की आर्य प्रजा पर अपना शासन किया वहाँ विदेशी विद्वानो ने इसकी सभ्यता और इतिहास आदि को भी नष्ट एव भ्रष्ट करने की दृष्टि से अपनी कल्पित मान्यतावो के आधार पर इसको एक नया मोड दिया। इसके प्रभाव और चाकचक्य ने हमारे परतत्र और अनुकरण-परायण भारतीय नाम-धारी विद्वानो को भी इस मोड का ही अनुगामी बना दिया । फिर क्या था—एक अन्ध परपरा चल पडी और वर्षो तक सभी विद्या के क्षेत्रो पर अपना प्रभाव जमाये रही । आज हम स्वतत्र है—परन्तु अभी भी प्रभाव वही चल रहा है । अभी तक विदेशी मान्यतावो और कल्पनावो को छिन्न-भिन्न कर उनसे स्वतन्त्र हो अपने इति-हास के निर्माण की प्रशस्त दिशा हम नही बना सके । विदेशी राज्य तो इस देश से गया परन्तु विदेशीयता अभी भी शेष है। अत. हमारे पाश्चात्यपदानुगामी विद्वान् अनुसधान के नाम पर उसी पुरानी विदेशी परम्परा को प्रोत्साहन दे रहे हैं। परन्तु प्रकाश की रेखा भी आकाश की प्राची दिशा से अपना मुँह दिखा रही है और इसके प्रकाश मे अब ऐसे भी विचारक अनुसधान के क्षेत्र मे अवतरित हो रहे है जो इन विदेशी अन्ध-मान्यतावो और कल्पनावो से ऊपर उठकर वास्तविक परिस्थिति का दर्शन करने लगे हैं।

भारत का, नहीं-नही, समस्त भूमण्डल का यह एक महान् सौभाग्य है कि भारतभूमि के एक खण्ड के टकारा भाग से एक दिव्य ज्योति, महाविभूति, आर्षमति व्यक्ति महर्षि दयानन्द सरस्वती का उदय हुआ । इस महा मानवी शक्ति

ने जहाँ स्वराज्य का मूल मन्त्र[1] दिया, वैदिक धर्म का सन्देश दिया, समाज मे फैली बीमारियो का निदान और निदेश किया, वेद विद्या के प्रचार का पाठ पढ़ाया वहाँ इन विदेशी मान्यतावो को छिन्न-भिन्न कर नया और प्रशस्त दृष्टिकोण प्रदान किया। स्वय महाराज ने अपने अमरग्रन्थ सत्यार्थ-प्रकाश मे महाराज युधिष्ठिर से लेकर महाराज यशपाल तक की शासनसरणि भी दिखला दी है। इस महाविभूति ने जहाँ प्रगति की अन्य दिशाओ मे क्रान्तिकारी जागृति उत्पन्न की वहा इतिहास निर्माण की दिशा भी उसके प्रभाव से रिक्त नही रही। महर्षि के इतिहास-सम्बन्धी मूल-सूत्रो को यहाँ पर उद्धृत कर पुन आगे चलने का प्रयत्न किया जावेगा—

१ प्रश्न—जगत की उत्पत्ति मे कितना समय व्यतीत हुआ ?

उत्तर—एक अर्ब, छानवे क्रोड, कई लाख कई सहस्र वर्ष (आज तक के हिसाब से १९६०८५३०९६३ वर्ष) जगत् की उत्पत्ति और वेदों के प्रकाश होने मे हुये हैं। इसका स्पष्ट व्याख्यान मेरी बनाई भूमिका (ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका मे लिखा है देख लीजिए। स० प्र० ८ समुल्लास)

२ प्रश्न—जिन वेदो का इस लोक मे प्रकाश है उन्ही का उन लोको म भी प्रकाश है वा नही ?

उत्तर—उन्ही का है। जैसे एक राजा की राज्यव्यवस्था नीति सब देशो मे समान होती है उसी प्रकार परमात्मा राजराजेश्वर की वेदोक्त नीति अपने-अपने सृष्टि रूप सब राज्य मे एक सी है। (सत्यार्थप्रकाश ८म समु०)

३ प्रश्न—किसी देशभाषा मे वेदो का प्रकाश न करके सस्कृत (वैदिक सस्कृत) मे क्यों किया ?

उत्तर—जो किसी देशभाषा म प्रकाश करता, तो ईश्वर पक्षपाती हो जाता क्योकि जिस देश की भाषा मे प्रकाश करता उनको सुगमता और विदेशियो को कठिनता वेदो के पढने पढाने की होती। इसलिए सस्कृत (वैदिक सस्कृत) मे ही प्रकाश किया जो किसी देश की भाषा नही। और वेद भाषा अन्य सब भाषाओ का कारण है। उसी मे वेदो का प्रकाश किया। (सत्यार्थ प्रकाश ७म समु०)

४—जो कोई यह कहते है कि वेदो को व्यास जी ने इकट्ठे किये, यह बात झूठी है क्योकि व्यास जी के पिता पितामह प्रपितामह, पराशर, शक्ति, वसिष्ठ और ब्रह्मा आदि ने भी चारो वेद पढे थे। यह बात क्योंकर घट सके ?

(सत्यार्थप्रकाश ११ समुल्लास)

---

1 आर्यावर्त म भी आर्यों का अखण्ड, स्वतन्त्र स्वाधीन निर्भय राज्य इस समय नही है। जो कुछ है सो भी विदेशियो के पादाक्रान्त हो रहा है कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है अथवा मत-मतान्तर के आग्रहरहित अपने और पराये का पक्षपात-शून्य प्रजा पर पिता माता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियो का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है।

(सत्यार्थप्रकाश ८म समुल्लास)

५—जो कोई ऋषियों को मन्त्रकर्त्ता बतलावें उनको मिथ्यावादी समझें। वे तो मंत्रों के अर्थप्रकाशक हैं। (स० प्र० ७ स०)

६ यथा ब्राह्मणग्रन्थेषु मनुष्याणा नामलेखपूर्वका लौकिका इतिहासा सन्ति न चैवं मन्त्रभागे।" अतोऽत्र मन्त्रभागे इतिहासलेशोऽप्यस्तीत्यवगन्तव्यम्। अतो यश्च सायणाचार्यादिभिर्वेदप्र काशादिषु यत्र कुत्रेतिहासवर्णन कृत तद् भ्रममूलमस्तीति मन्तव्यम्। (ऋग्वे०भाष्य भू० वेद सज्ञा प्रकरण)

७—अब जो वेदादि सत्यशास्त्र और ब्रह्मा से लेकर जैमिनि-मुनि पर्यन्तो के माने हुये ईश्वरादि पदार्थ हैं जिनको मैं भी मानता हूँ सब सज्जन महाशयो के सामने प्रकाशित करता हूँ। (स्व मन्त प्रकाश)

८—प्रश्न—मनुष्यो की आदि सृष्टि किस स्थल में हुई ?

उत्तर—त्रिविष्टप् अर्थात् जिसको तिब्बत कहते हैं।

प्रश्न—आदि सृष्टि मे एक जाति थी वा अनेक ?

उत्तर—एक मनुष्य जाति थी, पश्चात् "विजानीह्यार्यान्ये च दस्यव" यह ऋग्वेद (१/५१/८) वचन है। (इस नियम के अनुसार)श्रेष्ठो का नाम आर्य, विद्वान्, देव और दुष्टो के दस्यु अर्थात् डाकू मूर्ख नाम होने से आर्य और दस्यु दो नाम हुए। (स० प्र० ७म स)

९—प्रश्न—प्रथम इस देश का नाम क्या था और इसमे कौन बसते थे ?

उत्तर- इसके पूर्व इस देश का नाम कोई भी नही था और न कोई आर्यों के पूर्व इस देश मे बसते थे क्योकि आर्य लोग सृष्टि के आदि मे कुछ काल के पश्चात् तिब्बत से सूधे इसी देश मे आकर बसे थ।

प्रश्न—कोई कहते है कि यह लोग ईरान से आये इसी से इन लोगो का नाम आर्य हुआ। इनके पूव यहाँ जगली लोग बसते थे कि जिनको असुर और राक्षस कहते थे। आर्य लोग अपने को देवता बतलाते थे और उनका जब सग्राम हुआ उसका नाम देवासुर सग्राम कथाओ मे ठहराया।

उत्तर—यह सर्वथा झूठ है क्योकि " यह लिख चुके है कि आर्य नाम धार्मिक, विद्वान् आप्त पुरुषो का और इनसे विपरीत जनो का नाम दस्यु अर्थात् डाकू दुष्ट, अधार्मिक और अविद्वान् है। तथा ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य-द्विजो का नाम आर्य और शूद्र का नाम अनार्य अर्थात् अनाडी है। दूसरे विदेशियो के कपोल कल्पित को बुद्धिमान् लोग कभी नही मान सकते। किसी सस्कृत ग्रन्थ वा इतिहास मे नही लिखा कि आर्य लोग ईरान से आये और यहाँ के जगलियो को लडकर,जय पाके निकाल इस देश के राजा हुये। पुन विदेशियो का लेख माननीय कैसे हो सकता है। (स प्र ८ म सम०)

१० अर्थात् इक्ष्वाकु से लेकर कौरव पाण्डव तक सब भूगोल मे आर्यो का राज्य और वेदों का थोडा-थोडा प्रचार आर्यावर्त्त से भिन्न देशो मे भी रहता था। इससे यह

प्रमाण है कि ब्रह्मा का पुत्र विराट्, विराट् का मनु, मनु के मरीच्यादि दश और उनके स्वायम्भवादि सात राजा और उनके सन्तान इक्ष्वाकु आदि राजा जो आर्यावर्त्त के प्रथम राजा हुए जिन्होने यह आर्यावर्त्त बसाया। (स०प्र०८म स०)

११—जैसे यहाँ सुद्युम्न, भूरिद्युम्न, इन्द्रद्युम्न, कुवलयाश्व, यौवनाश्व, वद्ध्यश्व, अश्वपति, शशविन्दु, हरिश्चन्द्र, अम्बरीष, ननक्तु, मर्याति, ययाति, अनरण्य, अक्षसेन, मरुत्त और भरत सार्वभौम और सब भूमि मे प्रसिद्ध चक्रवर्ती राजावो के नाम लिखे हैं वैसे स्वायम्भवादि चक्रवर्ती राजावो के नाम स्पष्ट मनुस्मृति, महाभारतादि ग्रन्थो मे लिखे हैं। इसको मिथ्या करना अज्ञानी और पक्षपातियो का काम है।

१२—और श्रीमन्महाराजे स्वायम्भव मनु से लेके महाराज युधिष्ठिर पर्यन्त का इतिहास महाभारतादि मे लिखा ही है और इन्द्रप्रस्थ मे आर्य लोगो ने श्रीमन्महाराजे यशपाल पर्यन्त राज्य किया, जिनमे श्रीमन्महाराजे 'युधिष्ठिर' से महाराजे यशपाल तक वंश अर्थात् पीढी अनुमानत १२४ (एक सौ चौबीस) राजा, वर्ष ४१५७, मास ९, दिन १४ समय मे हुए है। इनका ब्योरा —
(स० प्र० ११ समु०)

सूचना—यह समय १९३९ विक्रम तक का है।

१३—यह निश्चय है कि जितनी विद्या और मत भूगोल मे फैले है वे सब आर्यावर्त्त देश से ही प्रचारित हुये है। देखो कि एक जैकालियट साहेब पैरस अर्थात् फ्रांस देश निवासी अपनी 'बाइबिल इन इण्डिया" मे लिखते है कि सब विद्या और भलाइयो का भण्डार आर्यावर्त्त देश है और सब विद्या तथा मत इसी देश से फैले हैं।[1]

१४—जब तक आर्यावर्त्त देश से शिक्षा नही गई थी तब तक मिश्र, यूनान और यूरोप देश आदिस्थ मनुष्यो मे कुछ भी विद्या नही हुई थी।

इन उपर्युक्त १४ सन्दर्भों से निम्न सिद्धान्त निकलते हैं जिनके आधार पर इतिहास का वास्तविक कलेवर समझा जा सकता है —

१—जगत् की उत्पत्ति केवल चार-छ सहस्र वर्षों के समय की ही प्राचीन नही है। इसको उत्पन्न हुये लगभग दो अरब वर्ष हो चुके हैं। अत छ सहस्र मे ही सृष्टि की प्राचीनता को समाप्त करने वाले इस आधार पर यदि कोई इतिहास-भित्ति या इतिहास सिद्धान्त बनाते है तो वह त्रुटिपूर्ण अधूरा है। वेद के प्रकाश का समय भी इसी प्रकार पुराना है।

---

1. It is now hardly to be contested that this source is to be found in India Thence in all probability the sacred teachings spread into Egypt found its way to ancient Persia and Chaldia permeated Hebrew race and crept in Greece and the south of Europe finally reaching China and even America
'Secret of Heart' by Matterlinck.

२—वेद ईश्वरीय ज्ञान है, उसका प्रकाश केवल भूमण्डल के लिये ही नहीं अपितु समस्त ब्रह्माण्ड के लिए है और किसी देशविशेष की भाषा मे न तो उसका प्रकाश हुआ है न उसमे किसी देश की भाषा के शब्द ही हैं और न वेद की भाषा से पूर्व कोई भाषा थी ही। वही सब भाषाओ का कारण है। अत अधूरे भाषा-विज्ञान के आधार पर यदि कोई सिद्धान्त इतिहास की खोज मे वेद की भाषा को लेकर बनाया जाता है तो वह सर्वथा मिथ्या कल्पना है।

३—व्यास ने वेदो का सकलन नही किया क्योकि ये वेद उनके पिता से पितामह तक पूर्व ही इस रूप मे विद्यमान थे और व्यास के पिता पराशर, दादा शक्ति, परदादा वसिष्ठ और उनके पूर्वज ब्रह्मा ने भी इन वेदो को पढा था। साथ ही ब्रह्मा से लेकर व्यास पर्यन्त की कुछ ऐतिहासिक कडियाँ भी इससे निश्चित हो जाती है।

४—ऋषि लोग वेदमत्रो के कर्त्ता नही—अर्थद्रष्टा हैं और वेद मत्रो मे किसी व्यक्ति का इतिहास नही है। ब्राह्मण ग्रन्थो मे प्रामाणिक इतिहास सामग्री विद्यमान है। अत ब्राह्मण ग्रथो की सामग्री का इतिहास मे प्रयोग न करके और वेद मे ऐतिहासिक सामग्री स्वीकार कर जो सिद्धान्त गढे जाते है वे निराधार हैं—क्योकि वेद मे ऐसी इतिहास सम्बन्धी कोई भी सामग्री उपलब्ध नही है।

५—ब्रह्मा से लेकर जैमिनिमुनि पर्यन्त वेद की अविच्छिन्न धारा चली आई है।

६—मनुष्य इस सृष्टि की आदि मे त्रिविष्टप मे उत्पन्न हुआ। प्रारम्भ मे आर्य नाम की केवलमात्र एक जाति थी। तिब्बत से वह कुछ काल बाद आकर आर्यावर्त्त मे बसी और उससे पूर्व यहा पर कोई भी नही था।

७—आर्य जाति मे ही धर्म से भ्रष्ट होकर दस्यु आदि बने। ये शब्द गुणवाचक हैं किसी आर्येतर मूलवासी जगली वा द्राविड नामधारी जाति के सूचक नही है। आर्य लोग ईरान से इस देश मे नही आये। यह केवल विदेशियो की मिथ्या कल्पना है और सस्कृत के विस्तृत साहित्य मे आर्यों के ईरान से आने के विषय का कोई भी उल्लेख नही मिलता है।

८—आर्यों के पूर्व यहाँ जगली, अथवा द्राविड वा अन्य कोई मूल निवासी इस देश मे नही थे और न इस देश का आर्यावर्त्त से पूर्व कोई अन्य नाम ही था। अत इस दिशा मे आदिवासी आदि जो कल्पनाये की गई हैं वे सर्वथा ही तथ्यहीन हैं।

९—इक्ष्वाकु से लेकर पाण्डव पर्यन्त अनेक चक्रवर्त्ती राजे हुये जिनका राज्य सपूर्ण धरा पर था। ब्रह्मा से लेकर इक्ष्वाकु पर्यन्त राजावो का इतिहास मिलता है। अत यह कहना कि ये प्रागैतिहासिक है अथवा इनका कोई इतिहास नही मिलता सर्वथा तथ्य-शून्य और व्यर्थ का है।

१०—महाभारत आदि ग्रन्थो मे इतिहास की प्रचुर सामग्री पाई जाती है। महाभारत आदि को मिथ्या कहना समझ से विद्रोह करना है।

११—महाराज स्वायम्भव मनु मे लेकर युधिष्ठिर पर्यन्त का इतिहास महाभारत आदि ग्रथो मे है और युधिष्ठिर से लेकर यशपाल तक का राज्यकाल वशावली मे पाया जाता है और युधिष्ठिर का शासन काल आज से पाँच सहस्र वर्ष पूर्व का है।

१२—धर्म और ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा भारत मे मिश्र और यूनान आदि को गई। भारत से पूर्व यहाँ तथा यूरोप आदि के लोग अशिक्षित अवस्था मे थे।

१३—इन समस्त सदर्भो के विचारन मे इस बात की भी पुष्टि हो जाती है कि भारत मे कोई युग ऐसा नही था जिसे प्रागैतिहासिक युग कहा जा सके। आर्यों ने अपने इतिहास को सदा से सुरक्षित रखा। किसी जाति के इतिहास मे कोई प्रागैतिहासिक युग होना भी नही है। इसी प्रकार कोई प्राग्वैदिक युग भी नही था। वेद से पूर्व कोई भाषा कोई धर्म अथवा कोई सस्कृति भूमण्डल पर नही थे। अत प्राग्वैदिक और प्रागैतिहासिक युग (Pre-vedic & Pre-historic Periods) केवल थोथी पाश्चात्य कल्पनाये है जो हम पर लाद दी गई है।

इन आधारभूत सिद्धान्तो को यहाँ पर दिखलाया गया। इनकी विशेष व्याख्या इनके अपने-अपने प्रसगो पर आवेगी। वस्तुत इन आधारो को लेकर इस पुस्तक मे इतिहास विषयक भ्रान्तियो का निराकरण किया जावेगा। यहाँ पर यह कह देना अनुचित न होगा कि समय-समय पर विदेशीय और एतद्देशीय विद्वानो द्वारा इनकी अपनी मानी हुई मन प्रसूत भ्रान्तियाँ दोहराई जाती रहती है। पुरानी बात को ही नया रूप दिया जाता रहता है। बहुत प्रकार के ग्रन्थ प्रतिवर्ष इन भ्रान्त धारणावो के दोहराने मे लिखे जाते रहते है। और इन्हे नवीन अनुसधान का नाम दिया जाता रहता है। भारतीय विद्याभवन बम्बई की तरफ से जार्ज एलेन ऐण्ड अनविन लिमिटेड लन्दन से वैदिक एज नाम की एक पुस्तक प्रकाशित की गई है। इसमे कई लेखको के लेखो का सग्रह है और इसके प्रधान-सपादक श्री आर सी मजूमदार महोदय है। श्री के एम मुन्शी ने इसकी प्रागौक्तिकी लिखी है। पुस्तक वस्तुत इतिहास-सम्बन्धी भ्रान्तियो की पुन सस्कृत एव शब्दान्तर से परिष्कृत निधि है। वैदिक एज (Vedic Age) मे वेद के सम्बन्ध मे जो धारणायें व्यक्त की गई हैं—सर्वथा ही निराधार हैं और यही स्थिति महाभारत आदि सम्बन्धी वर्णनो की है। प्रस्तुत पुस्तक मे वैदिक एज मे दिए तर्कों का खण्डन इस प्रकार कर दिया जाना अभिप्रेत है कि इससे इस सम्बन्धी सभी धारणावो का सदा के लिए निरास हो जावे और इतिहास का शुद्ध स्वरूप सामने आवे।

विकासवाद की असगतता—इतिहास के लेखक इतिहास का लेखन करते समय विकासवाद का पूरा उपयोग करते हैं। दुर्भाग्य से विद्या के सभी अगो पर

विकासवाद का प्रभाव है। इतिहास पर भी उसका प्रभाव होना ऐसी स्थिति मे स्वाभाविक है। यद्यपि योरुप मे अब यह वाद खण्डित हो चुका है फिर भी भारत मे अभी इसकी रेखा पीटी जा रही है और यह बराबर अपना स्थान बनाये हुए है। वैदिक एज के मुख्य विन्दुओ पर विचार करने मे पूर्व इस पर कुछ संक्षिप्त विचार यहाँ पर प्रस्तुत किया जाता है। इस वाद के प्रवर्त्तक महाशय डार्विन हैं। इस वाद का नाम विकासवाद (Evolution Theory) है। प्रथम तो यह त्रुटिपूर्ण है कि सृष्टि मे विकास (Evolution) का ही नियम काम कर रहा है। सृष्टि मे विकास के साथ ह्रास (Degeneration) का नियम भी चालू है। सृष्टि म कर्तृत्व उद्देश्य और समजसता का नियम देखा जाता है जो विकास मे सर्वथा असंभव है। सृष्टि मे अन्तिम उद्देश्य (Final purpose) देखा जाता है। यह विकासवाद के सर्वथा ही प्रतिकूल है। विकासवाद की सारी बाते ही विचार के विषय है परन्तु समस्त विवरण पर विचार करने से पृथक ही एक वृहत् पुस्तक तैयार हो जावेगा और वह विस्तार इस प्रस्तुत विषय के लिए उपयोगी भी नही हो सकेगा अत मूल सिद्धान्त पर ही विचार किया जाता है।

विकासवाद को संक्षेप म तीन भागो मे बाँटा जा सकता है। वे भाग सृष्टि-विकास (Cosmological evolution), जीवन-विकास (Biological evolution) और ज्ञान विकास (Intellectual evolution) के नाम से व्यवहृत किये जा सकते है। विकासवाद के सभी सिद्धान्त इन विभागो के अन्तर्गत आ जाते है। जहाँ तक सृष्टिविकास का सम्बन्ध है वह इस सृष्टि को देखने से सर्वथा ही निराधार ठहरता है। सृष्टि मे उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का क्रम प्रत्येक पदार्थ मे देखा जाता है। यह वस्तुत अवस्थाओ का परिवर्तन है परन्तु इसके अन्दर महान् उद्देश्य और नियम कार्य कर रहा है। उदाहरण के लिए हमारे शरीर मे कौमार्य, जरा और मरण की अवस्थाये आती हैं। कौमार्य से शरीर की वृद्धि होती है। परन्तु एक पूर्णता की अवस्था आ जाती है कि खाना-पानी सब सामान रहते हुए भी शरीर मे वृद्धि नही होती। बढना रुक जाता है और स्थिति आ जाती है। यह स्थिति भी भग होकर जरावस्था प्रारम्भ हो जाती है। बाद मे एक समय ऐसा आता है कि शरीर क्षीण होकर नष्ट हो जाता है। शरीर की अवस्थाओ का परिवर्तन भी वस्तुत उत्पत्ति, स्थिति और विनाश का ही क्रम है। परन्तु इसमे नियम भी है और उद्देश्य भी है। साथ ही साथ इसका होना इसलिए पाया जाता है कि हमारे अन्दर एक नित्य चेतन आत्मा कार्य कर रही है। जिस प्रकार अवस्था-परिवर्तन हमारी चेतन आत्मा के कारण है वैसे ही विश्व मे उत्पत्ति, स्थिति और परिवर्तन के लिए विश्वात्मा का अस्तित्व स्वीकार करना पडेगा। परन्तु विकासवाद इसको स्वीकार नही करता है। इसी लिए उसकी प्रक्रिया अधूरी है। इस अधूरेपन को देखकर वेद के परम अनुयायी वेदव्यास के शब्दो मे ही मनुष्य को बोलना पडेगा कि—"जन्माद्यस्य यत" वेदान्त १।१।१ अर्थात् जिससे इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होते हैं वही ब्रह्म है।

मौलिक समस्यायें (Fundamental Problems)—पुस्तक के लेखक ने एक सुन्दर विचार ससार मे दिखलाई पडने वाली योजना और रूपकरण का उपस्थित किया है। लेखक का कथन है कि चिकित्साशास्त्र[1] के निष्णातो के प्रमाण पर यह कहा जाता है कि मानव शरार मे छ सौ पेशियाँ हैं और सहस्र मील के आयत की रक्तवाहिनी धमनियें है। ५३० धमनियें हैं। अगर चमडी को फैलाया जावे तो सोलह वर्ग फीट के फैलाव तक फैल सकती है। इस शरीर मे १५ कोष मीठे ग्रन्थि पिण्ड के पाये जाते हैं जो यदि एक तल पर फैलाये जावे तो दस सहस्र वर्ग-फीट स्थान घेरेंगे और २०×१०० फीट की पाच नगरी लाट को ढँक सकेंगे। फेफडे ७० करोड मधुमाक्षिक कोष्ठको के बन है। श्वास लेते समय इनका फैलाव १००० समतल वर्गफीट के बराबर होता है। सत्तर वर्ष मे हृदय की धडकन २ अरब ५० करोड की सख्या मे होती है। यह इतने ही समय मे पाँच लाख टन रक्त को उठाता है। मस्तिष्क के नियन्त्रण मे रहने वाले नाडी-यन्त्र (Nervous system) मे ३० खरब नाडी-कोष्ठ है जिनमे से ९ अरब २० करोड केवल मस्तिष्क के ढक्कन मे ही निहित है। रक्त मे तीन करोड श्वेत रक्त-कण है और १८ नील रक्त-कण है। प्रत्येक दिन तीन पिन्ट लार-रस निगला जाता है। पाँच से लेकर १० क्वाट पाचक रस उदर प्रतिदिन पैदा करता है जो भोजन को पचाता है और कृमियो का नाश करता है। लेखक के इस उद्धरण के देने का तात्पर्य यह है कि यह सब विकास और अकस्मात का फल नहीं हो सकता है। लेखक ने इन बातो से यह सिद्ध किया है कि यह सब कुछ यह बतलाता है कि सृष्टिरचना मे ज्ञानपूर्वक योजना (Design & Purpose) है।

इसी पुस्तक मे विकास का खण्डन करते हुए रचना की ज्ञानपूर्विका कृति के पक्ष मे एक और भी लेख लेखक ने प्रस्तुत किया है। वह कहता है कि 'ससार मे सारी शक्ति का माप नही किया जा सकता है। यह सर्वशक्ति परमात्मा की शक्ति का एक भागमात्र है। यह शक्ति अनन्त है। सभी ताप को शक्ति मे परिवर्तित किया जा सकता है और शक्ति को ताप मे परिवर्तित किया जा सकता है। ताप जब शक्ति के रूप मे परिवर्तित किया जाता है तब शक्तिशाली इजनो को चलाता है। नियाग्रा की शक्ति को भी ताप और प्रकाश मे परिवर्तित किया जा सकता है। सूर्य नियाग्रा और उसी प्रकार झीलो के पानी को इसके प्रपात से भी अधिक ऊँचा उठा ले जाता है। यह बहुत बडा है। यह प्रतिदिन १० अरब टन पानी को बादलो पर पहुँचा देता है और यह मात्रा समुद्र मे गिरने वाली नदियों और धारावो के पानी से भी अधिक है इस सूर्य के तल का प्रत्येक वर्ग गज इतनी शक्ति रखता है कि समुद्र में यह एक बडे जहाज को चला सकता है और इसमे बहुत टन कोयलो से भी अधिक शक्ति है। सूर्य हमारी पृथिवी से लाखो गुना बडा है। सूर्य का तल जो २३ खरब

1. Fundamental Problems, by Rev A William D D Page 41

वर्ग मील के क्षेत्र के लगभग है, उसमें ताप की मात्रा की कल्पना करना भी कठिन है। एक वर्ग मील के ताप की मात्रा समुद्र पर तीस लाख जहाजो को चला सकेगी और यह मात्रा वर्तमान मे चलने वाले जहाजो और उनमे लगने वाली शक्तियों से १५० गुना अधिक है। पृथिवी पर जितना ताप आता है उससे दो अरब बाईस करोड़ गुना से भी अधिक ताप आकाश मे बिखरता है। ताप की यह बडी मात्रा छोटे बड़े ४० करोड सूर्यों के ताप का एक लघुतम भाग है। बैटलगाइज नाम का नक्षत्र जो कि अभी जाना गया है वह एक्कीस करोड पचास लाख मील के व्यास का है। अन्टारेस नाम का नक्षत्र इससे भी बडा है और उसका ३६ करोड़ मील का व्यास है और इसमे लगभग पौने चौदह नील से कुछ कम पृथ्वी समा सकती है। अल्फा और हरक्यूलस ३० करोड मील व्यास के है। ऐसे भी नक्षत्र है जिनका प्रकाश एक लाख छियासी हजार मील प्रति सैकण्ड के हिसाब से फैलकर साठ हजार वर्षों मे हम तक पहुँचता है। कई लोग चालीस करोड सूर्यों का परिगणन करते है। इस महान् ब्रह्माण्ड का नियन्त्रित करने और आकर्षण मे कितनी शक्ति लगती है और साथ ही प्रकाश और गर्मी मे कितनी शक्ति लगती है—क्या इसकी कोई कल्पना कर सकता है। यह परमात्मा की अनन्त शक्ति की एक अत्यन्त छोटी मात्रा है। विश्व म जितनी शक्ति कार्य मे लग रही है वह अपने आप नही पैदा होती है बल्कि परमेश्वर उसे पैदा करता है। यह विकास का परिणाम नही है।[1]" लेखक ने यहाँ पर उस तथ्य का उद्घाटन कर दिया है जो ऋग्वेद १०।१९० सूक्त के प्रथम मत्र मे ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसो ऽध्यजायत्—अर्थात् ऋत और सत्य को परमेश्वर ने अपने सर्वतो व्याप्त ताप शक्ति से उत्पन्न किया है।

यह आकाश मे जो आकाशगगा दिखलाई पडती है इसे ब्रह्माण्ड का व्यास कहा जाता है। इतना बडा यह ब्रह्माण्ड है, इसकी रचना विकासवाद के आधार पर किस प्रकार सभव है। अत जगत् मे विकास के साथ ह्रास देखे जाने से और नियम, योजना तथा अन्तिम उद्देश्य देखे जाने मे स्वीकार करना पडता है कि यह किसी सर्वज्ञ की ज्ञानपूर्वा कृति है—यह विकास का फल नही है। जिस नियम मे विश्व चलता है उसे ऋत कहा जाता है और उसका पालक होने से परमेश्वर 'ऋतस्य-गोपा'[2] है। इस प्रसग मे एक प्रश्न और भी उपस्थित होता है कि विकास के प्रारभ होने के पूर्व प्रकृति (Matter) गतिसस्कार (Evolutionary movements) मे थी अथवा स्थिर सस्कार (Unevolutionary stage or inertia) की अवस्था मे थी। यदि प्रथम पक्ष को माना जावे तो प्रश्न खडा होगा कि सृष्टि तो उपस्थित थी फिर उसकी उत्पत्ति के लिए विकासवाद के भव्य भवन बनाने की आवश्यकता ही क्या है। यदि द्वितीय पक्ष माने तो प्रश्न यह खडा होगा कि विना किसी अन्य कारण के प्रकृति में विकास प्रारभ ही कैसे हुआ। सृष्टिविकासपक्षीय इसका समाधान नही कर सकते।

1 Fundamental Problems, Page 48-49

2 ऋग्वेद ६।७३।८

साथ ही एक नियम सृष्टि मे देखा जाता है कि वह 'याथातथ्य'[1] और 'यथापूर्व'[2] के आधार पर चल रही है। प्रथम आधार यह बतलाता है कि सृष्टि की प्रत्येक वस्तु जैसी बन मकती है और बननी चाहिए वैसी ही बनाई गई है—क्योकि इससे विपरीत कोई बना नही सकता है। जिस प्रकार के सूर्य आदि पदार्थ अपने गुण धर्मों से विद्यमान है उनसे विपरीत बनाए नही जा सकते है। अगर मनुष्य की आँखे नाक के ऊपर नासास्थि के दाये बाये ही स्थिति पाती है तो इसके विपरीत इनकी स्थिति कोई भी नही कर सकता है। यही स्थिति सृष्टि के समस्त रचना की है। दूसरा आधार 'यथापूर्व' का है। इसके अनुसार पूर्व के प्रत्येक कल्प मे सूर्य आदि पदार्थ जिस रूप मे थे वैसे ही इस कल्प मे भी है। मनुष्य से मनुष्य और बन्दर से बन्दर पहले भी उत्पन्न होते थे अब भी उसी प्रकार उत्पन्न होते है। इस नियम का कोई व्यतिक्रम नही देखा जाता है। मनुष्य की पीढी पर पीढी और बन्दर के वंशक्रम मे यह नियम अटूट चल रहा है। विकासवाद इसका विरोधी है और इस आधार पर स्वय कट जाता है। क्योकि विकास मे याथातथ्य और यथापूर्व के क्रम का कोई नियम नही बन पाता अत यह स्वीकार करना पड़ेगा कि सृष्टिविकास का यह नियम न तो वैज्ञानिक है और न दार्शनिक है।

दूसरा विकासवाद का विभाग 'जीवन विकास' (Biological Evolution) से सम्बन्ध रखता है। यह भी अनर्गल, निःसार, असम्भव और अवैज्ञानिक है। इस जीवनविकास की प्रक्रिया मे विकासवाद के प्रणेता श्री डार्विन महोदय ने एक अणुक कीट अमीवा से लेकर जलचर, स्थलचर नभश्चर तथा सृष्टिकुल-चूडामणि मानव का बन्दर से विकसित होना बतलाते हुए कई कडियाँ दिखलाई हैं। कई कडिया उनकी अनुसूची म टूटती भी हैं और टूटी कडी (Lost Link) कही जाती है। इस प्रक्रिया मे इस बात का कोई भी समाधान नही दिया जाता कि इच्छा द्वेष, प्रयत्न, सुख दुःख, और ज्ञान लिंगो से जानी जाने वाली चेतना किस प्रकार जड एव चेतनाशून्य प्रकृति से अमीवा मे प्रकट हुई और मनुष्य तक बराबर पल्लवित हो रही है। दार्शनिक दृष्टि से एक विचार यह रखा जाता है कि समस्त जड और चेतन सृष्टि एकमात्र चेतन तत्व से उत्पन्न हुई है। भौतिकवादी इसमे यह दोष दिखलाते है कि चेतन से जड का उत्पन्न होना सभव नही। चेतनक-तत्ववादी कहते है कि जड से चेतन की उत्पत्ति भी इसी तर्क के आधार पर असभव है अत दोनो विचार अपने आप कट जाते है और चेतन और जड की पृथक्-पृथक् सत्ता स्वय सिद्ध हो जाती है।

सृष्टि म एक यह भी नियम देखा जाता है कि भोग पहले उत्पन्न होता है और भोक्ता उसके पश्चात्। कई ऐसे जीव हैं जो नर के भोक्ता है तो उनका विकास तो

---

1 याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात्। यजु ४०।८
2 यथापूर्वमकल्पयत्। ऋग्वेद १०।१९०।३

मनुष्य के पश्चात् ही हुआ होगा। फिर विकास का अन्तिम प्राणी मनुष्य है—यह सिद्धांत अपने आप कट जाता है। विकासवाद पर एक प्रश्न ऐसा भी उठता है कि यदि विकास का नियम ही प्रकृति मे चल रहा है तो मनुष्य पर जाकर यह विकास रुक क्यो गया और इसके आगे कोई विकास क्यो नही हुआ। अन्यथा कहना पडेगा कि सृष्टि मे विकास का नियम नही है।

पाश्चात्य विद्वानो[1] ने भी इस जीवनसम्बन्धी विकास का उपहास किया है और इसे असम्भव ही बतलाया है। उनके आधार पर निम्न धारणाये प्रस्तुत की जाती हैं जिनके आधार पर जीवन-विकास का नियम खण्डित हो जाता है —

१—मनुष्य के आदि पितर मूर्ख पशु थे और वानरो वाला जीवन व्यतीत करते थे केवल कल्पनामात्र हो सकता है—वैज्ञानिक सिद्धान्त नही।

२—यह किस प्रकार स्वीकार किया जा सकता है कि स्वाभाविक स्पर्धा (Competition) और बली ही उत्तरजीवी रहता है (Struggle for existence and Survival of the fittest) का नियम योनियो के विकास मे कार्य कर रहा है जबकि छोटी-छोटी वनस्पति पुराने किलो की दीवार तथा समुद्र के एकान्त किनारो पर अकेली ही उगी हुई पाई जाती है। वहाँ पर वह किससे स्पर्धा करके जीवित हो रही है।

३—जो यह कहा जाता है कि एक अत्यन्त साधारण मछली से रूपान्तर होते हुए नाना शरीर प्रकट हो गये—यह सर्वथा ठीक नही क्योकि आजकल उस लोथडा रूपी मछली की सन्तान वैसा ही लोथडा होती है।[2] यह किसी भी प्रकार सम्भव नही कि वह मछली होमर, अफलातून, डेविड, पाल और शेक्सपियर की पितृ हो सकती है।

४—सृष्टिकर्त्ता की सत्ता को मानता हुआ कोई भी बुद्धिमान् यह किसी भी अवस्था मे नही स्वीकार कर सकता है कि वनस्पति अथवा पशुओ की उपजातियाँ शून्य से प्रादुर्भूत हुई है।

५—यह कथन तब स्वीकार करने योग्य हो सकता है जब यह दिखला दिया जावे कि चिडिया छुपकली के अण्डे से उत्पन्न होती है[3]।

1 Natural Selection and Natural Theology' A criticism by Eustace R Conder D. D

2 Now a days unhappily Jelly fish produces nothing but jelly fish But had that gelatious morsel been fated to live say a million of centuries earlier it might have been the progenitor of the race from which Homer and Plato, David and Paul, Shakespear and our eminent professor have in their order been evolved (Conder's Natural Selection and Natural Theology)

3. If it could be shown that the thrush was hatched from the lizard (Conder's same book)

६—यदि प्रकृति पूर्वकाल मे इस वेग से एक व्यक्ति को विकृत करने से भिन्न भिन्न शरीर उत्पन्न करने के योग्य[1] थी तो उस वेग से अब क्यों नही कार्य करती ? यदि वर्तमान काल मे नवीन शरीर किसी शरीर से विकृत होकर उत्पन्न नहीं होते तो कुछ ऐसे विकार के नमूने ही दिखला दो जिससे अनुमान तो किया जा सके ।

यहाँ पर ऊपर की पक्तियो मे महाशय कोडर का विचार दिखलाया गया। डार्विन का भिन्न-भिन्न जातियो के विकास का सिद्धान्त कितना लचर है इनके विचारो से भली-भाति प्रकट हो गया । विकास-वादियो को एक महती समस्या का भी समाधान करना होगा और वह यह कि अब मनुष्य के पश्चात् किस जाति का विकास होगा ? यह ऐसा प्रश्न है कि जिसका उत्तर उनसे हो ही नही सकता है ।

जीवनविकास के क्रम मे अमीबा प्रथम प्राणी माना जाता है । यहाँ पर प्रश्न यह उठता है कि 'अमीबा' को उत्पन्न करने के पूर्व इसी प्रकार का विकास नियम था अथवा नही । यदि नही था तो अमीबा उत्पन्न कैसे हुआ । वह विना विकास के ही कैसे उत्पन्न हुआ । यदि विना विकास के उत्पन्न हुआ तो फिर विकास का मानना ही व्यर्थ है । यदि विकास इसी प्रकार हुआ तो उसके पूर्व का चतन बतलाना पडेगा जिसमे उसका विकास हुआ ।

इसी जीवनविकास के प्रसग मे अगो के विकास का भी प्रश्न आता है । डार्विन महोदय कहते है कि जिन अगो की आवश्यकता नही रही वे भड गए वा नष्ट हो गए और जिनकी आवश्यकता थी वे उत्पन्न हुए । इनके उत्पत्ति की मीमासा मे वह यह स्वीकार करता है कि निकम्मेपन और प्राकृतिक-निर्वाचन (Natural Selection) के नियम से ऐसा हो जाता है । पूछना है कि आदमी की पूँछ की आवश्यकता नही थी अत पूछ निकम्मी पडके नष्ट हो गई परन्तु गर्मियो मे पखे की आवश्यकता तो बनी हुई है फिर वह भी एक अग के रूप मे क्यो नही प्राकृतिक चुनाव के आधार पर विकसित हो जाता है ।

विकासवाद के अनुसार जीवविकास सिद्धान्त के अन्तर्गत जातियो के परिवर्तन के नियम मे क्या बाधाये है, इसको दिखलाते हुए श्री महाशय स्ट्रेज अपनी पुस्तक "The Development of Creation on the Earth' मे कुछ विशेष बातें लिखते है जिनको यहाँ पर उद्धत किया जाता है —

---

1 If the nature has worked in the past so energetically as to evolve all existing species the same process ought to be taking place now, evolving before eves, if not new species at all events modification stending to produce new species It is ridiculous to say that the process goes on too slowly for us to detect it Does it go at all ?

१—जल-क्रिमियो की दशा में देखा जाता है कि बहुत प्रकार के भिन्न-भिन्न स्वरूप के जन्तु प्रतिदिन उत्पन्न होते रहते हैं परन्तु यह आवश्यक नही कि एक ही से विकृत होकर उत्पन्न हुए हो, प्रत्युत एक समय मे विभिन्न शरीरो में एक दूसरे की अपेक्षा रहित होकर उत्पन्न होते हैं।

२ – पृथिवी के नाना स्थलो पर जो विशेष देश सम्बन्धी वनस्पति और जन्तु पाये जाते है वे भिन्न-भिन्न स्वरूपो मे विभक्त है और जातियो की पृथक्-पृथक् उत्पत्ति को प्रकट करते हैं—एक शरीर से विकृत होकर उत्पन्न होने को नही दर्शाते।

३—योनियो के भेद को डार्विन ने सकरीकरण (Hybrid) के आधार पर मिटाने की कोशिश की है परन्तु बन्ध्याकरण[1] का नियम सदैव दो भिन्न-भिन्न जातियो के मेल मे भारी विघ्न डालता हुआ नाना जातियो (योनियो) को पृथक्-पृथक् दिखला रहा है।

४ जाति[2] रचना मे विशेष अन्तर रखने अथवा घृणा के कारण भिन्न-भिन्न जातियो के प्राणी एक दूसरे से समागम नही करते, यदि कभी वह समागम करके सतान उत्पन्न करे तो वह सन्तान बाझ हो जाती है। (आगे सन्तान उत्पन्न करने मे असमर्थ होती है)

५ - यह वस्तुत बहुत ही विचारणीय अनुसधान है कि किस प्रकार सीप मोर पक्षी के रूप मे आगई अथवा एक मच्छर (Midget) वा मक्खी ने हाथी का रूप धारण कर लिया। नि सन्देह यह बात समझ मे नही आती कि कैसे चक्षु अग जोकि एक महान् विचित्र रचना है, स्वय उत्क्रान्ति के नियम पर चल कर बन गया है।

६—विकास की दशा मे डार्विन महोदय के दिखलाये दृष्टान्त से सिद्ध हो जाता है कि ह्रास भी हो जाता है। Axidian जलचर अथवा केकडे का डार्विन महोदय स्वय दृष्टान्त देते है। उसकी प्रारभ की स्थिति गतिमान स्वतन्त्र प्राणी की थी और अन्तिम दशा वनस्पति समान अथवा पहाड मे अटके रहने वाले बहुभुजधारी कीट (Polype) की माननी पडती है।

---

1 He wish us to disallow any real distinction between varieties and species while the laws of hybridism ever place an effective barrier between violent inter-mixture, thus marking the distinctiveness of species

2 Either from the want of adoptation or from the aversion, the species do not cross with one another or if they do and have a progeny it is unfertile The Development of Creation on the Earth —by Thomas Lumisden Strange

७—विशाल ओक जो अपनी शाखाओं को नभोमण्डल में विस्तीर्ण कर रहा है किस प्रकार घटकर एक जलचर बन गया, यह बात बुद्धि में नहीं आ सकती है।

इन विचारों को यहां पर प्रस्तुत करके यह दिखाया गया कि जीवन-विकास की कल्पना भी असम्भव है। इस विचारधारा वालों से यह भी प्रष्टव्य है कि बिना अस्थि वालों से अस्थि वाले, बिना बाल वालों से बाल वाले, और बिना आँख वालों से आँख वालों का विकास किस प्रकार हुआ। कछुए के पीठ पर लाखों प्रयत्न करके कोई भी व्यक्ति एक बाल नहीं उगा सकता है फिर उसमें पानी और स्थल दोनों में स्वाद लेने वाली भैंस और हाथी जैसे बाल वाले पशु किस प्रकार पैदा हो गये। साथ ही यदि विकास का नियम संसार में कार्य कर रहा है तो फिर आंख वालों से अन्धे किस प्रकार उत्पन्न हुए तथा इन्द्रियवान् प्राणियों से इन्द्रिय-दोष किस प्रकार उनके विकास के प्राणी में आगए।

थोड़ी देर के लिए एक कल्पना कीजिए कि आकाशबेल विकास के नियमानुसार केंचुवे में परिवर्तित हो गई और केंचुवा इन्द्र-गोप और कनखजूरे के रूप में परिणत हुआ। प्रश्न यह उठता है कि बिना पैरवाले केंचुवे में यह सैंकड़ों पैर वाला कनखजूरा कैसे बन गया। यदि आवश्यकतानुसार यह पैर बन गए तो फिर सारे शरीर में पैर ही पैर क्यों नहीं बने।

किसी बिना सींग वाले प्राणी को दूसरों से मत्था मार कर अपनी रक्षा करते-करते मल एकट्ठा होकर शिर पर सींग निकल आये। परन्तु वे सींग दो ही अथवा एक ही क्या निकले सारे शरीर में सींग ही सींग क्यों नहीं हो गये। यह भी प्रश्न उठता है कि आगे जो सींग वाले उत्पन्न हुये वे इसी प्राकृतिक चुनाव के नियम से क्यों नहीं हुए। उनका उत्पत्ति-क्रम क्यों चालू हो गया।

एक भिन्न जाति से दूसरी भिन्न जाति तक जो मध्यवर्ती स्वरूप होने चाहिएँ वह कहीं उपलब्ध नहीं होते और उनके भग्नावशेष भी नहीं पाये जाते हैं, फिर विकास के इस आधार को मानने का औचित्य क्या है। जब सब के सब मध्यवर्ती स्वरूप नाश को ही प्राप्त हो गये तो फिर यह बन्दर और मनुष्य के निकटवर्ती वनमानस का विनाश क्यों नहीं हुआ। मनुष्य और बन्दर का निकटवर्ती वनमानस है और प्रथम रूप केकड़ा है कितनी अनर्गल बात है। केकड़े में बाल आदि का सर्वथा ही अभाव है फिर बालों से व्याप्त शरीर वाला बन्दर किस प्रकार उत्पन्न हो गया - इसका कोई समाधान नहीं है।

यदि परिस्थिति और प्राकृतिक निर्वाचन को ही जातियों के आकार परिवर्तन आदि का कारण माना जावे तो फिर इस बात का क्या समाधान है कि हाथी और हथिनी एक ही परिस्थिति में होते हुए भी हथिनी के दांत हाथी की ही तरह के नहीं होते। मोर के पूंछ और मयूरी की वैसी नहीं है। मुर्ग को चूड़ा है परन्तु मुर्गी को वह चूड़ा प्राप्त नहीं है। जब नर और मादे दोनों ही एक परिस्थिति में हैं

तो यह भेद क्यो है ? प्राकृतिक और वैज्ञानिक नियम का अध्ययन कर भारतीय शास्त्रकार यह कहते हैं कि केश[1], लोम, दाढी, मूँछ, नख, दन्त, शिरा, स्नायु, धमनी और वीर्य–ये पिता के अश मे बालक मे आते है । इसी कारण से स्त्री आदि को मूँछ और दाढी नही होती है । आयुर्वेद के[2] कर्त्ता यह कहते हैं कि यदि दो स्त्रियें आपस मे मैथुन करने मे सफल हो जावे और गर्भ हो जावे तो वह बिना अस्थि का होगा । यदि आवश्यकता और अनावश्यकता ही अगो के विकास और ह्रास मे कारण है तो फिर घोडे और मनुष्य को स्तनों की क्या आवश्यकता थी । अत यही स्वीकार करना पडेगा की योनियो का नियम ही जातियो मे अक्षुण्ण है । इस प्रकार जीवन-विकास भी असभव ही ठहरता है ।

अब तीसरे विकास ज्ञान-विकास को लिया जाता है । यह भी विचार-सगत नही है । ज्ञान का नियम ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की त्रिपुटी पर आधारित है । भाषा और ज्ञान का विकास नही होता है बल्कि इनकी प्रेरणा सृष्टिकर्त्ता परमेश्वर से प्राप्त होती है । यद्यपि जीव मे ज्ञान गुण स्वाभाविक है परन्तु उसके विकास के लिए नैमित्तिक ज्ञान की आवश्यकता अवश्य है – अन्यथा बिना पढाय लिखाये ज्ञान का विकास हो जाना चाहिए था जो होता नही । अनेको जगली जातियाँ दुनिया मे अभी भी जगली अवस्था मे पडी है यदि ज्ञान विकास का नियम ससार मे कार्य करता है तो इन्हे जगली नही रहना चाहिए था । असुर बानापाल लेयार्ड और अकबर के परीक्षणो ने जो छोटे बालको पर किये गये थे यह सिद्ध करते है कि ज्ञान का अपने आप विकास नही होता है ।[3]

विद्वानो का यह विचार है कि सूक्ष्म कलाये[4] सगीत, चित्रकला आदि विकास के परिणाम नही है । पहले के लोग जिन बातो को जानते थे आज उनके वशज लोग उसको भूल गये है । चीनी लोग पहले गन पाउडर (बारूद) को काम मे लाते थे । वे समुद्री ध्रुवदर्शक सूई को भी काम मे लाते थे परन्तु मध्य मे यही बात चीनियो को मालूम नही थी । मिश्र मे जब बडी-बडी मीनारे बनी थी तब रेखा-गणित भी उच्चकोटि की थी परन्तु पश्चाद्वर्त्ती काल मे वह बात नही पायी जाती है ।[5]

क्रमिक ज्ञान-विकास का नियम यदि ठीक है तो पतिङ्गे पर यह क्यो नहीं घटता है । पतिङ्गा बार-बार रोशनी पर आता है आग की गर्मी का अनुभव करता है । परन्तु फिर भी आकर जल जाता है । यदि ज्ञान का विकास क्रमिक है तो फिर

1 सुश्रुत अध्याय ३
2 सुश्रुत अध्याय ३
3 मेरी पुस्तक वैदिक-ज्योति का प्रथम और द्वितीय विषय देखें ।
4 Life and Matter, by Sir O. Lodge, Page 143
5 Jones Bowson s article in New Age, November 1922.

उसे छूट जाना चाहिए था। परन्तु छूटता नही और मर जाता है। ज्ञान-विकास नियम यदि सत्य है तो फिर पढाने लिखाने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। परन्तु इस वस्तु को कोई समझदार आदमी स्वीकार नही कर सकता है कि पढ़ाना लिखाना ठीक नही। जिस अवस्था को जगली अवस्था कहा जाता है उसमे भी लोगो को ऐसी वस्तुवें मालूम थी जो आज लोगो को नही मालूम है। अथवा ऐसी भी बाते जो आज मालूम है पूर्व भी मालूम थी।

अमेरिका मे (नेवदा स्थान) मे एक जूते का फोसिल[1] मिला है जो बीस लाख वर्ष पूर्व का माना जाता है और यह सिलाई यन्त्र से हुई मानी जाती है। मिश्र मे Tut-Ankh-Amen राजा की कब्र निकली है जिसे चार सहस्र वर्ष पुरानी माना जाता है। इसकी दीवारो पर अपूर्व चित्रकारी है। यह कबर भूमि मे इतने नीचे है कि यहाँ सूर्य की किरणे नही पहुँच सकती है। आज के वैज्ञानिको को कोई ऐसा तेल ज्ञात नही कि जिसके लगाने से चित्र काले न पडे। अत इनको मानना पडा कि प्राचीन मिश्र के लोगो को रेडियम के प्रकाश का ज्ञान था अथवा कोई ऐसा तेल मालूम था जिसके जलाने से चित्र काले नही होते थे। यह भी अब ज्ञात हुआ है कि बेबीलानिया मे ३००० वर्ष पूर्व डाकखाना था। चिट्ठीरसा लोग ईटो की चिट्ठियाँ लेकर बाँटने जाया करते थे। सहस्रो वर्ष पूर्व प्राचीन अमेरिका मे ६१, ६१ फुट लम्बे कई सौ मनो के पत्थर बनते थे और ऐसे-ऐसे पत्थर पर्वत शिखरो पर ले जाये जाया करते थे। परन्तु आज ऐसे पत्थर नही बनाये जा सकते है—न बनते है।

लोवी (Lowie) महाशय अपनी पुस्तक मे लिखते है कि यह[2] कहना ठीक नही कि सामाजिक जीवन असभ्यता की अवस्था से उन्नत होकर सभ्यता की अवस्था तक पहुँचा है। उत्तरोत्तर उन्नति के विकास का सिद्धान्त अब बहुत देर तक नही ठहर सकता है। प्राचीन भारत के लोगो को सूर्यकान्त और चन्द्रकान्त—दो प्रकार के मणियो का परिज्ञान था। सूर्यकान्त का पता तो आजकल के पश्चिमी विद्वानो को भी है। परन्तु चन्द्रकान्त का परिज्ञान अभी तक नही हो पाया है। सुश्रुत ग्रन्थ आयुर्वेद का प्राचीन ग्रन्थ है इसमे चन्द्रकान्त[3] मणि को चन्द्रमा मे रखने पर जो जल पैदा होता है उसके गुणो का वर्णन है। वर्णन करते हुए ऋषि कहता है कि यह कीटाणुवो का नाश करने वाला है, शीतल, आह्लाददायक, ज्वरनाशक, दाह और विष को शान्त करने वाला है। इस मणि का वर्णन चम्पू रामायण

1 देखो मेरा पुस्तक शिक्षणतरङ्गिणी (मानव के उदय का इतिवृत्त) तथा आचार्य रामदेवकृत भारतवर्ष के इतिहास द्वितीयावृत्ति की भूमिका।

2. Primitive Society, by Lowie, Page 440

3. रक्षोघ्न शीतल ह्लादि ज्वरदाहविषापहम्। चन्द्रकान्तोद्भव वारि पित्तघ्न विमल स्मृतम्॥ सुश्रुत सूत्रस्थान ४५/३७

अयोध्याकाण्ड मे भी मिलता[1] है। अन्य ग्रन्थो[2] मे भी इसका वर्णन मिलता है। फैजी कृत आईन अकबरी[3] मे भी लिखा है कि एक चन्द्रकान्त-मणि है जिसे चन्द्रमा के समक्ष रखने पर उसमे पानी गिरता है। इससे ज्ञात है कि यह मणि फैजी के समय मे भी था। परन्तु आजतक पश्चिमी विद्वानो को इसका परिज्ञान नही है। यदि ज्ञान-विकास का नियम ठीक है तो ऐसा क्यो है।

इस प्रकार यह सक्षेप मे दिखलाया गया कि ज्ञान-विकास का भी नियम असगत और अनर्गल है। तीनो प्रकार के विकास-सिद्धान्तो के असिद्ध हो जाने से विकासवाद इतिहास का आधार नही बनाया जा सकता है। वस्तुत यह दार्शनिक सिद्धान्त नही—केवल मन प्रसूत कोरी कल्पना है।

1 एष मृगाङ्कोपि निजोपलमयकलशमुखात्।
अच्छाच्छामविच्छिन्नधारां निजकराभिमर्शात् आप वमन्॥

अयोध्याकांड २३

2 उत्तररामचरित ६/१२; शिशुपाल बध, ४।५८; अमरूशतक ५७; भर्तृहरिश० १।२१; मालतीमाधव १।२४, अन्नभट्टकृत तर्कसग्रह दीपिका टीका।

3 There is also a shining stone called Chandra Kant which being exposed to the moon's beams drops water

page 10, आईन अकबर English Translation

अध्याय २

'वैदिक एज' के निर्णीत परिणाम भी अनिर्णीत और संशयग्रस्त हैं

वैदिक एज के लेखक ने अपनी पुस्तक मे जिन पाश्चात्य मान्यतावो को आधार बनाकर अपनी कल्पना का भव्यभवन खडा किया है उनका तो खण्डन बाद मे यथा-स्थान किया ही जावेगा। परन्तु यहाँ पर यह दिखलाना आवश्यक है कि उक्त पुस्तक के लेखक ने जो परिणाम सिद्धान्तरूप मे निकाले हैं वे भी निश्चित और निर्णीत नही है।

किसी भी वाद को तब तक ज्ञान और निर्णीत ज्ञान का रूप नही दिया जा सकता जब तक वह सभावना (Possibility) और सभाव्यता (Probability) के क्रम से उत्तीर्ण होकर निश्चायकता (Certainty) की स्थिति मे नही पहुँच जाता है। सभावना की अवस्था मे 'वाद' को बहुत से तथ्यो से सम्बद्ध और सिद्ध हुआ होना पडता है। सम्भाव्यता मे उनसे भी अधिक तथ्यो से अनुप्राणित और परिमार्जित होना पडता है। जब 'वाद' सभी तथ्यो से सिद्ध होता है तब वह निश्चायकता की कोटि मे आ जाता है। जब तक इस अवस्था को कोई वाद प्राप्त नही कर लेता उसे ज्ञान एव वाद नही कहा जा सकता है। जो वाद अथवा ज्ञान किसी एक तथ्य से ही सम्बद्ध है उसे निर्णीत नही कहा जा सकता है और वह अस्वीकार करने योग्य ही ठहरता है। वैदिक एज पुस्तक के प्रत्येक निर्णय की यही स्थिति है। उसमे सशय, सभावना और वदतो-व्याघात पदे-पदे है अत वह सिद्धान्त की कोटि मे आता ही नही है। यहाँ पर कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं —

१ ऋग्वेद[1] के काल के विषय मे लगभग निश्चय की मात्रा मे भी ज्ञान नहीं है।

२ वैदिक[2] काल की कोई भी कृति निश्चित रूप से काल की दृष्टि से कूती नही जा सकती है।

३ केशिन[3] नाम की जाति सभवत पाचालो की ही शाखा थी।

---

1 The age of the Rigveda is not known with even an approximate degree of certainty —Vedic Age P 194

2 Not a single work of the Vedic period can be accurately dated —Vedic Age Page 225.

3. They were probably a branch of the Panchalas Page 259

४. पुण्ड्र[1] लोग सभवतया बंगाल की एक आदिम जाति पुरो के पूर्वज हैं।

५ शबर[2] लोग सभवत शबरलू अथवा विजगापट्टम की पहाडी के शबर वा ग्वालियर भूमि के शबरी एव उडीसा के सीमान्त के जगली लोगो के पूर्वज है।

६ और भी[3] बहुत सी छोटी जातियाँ वैदिक मत्रो मे वर्णित हैं परन्तु उनके विषय मे हमे बहुत थोडा परिज्ञान है।

७ स्वभावत[4] ऋग्वेद ऐतिहासिक सामग्री के लिए अकिचन है।

८ किन्ही प्रमाणो[5] के अनुसार ज्ञात होता है कि भरत ने इस हमारे देश को अपना नाम दिया और तत्पश्चात् यह भारतवर्ष हुआ।

९ भार्गव[6] लोग, वशिष्ठजन और सभवत आंगिरस लोग सभवतया प्राचीन ब्राह्मण कुल मालूम पडते है।

१० यह[7] प्रकट करता है नर्मदा नदी और उन नागावो की भूमि की ओर आर्यों की सस्कृति के विस्तार को, जोकि सभवत मूल निवासी अथवा आदिमवासी थे।

११ सभवत[8] विश्वामित्र के पश्चात् अष्टक सिहासन पर बैठा।

१२ सभवत[9] भरत के शासन काल मे राजधानी प्रतिष्ठान से नगर को लेजाई गई थी। यह नाम उसके उत्तराधिकारी हस्तिन् के बाद हस्तिनापुर कहा जाने लगा।

---

1 Pundras are probably the ancestors of the puros an aboriginal caste in Bengal Page 260

2 The Sabras are probably ancestors of the Savarlu or Savias of the Vizagapattam hills, the Savaris of the Gwalior territory and the savages of the frontiers of Orrissa Page 260

3 There are Various other minor tribes mentioned in Vedic texts, but we know very little of them Page 260

4 Naturally it (The Rigveda) is poor in historical data Page 225

5 According to some accounts, Bharat gave his name to our country which was henceforth called Bharata Varsha P 292.

6 The Bhargavas, Vasisthas and probably Angiras as appear. to have been the earliest Brahmana families.—Vedic Age P 276

7 This shows the extension of Aryan Culture towards the river Narmada and the land of the Nagas who were probably aborigines or primitive peoples. Page8

8. Ashtaka probably succeeded Vishwamitra on the throne Page 285

9. It was probably during Bharat's regime that the headquarters of the state were shifted from Pratisthan to the city called later Hastinapur after his succeessor Hastin Page 292

१३ वैशाली[1] और विदिशा भी हैहयो द्वारा आक्रान्त किये गये थे, सभवत. विदिशा हैहयो के अधिकार मे थी ।

१४. अर्जुन[2] के कई लडके थे जिनमे जयध्वज मुख्य था और उसने अवन्ती मे शासन किया था । दूसरा पुत्र शूरसेन मथुरा से सम्बद्ध मालूम पडता है और तीसरा पुत्र शूर सभवत सुराष्ट्र से सम्बन्ध रखता था ।

१५. ऋग्वेद[3] आदिवासियो पर हुये आक्रमण का बार-बार हवाला देता है ये कृष्णत्वक् कहे जाते है अलकारिक रूप से । इन्द्र द्वारा हत दैत्य कुयवाक् सभवत दास्यव शत्रुवो के लिए है ।

१६ थोडे[4] समय के बाद अधिक बस्ती वाले द्रुहयु लोगो ने भारत की सीमा को पार किया और उत्तर मे म्लेच्छो के भूभाग मे बहुत सी राजधानियाँ बनाई और सभवत आर्यों की सभ्यता को भारत की सीमा के बाहर ले गए ।

१७ पुरु कुत्सि[5] मे जो पुरुकुत्स के सभवत छठी पीढी के वशज थे, कुशिक का पुत्र गाधि था । गाधि को इन्द्र का एक अवतार कहा जाता है जिसका सभवत तात्पर्य यह है कि उसकी वैकल्पिक उपाधि इन्द्र अथवा इसका एक पर्याय था ।

१८ अप्रत्यक्ष[6] और प्रत्यक्ष दोनो प्रकार के प्रमाण पाये जाते है कि मध्य भारत, उत्तर भारत, पश्चिमी भारत और सभवत पूर्वी भारत मे भी एक समय द्राविड भाषा अधिक फैली हुई थी ।

---

1 Vaishali and Vidisha also were attacked by the Haihavas and Vidisha probably was under Haihaya occupation Page 284

2 Arjuna had many sons of whom the chief was Jayadhvaja who reigned in Avanti Surasena, another son, appears to have been associated with Mathura, while Sura, the third son probably was connected with Surastra Page 283

३ The Rigveda repeatedly refers to the attacks on the aborigines They are called Krishna-twach (black skin) metaphorically, Kuyavach (evil speaking) a demon slain by Indra, probably personifies the barbarian opponents

—Vedic Age Page 261

4 After a time being over-populated Druhyus crossed the borders of India and founded many principalities in the Mleccha territories in the north and probably carried the Aryan Culture beyond the frontiers of India. Page 279

5. Kushika s son from Paurukutsi Purukutsa's descendant in about the sixth degree was Gadhi Gadhi is described as an incarnation of Indra which probably means that he had a alternative title such as Indra or one of his synonyms Page 285

6 There is evidence both indirect and direct that in Central India, in North India and in Western India possibly also in eastern India Dravidian was at one time fairly wide-spread Page 155

१९ अश्मक[1] से कई पीढियों पूर्व परशुराम हुए और इस कहानी का कोई आनुकालिक मूल्य नही है। सभवत यह कल्मशपाद के समय के पश्चात् के राज्यो की विच्छिन्न अवस्था का हवाला है जबकि उसके उत्तरवर्ती लोग कमजोर थे।

२० राम[2] ने विशाली, विदेह, काशी, कान्यकुब्ज और अयोध्या आदि विभिन्न राज्यो को लेकर एक सघ सघटित किया जो हैहयो से बहुत से युद्ध लडा। सभवत २१ बार क्षत्रियो का विनाश इन पर प्रकाश डालता है।

२१. मेसोपोटामियाँ[3] के जलप्लावन का समय सामान्यत ईस्वी से ३१०० वर्ष पूर्व माना जाता है। भारत का जलप्लावन भी सभवत उसी समय हुआ और यह ३१०२ वर्ष ईसा से पूर्व माना जाता है और कलियुग का प्रारभ भी इसी समय पर कल्पित किया गया है। हो सकता है कि यह उस घटना की स्मृति मे हो।

२२ हम[4] पूर्णतया निश्चित नही है कि हरप्पा और मोहनजोदारो नगर निर्माता जिनका आर्यों ने नि सदेह सामना किया था, द्राविड भाषा बोलते थे। परन्तु सभावना की ऐसी मात्रा है कि वे बोलते थे। जब तक शतश मुहरें जो वहाँ पायी गई है, उनके अक्षरो का पता नही चलता तब तक न यह सिद्ध किया जा सकता है और न असिद्ध।

---

1 But Parashu Ram flourished generations before Ashmaka, and the story has no chronological value Probably it refers to the disturbed state of the Kingdom after the days of Kalmashapada when his successors were weaklinges —Vedic Age Page 289

2 Rama organised a confiedarecy of various Kingdoms including Vishali, Videha, Kashi, Kanyakubja and Ayodhya which fought the Haihayas on various battle-fields These are probably referred to by the annihilation of the Kshatriyas twenty-one time Page 281

3 The flood in Messopotamia is generally held to have occurred about 3100 B C The flood in India probably occurred at the same time, and the date 3102 B C supposed to be beginning of the Kalki era, may therefore commemorate this event Page 270

4 We are not absolutely certain that the city-builders of Harappa and Mohenjodaro in South Punjab and Sind, whom the Aryans doubtless encountered spoke Dravidian, but there is a balance of probability that they did

This matter cannot be proved or disproved until we find the clue to the script in hundred of seals found in Harappa and Mohenjodaro and other sites Page 156.

२३ नभाग[1] से आने वाले नाभाग लोगो का स्थान अनिश्चित है। वे स्यात् गगा के दो-आबे के मध्य भूभाग मे रहते थे और इसमे सम्मिलित किया रथीतर को जहाँ से कि रथीतर लोग आए थे। ये क्षात्र-ब्राह्मण थे। नाभाग वश ने रीत्यात्मक इतिहास मे कोई सक्रिय भाग नही अदा किया और सभवत पूर्ववर्त्ती ऐल विजय के समय ये पलायन कर गए थे। धृष्ट से धार्ष्टक क्षत्रिय हुए जिन्होने सभवत पजाब मे वाहीक पर शासन किया। इनके सबन्ध मे और अधिक नही ज्ञात है।

२४. कहा[2] जाता है कि राजपूताना रेगिस्तान के रेत भरे सकरे समुद्र के पास अश्वराक्षस अथवा धुन्धु नाम के दैत्य पर कुवलाश्व ने उत्तङ्क नाम के ऋषि की रक्षा के लिए चढाई की। उसने असुरो के पुर और पुरियो का विनाश किया। यह गाथा सभवत यह बतलाती है कि कुवलाश्व ने पश्चिम और राजपूताना के दक्षिणी भाग मे असुर और आदिम वासियो को विजित किया और इन भागो मे आर्य सस्कृति का विस्तार किया।

इस प्रकार ऊपर के उद्धरणो मे देखा गया कि वैदिक एज की सभी स्थापनाओ मे सभाव्यता, सभवता और स्यात् की ही भरमार है। पहिले कहा जा चुका है कि जिन स्थापनावो एव वादो मे केवल सभावना ही हो वह सिद्धान्त नही—केवल कल्पनामात्र है। ऐसी अवस्था मे सारी विचारधारा ही निराधार हो जाती है। ऐसे भी उल्लेख इस पुस्तक मे पाये जाते है जिनको परस्पर विरोधी कहा जा सकता है। एक स्थान पर लिखा गया है कि ऐसे चिह्न मिलते है कि भारतीय इतिहास की दिशा

1 The location of the Nabhagas descended from Nabhaga is uncertain They probably reigned in the midlands of the Gangetic Doaba, and included Rathitara from whom came the Rathitaras who were Kshatriya Brahmanas The Nabhaga dynasty played practically no part in traditional history and probably disappeared under the early Aila Conquests.—From Dhrista came Dharstak Kshatriyas who probably ruled over Vahika in the Punjab Nothing further is known about them
— Vedic Age Page 272

2 Kuvalashva is said to have marched against an aswa Rakshasa or Daitya named Dhundhu near a shallow sand-filled sea in the Rajputana desert in order to rescue a sage named Uttanka He destroyed the subterranian quarters of the Asuras and put an end to his fiery home This legend probably suggests that Kuvalashva subjugated the Asuras and aboriginals to the west and in the southern parts of the Rajputana and spread Aryan culture in those lands Page 275

में पीछे नही थे। दूसरी तरफ इसके विपरीत भी लिखा गया है[1]। इस वैदिक एज पुस्तक के मूल्य को बढाने के लिए श्री मुन्शी[2] जी अपनी भूमिका मे लिखते हैं कि मुख्य सपादक ने वैज्ञानिक ऐतिह्यविदो के विचार बिन्दु दिये हैं। स्वय मजूमदार जी ने ही लिखा है कि भारतीय इतिहास के विद्यार्थियो को इस[3] गड्ढे मे न पडकर 'वैज्ञानिक' अनुसधान के अध्याय का वर्तमान तरीका अपनाना चाहिए। इनका यह वैज्ञानिक पद केवल यही अर्थ रखता है कि परम्पराप्राप्त महाभारत आदि का विरोध किया जावे, स्वदेशज देशाभिमान का विरोध किया जावे तथा देशभक्ति का विरोध किया जावे। लेखक महोदय इनको पूर्व-निश्चित धारणा (prejudice) कहते हैं। इससे रहित होकर जो इतिहास लिखा जायेगा वह वैज्ञानिक इतिहास कहलावेगा। वैदिक एज मे लेखक ने इन उपायो को वर्ता है अत वह वैज्ञानिक इतिहास है। वैदिक एज मे जबकि सभावना (Possibility) सभाव्यता (Probability) और वदतोव्याघात् (Contradictions) तथा स्यात् (Perhaps) के ही प्रयोग भरे पडे है तो भी इसके प्रशसक और सपादक इसे वैज्ञानिक कहते हैं, कितने आश्चर्य की बात है। यदि सभावना, सभाव्यता और विरोध एव शायद ही वैज्ञानिक प्रणाली के अनुसधान की देन है तो फिर भ्रम, सशय और व्याघात किसका नाम होगा। फिर तो इनके लिए और ही शब्द खोजने पडेगे और स्यात् इस कमी को इन लेखको का कल्पित, निराधार भाषा-विज्ञान पूरा कर देगा। ये कह पडेंगे कि पहले ये शब्द इसी वैज्ञानिक अर्थ मे ही बोले जाते थे।

ये यह भी कह सकेगे कि प्राग्वैदिक और प्रागैतिहासिक काल मे ये शब्द इसी वैज्ञानिक अर्थ के ही द्योतक थे। द्राविड भाषा इनको सभवत इसमे इनकी कल्पनानुसार सहायता भी दे दे। नही तो अज्ञात भाषा और इण्डोयोरोपियन भाषा मे से कोई न कोई आधार इन्हे मिल ही सकेगा। और नही तो इन्हे भी अन्य सभावनावो का विषय बना दिया जावेगा। कैसी विचित्र बात है। विज्ञान का भी यह उपहास ही करना है। इस पुस्तक मे वस्तुत इसी प्रकार का वैज्ञानिक अनुसधान भरा पडा है जो अपने-अपने प्रसग पर पाठको के समक्ष उपस्थित होगा। यहाँ पर दिङ्मात्र प्रदर्शन किया गया है। अगले प्रकरणो मे अन्य मान्यतावो पर विचार किया जावेगा और दिखलाया जावेगा कि इनमे कितनी सारासारता है। इतिहास में आज-

---

1 (a) There are indications that the ancient Indians did not lack in historical sense Page 47

(b) Lamentable paucity of historical talent in India. Page 50.

2 The general editor in his introduction has given the point of view of the scientific historian Page 7

3. The student of Indian history must avoid those pitfalls and follow the modern method of Scientific researches Page 40

कज जिन स्रोतो को ये लोग स्वीकार करते है और जिन युगो की कल्पना व रते हैं वे भी इसी प्रकार की रेत की नीव पर आधारित है ।

१ **समयाकलन की परिपाटी**— विदेशियो ने जहाँ इतिहास सम्बन्धी अनेक कल्पित मान्यतावो को अपने निश्चित उद्देश्य की पूर्ति मे भारतीयो पर लादा वहाँ काल के आकलन की भी एक मान्यता दी जो भारतीयो को अब किसी भी स्थिति मे ग्रहण नही करना चाहिए । परन्तु अभी तक वही पुरानी लकीर पीटी जा रही है । 'वैदिक एज' के लेखक ने भी उसी का आश्रयण किया है । वह यह मान्यता है कि किसी के काल को बताते समय ईसा के जन्म के पूर्व (B C) तथा ईसा की मृत्यु के बाद (A D) का प्रयोग ऐतिहासिकजन करते है । अग्रेजो का भारत पर आधिपत्य था । उस समय विदेशी विद्वानो ने यह कल्पना हम पर लादी । परन्तु अब तो इसका पिण्ड छोडना चाहिए था । ईसा का अपने भारतीय इतिहास से सम्बन्ध ही क्या है कि प्रत्येक काल की माप मे उनका ही मानदण्ड माना जावे । विदेशी विद्वानो ने तो यह कल्पना इसलिए खडी की थी कि सृष्टि की उत्पत्ति का काल छ से दस सहस्र वर्षो तक मे ही समाप्त कर दिया जावे और उनका इतिहास ईस्वी सन् वा ईसा से पूर्व जाता नही । साथ ही वे यह भी धारणा रखते थे कि किसी भी अवस्था मे भारत का इतिहास इससे बहुत पूर्व समय का न सिद्ध हो जावे । मिश्र की सभ्यता से किसी भी अवस्था मे भारतीय आर्यों की सभ्यता पूर्ववर्त्ती न हो जावे । परन्तु अन्वेषणो और विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि सृष्टि तो अरबो वर्ष पुरानी है । छ सहस्र वर्ष का अब उसमे कोई मूल्य नही । साथ ही भारत की सभ्यता भी मिश्र की सभ्यता और पाश्चात्य सभ्यता से बहुत पुरानी है, यह भी सिद्ध हो गया है । फिर इस बी सी और ए डी का क्या महत्व है कि अभी भी इससे भारतीय इतिहास-लेखक चिपटे रहे । यह ईस्वी सम्वत् ससार की महत्तम घटनावो मे भी कोई ऐसी घटना नही कि इसके आधार पर समय का आकलन किया जाया करे । १९६३ वर्षों को ही ससार के समय वा मानव के पृथिवी पर उदय का मध्यवर्त्ती मानदण्ड भी नही माना जा सकता है कि वह इस प्रकार चालू रहे । हजरत ईसा से बहुत, नही-नही अरबो वर्ष पूर्व मानव पृथिवी पर विद्यमान था फिर यह मानदण्ड क्यो स्वीकार किया जावे ? इसका कोई उत्तर नही है ।

मनु की जलप्लावन सम्बन्धी घटना ससार की सभी जातियो और देशो के इतिहास मे 'नूह के तूफान' आदि भिन्न-भिन्न रूपो मे किसी न किसी तरह पाई जाती है । इसी को लेकर इतिहास की काल-गणना मे इसे अन्ताराष्ट्रिय रूप दिया गया होता तब भी कोई बात थी । यह है भी अन्ताराष्ट्रिय घटना । परन्तु बी सी और ए डी का इसमे क्या स्थान है—यह ये ही बतावे जो इस पर चिपटे हुए है ।

इस ईस्वी सन् के प्रारम्भ होने से तीन सहस्र वर्ष से कुछ अधिक समय पूर्व भारत के इतिहास मे एक महान् घटना घटी और वह भारत युद्ध की घटना थी। इस घटना का महत्त्व एकदेशीय नही बल्कि अन्ताराष्ट्रिय है। क्योंकि पाश्चात्यो द्वारा निश्चित इस महायुद्ध का काल भी तो ईस्वीय सन् से बहुत पूर्व जाता है। साथ ही महाभारतकाल मे युधिष्ठिर द्वारा किये जाने वाले राजसूय यज्ञ मे भूमण्डल[1] के राजे उपस्थित हुये थे। इससे यह सिद्ध है कि यह भी उस समय की एक अन्तार्राष्ट्रीय घटना है। इतना ही नही यह घटना ज्योतिष आदि प्रमाणो से भी निश्चित है और एक विशेष महत्व का स्थान रखती है। वैदिक एज के लेखक ने कौरव-पाण्डवो के इस महायुद्ध का समय ईसा से १४००[2] वर्ष पूर्व स्वीकार किया है। एलफिंस्टन महोदय के अनुसार महाभारत का काल ईसा से १४०० वर्ष पूर्व है। हण्टर महोदय के अनुसार यह समय ईसा से १२०० वर्ष पूर्व का है। परन्तु ज्योतिष के प्रमाणो से महाभारत का समय पाच सहस्र से ऊपर ठहरता है। ज्योतिष के प्रसिद्ध विद्वान् वराहमिहिर ने अपनी पुस्तक वृहत् सहिता के १३वे अध्याय श्लोक तीन मे एक ज्योतिष की घटना का उल्लेख[3] किया है। उनका कथन है कि युधिष्ठिर जिस समय राज्य कर रहे थे उस समय सप्तर्षि मण्डल मघा नक्षत्र मे था। इसका गणित कर उसने निश्चय किया कि शाक्य मुनि गौतम बुद्ध तक २५२६ वर्ष होते है। बुद्ध ईसा से ६२३ वर्ष पूर्व हुये और ५४३ वर्ष पूर्व उनकी मृत्यु हुई। यदि २५२६+६०३ और १९६३ को मिला दिया जावे तो ५११२ वर्ष आजतक होते है। परन्तु शाक्य मुनि का सम्वत् उनके पूर्वजीवन काल से प्रारम्भ हुआ हो वा कुछ पश्चात् प्रारम्भ हुआ हो—इस काल को भी निकाल दिया जावे और ५० वर्ष कम भी कर दिये जावे तब भी महाभारत का काल पाँच सहस्र वर्ष से ऊपर ही ठहरता है।

ज्योतिष के एक नियम का उल्लेख सूर्यसिद्धान्त से उपलब्ध होता है। सूर्य-सिद्धान्त यह बतलाता है कि इस कृतयुग के अन्त मे सभी ग्रह एक युति मे थे। श्री प० बालकृष्ण जी जो ज्योतिष के ख्यातनामा विद्वान् थे के मत मे सूर्य-सिद्धान्त और प्रथम आर्यभट के अनुसार वर्तमान कलियुग के आरभ मे सातो ग्रह एक स्थान मे थे। दूसरे ब्रह्मगुप्त आदि मानते है कि कल्प के आरम्भ मे सातो ग्रह एक युति मे थे। यहाँ यह स्पष्ट है कि कलि के प्रारम्भ मे सातो ग्रह एक स्थान मे थे। दूसरी बात यह स्पष्ट है कि कृतयुग के अन्त मे ये एक स्थान पर थे। तीसरी बात यह

1 देखें महर्षि दयानन्द सरस्वती कृत सत्यार्थप्रकाश एकादश समुल्लास।

2 देखें Vedic Age, Page 300

3 आसन् मघासु मुनय शासति पृथ्वी युधिष्ठिरे नृपतौ।
षड्द्विक-पञ्चद्वियुत शककालस्तस्य राज्ञ ॥ वृ-१३।३
इसे कई भारतीय इतिहास लेखकों ने उद्धृत किया है।

स्पष्ट है कि प्रत्येक कल्प के आरम्भ मे एक युति मे ये सातो ग्रह रहते हैं। अब इसका सर्वसम्मत मत निकालने की आवश्यकता है। कल्प आदि की गणना का आधार कलियुग है। कलियुग के वर्षों की सख्या चार लाख बत्तीस सहस्र वर्ष है। दूने का नाम द्वापर, तिगुने का नाम त्रेता और चतुर्गुण से कृतयुग की वर्ष सख्या निकलती है। ऐसी स्थिति मे कलियुग ही का समय द्विगुण, त्रिगुण एव चतुर्गुण होकर क्रमश. द्वापर, त्रेता और सत्ययुग का समय बनता है। अत यह सभव है और सर्वथा ठीक भी है कि कृतयुग मे ग्रहो के एकत्र होने की घटना चार बार, त्रेता मे तीन बार, द्वापर में दो बार और कलियुग मे एक बार घटती होगी। इनमे जिस किसी घटना को किसी ज्योतिषी ने देखा उसका वर्णन कर दिया। कलियुग के अन्त का अर्थ त्रेता के आदि का समय है। कल्प के आरभ का समय भी एक तरह से एक कल्प मे व्यतीत होने वाले कलियुगो मे प्रथम का आरभ समय है। चाहे कलि का आरभ कहे चाहे कल्प का आरभ कहे, चाहे कृत का अन्त और त्रेता का आरभ कहें—तात्पर्य यह निकलता है कि प्रत्येक चार लाख बत्तीस सहस्र वर्षों मे यह घटना एक बार घटती है। अत मध्यम सन्धिभूत सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक कलियुग मे (जो युगो का कल्प आदि का आरभक है) यह घटना होती है। महाभारत के समय यह घटना हुई थी—ऐसा वर्णन लोग करते हैं। यदि कोई इस घटना का वर्णन न भी करे तो भी ज्योतिष की घटना तो घटित होना बन्द नही हो जावेगी। कलि का प्रारभ भी महाभारत के समय मे माना जाता है। उस समय ऐसी घटना उपस्थित हुई थी इसका भी प्रमाण मिलता है। प्रसिद्ध पाश्चात्य ज्योतिर्विद बैली (Bailly) ने लिखा है कि कलियुग का प्रारभ ईस्वी सन् से ३१०२ वर्ष पूर्व २० फरवरी को २ बजकर सत्ताईस मिनट ३० सेकड पर हुआ था। उस समय सभी ग्रह एक युति[1] मे थे। यह एक ऐसा अकाट्य प्रमाण है जिसके आधार पर महाभारत का समय ३१०२+१९६३=५०६३ वर्ष होता है। तात्पर्य यह है कि सन् १९६३ की २० फरवरी को २ बजकर २७ मिनट और तीस

1. According to the astronomical calculation of the Hindus the present period of the world, Kaliyuga, commenced 3,102 years before the birth of Christ on the 20th, February at 2 hours, 27 minutes and 30 seconds, the time being thus calculated to minutes and seconds They say that a conjunction of planets then took place, and their table show this conjuntc tion It was natural to say that a conjunction of the planets then took place The calculation of the Brahmins is so exactly confirmed by our own astronomical tables that nothing but actual observation could have given so correspondent a result

'The Theogony of the Hindus,' by Count Bjornstjourna Page 82

सेकण्ड पर रात्रि मे महाभारत के ये पाच सहस्र ६३ वर्ष पूरे हो गए। यह एक ज्योतिष शास्त्र के आधार पर निर्धारित समय है। परम्परागत इतिहास से भी यही समय महाभारत का सिद्ध होता है। परन्तु वैदिक एज के लेखक स्यात् परम्परागत इतिहास को न स्वीकार करें और वैज्ञानिक प्रकार पर ही बल दें। अत यह वैज्ञानिक ही प्रकार से सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया।

जब महाभारत जैसी महान् घटना विश्व के इतिहास मे उपस्थित है तो फिर बी० सी० और ए० डी० का प्रयोग न करके महाभारत पूर्व और महाभारत पश्चात् का मानदण्ड प्रयुक्त किया जाना उचित था परन्तु पाश्चात्यों को अपनी मन कामना पूरी करनी थी, अत अपनी कल्पना को बद्धमूल किया। इस राष्ट्रीयकरण और भारतीयकरण के युग मे भारतीय विद्या-भवन के तत्त्वाधान मे इतिहास लिखने वालो को तो इस विदेशीय रीति को छोडना चाहिए था।

और भी एक घटना भारत के इतिहास मे ईसा से कुछ पूर्व घटी और यह है विक्रम सम्वत् की स्थापना। महाराज विक्रमादित्य के नाम से यह सम्वत् प्रचलित हुआ। ईस्वी सन् वर्तमान मे १९६३ है और विक्रम का सम्वत् २०२० है। इस प्रकार ५७ वर्ष का अन्तर है। यहाँ पर, महाराज विक्रमादित्य कौन है—इस निर्णय मे मैं पडना उचित नही समझता। पाश्चात्य परम्पराओं के पोषक इतिहास विदो ने इस महापुरुष के काल आदि के विषय मे भी पर्याप्त मतभेद बना रखे हैं। परन्तु धारानरेश भोज एव विक्रमादित्य भारत के लिए कोई सन्दिग्ध व्यक्ति नही। उज्जयिनी मे इस राजा की स्थिति इतिहास मे एक महत्वपूर्ण वास्तविकता की द्योतिका है। ज्योतिषशास्त्र का मापदण्ड लका से हटकर इस नगरी से प्रारम्भ हो गया था। समराङ्गण सूत्राधार जैसा वैज्ञानिक ग्रन्थ इस काल के आस पास तैयार हुआ। ऐसी स्थिति मे वैज्ञानिक प्रक्रिया से भारत का इतिहास लिखने की कृत्रिमता को प्रचारित करने वालो को चाहिए था कि इतिहास के काल के आकलन का मापदण्ड विक्रम सम्वत् को बनाते। परन्तु यह भी नही किया। भविष्य मे भारत के इतिहास लिखने के कार्य मे लगने वालो को चाहिए कि इस बी० सी० और ए० डी० की दासता को छोडकर महाभारत अथवा विक्रम सम्वत् के मापदण्ड को इस कालगणना के क्षेत्र मे वर्त्ते।

२ **प्रागैतिहासिक युग**—दूसरी कल्पना प्रागैतिहासिक युग (Prehistoric Period) की है। 'वैदिक एज' का द्वितीय पुस्तक शीर्षक भाग भी इस आधार को स्वीकार करता है। आर्यजाति का धर्म सर्वदा वेद रहा है। इसमे भी किसी को आपत्ति नही। यह धर्म शिक्षा देता है कि मानव सृष्टि की आदि अवस्था मे युवा

उत्पन्न होते है और समर्थ उत्पन्न[1] होते हैं। उनमे ऋषि भी होते हैं[2], साध्य भी होते हैं, मनुष्य भी होते है। ये लोग जो सृष्टि के प्रारम्भ मे उत्पन्न होते हैं वाणी की विविध शक्तियो से युक्त होते हैं और अपने लिए जितनी उपयोगी धारक शक्तियाँ चाहिए उनसे भी युक्त होते हैं[3]। यज्ञ के करने अर्थात् सश्लेषण, विश्लेषण, उपासना आदि करने की योग्यता के साथ आते है और शरीर आदि की रक्षा और व्यवहार को चलाने के ज्ञान से भी युक्त होते है[4]। यह एक दार्शनिक सिद्धान्त है जो अटल और प्रत्येक सृष्टि के आरम्भ मे लागू होता है। वेद इतिहास का वर्णन नही करते—दार्शनिक सिद्धान्त का वर्णन करते है। परन्तु सृष्टि की प्रारम्भिक अवस्था मे उन्हीं सिद्धान्तो पर प्रारम्भिक जन चलते है और बाद मे उनकी विविध प्रवृत्तियो का इतिहास भूतात्मक होता जाता है। वेद इस भूतगर्भ और वर्तमान की प्रवृत्तियो के इतिहास को नही वर्णन करता है। यह देश, काल और परिस्थिति मे घटता है और इसका वर्णन इतिहास का कार्य है।

वेद ने दार्शनिक सिद्धान्त का वर्णन कर दिया कि सृष्टि के प्रारम्भ मे योग्यता से सम्पन्न ऋषि, साध्य और मनुष्य आदि उत्पन्न होते है। इतिहास इसका वर्णन फिर इतिहास के रूप मे करता है। मुण्डक उपनिषद् कहती है कि उस परमेश्वर की कृपा और निमित्तता से देव, मनुष्य और साध्य लोग उत्पन्न हुए।[5] महान् दार्शनिक कपिल भी सृष्टि के प्रकारो को बतलाते हुए साकल्पिक और सासिद्धिक का भी वर्णन करते हैं।[6] कणाद भी वैशेषिकदर्शन मे कहते हैं कि अयोनिज ऋषि आदि की भी सृष्टि होती है—वेद का भी इसमे प्रणाम पाया जाता है।[7] यही वैज्ञानिक मत भी है। बोस्टन नगर के स्मिथसोनियन इन्स्टीट्यूट के जीवन-विज्ञान शास्त्र के अध्यक्ष डाक्टर क्लार्क का भी यही मन्तव्य है कि सृष्टि के प्रारम्भ मे 'मनुष्य सोचने, चलने और अपनी रक्षा करने मे समर्थ उत्पन्न हुआ'।[8]

---

1 अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते स भ्रातरो वावृधु सौभगाय। युवा पिता स्वपा रुद्र एषां सुदुघा पृश्नि सुदिना मरुद्भ्य। ऋ ५।६०।५

2 त यज्ञ बर्हिषि प्रौक्षन्पुरुष जातमग्रत।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये। ऋ १०।९०।७

3 जन बिभ्रती बहुधा विवाचस नानाधर्माण पृथिवी यथौकसम्। अथर्व १२।१।४४

4 चाक्लृपे तेन ऋषयो मनुष्या यज्ञे जाते पितरो न. पुराणे। पश्यन् मन्ये मनसा चक्षसा तान् य इम यज्ञ मयजन्ता पूर्वे ऋ १०।१३०।७

4 तस्माच्च देवा विविधा सम्प्रसूता साध्या मनुष्या पशवो वयांसि। मु २।१।७

6 साख्य ५।११२

7 तन्त्ययोनिजा, वेदलिङ्गवक्ष्य-वै० ४।२।१०।११

8 Man appeared able to think walk and dsfend himself aloted Quoted from satyarth prakashs notes of Vedan and Saraswati)

इसके अतिरिक्त एक यह प्रथा आर्यों मे पायी जाती है कि उनके संस्कार नामकरण आदि होते हैं और इन संस्कारो मे गोत्र, तिथि, नक्षत्र, उसके देवता, सभी के जानने की आवश्यकता पडती है।

यज्ञ भी आर्यों का समवाय-सम्बन्ध का कर्मकाण्ड है। इसमे भी विविध विज्ञान, ज्योतिष के ज्ञान की आवश्यकता पडती है। साथ ही जहाँ पर आर्य होंगे उनमे वर्ण और आश्रम की व्यवस्था अवश्य रहेगी।

वेद मे मनुष्य को कृष्टि कहा गया है। इस का अर्थ है कृषि, उद्योग और संस्कृति से संस्कृत मनुष्य। आर्यजन कृष्टि रूप में ही रहते हैं। इन सब बातो के होते हुए जब से आर्य पृथिवी पर आये तब से अपने इतिहास रखते आये हैं। जो गोत्र का ज्ञान रखे, जिसके यहाँ सात पीढी तक का ज्ञान रखा जावे, जो वंशावली का ज्ञान रखे, आयु के भाग जिनके यहाँ बँटे हो—उनके इतिहास मे कोई प्रागैतिहासिककाल हो ही नही सकता है। 'धर्मों का मूल' (The Origin of Religions) के लेखक महाशय रफेल कार्स्टीन पी० एच० डी० का कथन है कि विकास और आदिमानव (Evolution and Primitive) का प्रयोग भ्रमात्मक है। जहाँ विकास है वहा ह्रास का भी नियम उसके साथ ही दृष्टिगोचर हो रहा है। उनका कथन है कि इस प्रिमिटिव शब्द का दुरुपयोग हुआ है और विशेषकर विकासवाद के अनुयायी मानव-वंश-परम्परा के अध्ययन करने वालो के द्वारा। कोई असभ्य जंगली जाति वर्तमान मे ऐसी नही पाई जाती है कि जिसकी मानसिक, सांस्कृतिक अवस्था आदिम मानव का लगभग उत्तर दे सके। यहाँ तक कि आज की अति असभ्य जंगली जातियाँ भी अपने पीछे एक बहुत बडा इतिहास रखती हैं। यह कल्पना करना भी असम्भव है कि सैकडो सहस्रो वर्षों मे वे बिना किसी परिवर्तन के एक अवस्था मे ही पडी[1] रही। इस प्रकार यह निश्चित है कि किसी जाति के इतिहास मे कभी कोई प्रागैतिहासिक युग होता ही नही। यह प्रागैतिहासिक युग की कल्पना सर्वथा ही व्यर्थ है। इसमे वैज्ञानिकता और तथ्य का तनिक भी लेश नही।

३ **प्राग्वैदिक काल**—अब एक नई कल्पना और खडी की जा रही है जिसका नाम प्राग्वैदिक (Pre-Vedic) काल रखा जा रहा है। यह कल्पना

1 Obviously, the word has been much misused, especially by anthropologists of the evolutionary school No savage tribe exists whose mental and cultural state would answer even approximately to that of 'Primeval man" Even the rudest savage tribes of to-day have a long history behind them. It is impossible to assume that during the hundreds of thousands of years of their existence they have remained entirely unaltered. —The Origin of Religion. Page 13

मिथ्या भाषा-विज्ञान का गर्व करने वाले लोग चला रहे है । आंग्लभाषा के Pre और Post शब्द पता नहीं कहाँ-कहाँ लगा दिये जायेंगे यदि ये कल्पना-पण्डित अपनी कल्पनाओ में व्यस्त रहे । प्रश्न यह उठता है कि प्राग्वैदिक काल के निर्णय के लिए हेतु क्या है । यदि कोई कहे कि वेद को और उसकी भाषा को देख कर ऐसा निर्णय किया जाता है तो सर्वथा ही भ्रान्त धारणा है । वेद मे कोई भी ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध नही है । उसकी भाषा भी ऐसी नही जो भाषा-विज्ञान के अधूरे नियमो पर मापी जा सके । वर्तमान भाषा-विज्ञान के प्रथम तो कोई निश्चित नियम नही । यदि कोई अधूरे नियम गढे गये है तो वे भी स्वय को काटते हैं । यदि वेद को प्रामाणिक मानकर ये लोग इतिहास की नीव स्थापित करते हैं तो वेद नित्य है—वेदो मे कथित और विद्यमान इस तथ्य को भी स्वीकार करना चाहिए कि वेद मानव के लिए आदिम और नित्य ज्ञान है । इनसे पूर्व किसी भाषा, देश, जाति और सप्रदाय का अस्तित्व ही हो नही सकता है और न कोई इतिहासज्ञ सिद्ध ही कर सकता है भले ही वह सभावना (Possibility) और सभाव्यता (Probability) शब्दो के प्रयोग से पुस्तकालयो को सज्जित करने के लिए एक पोथी—बना डाले । जैसा कि वैदिक एज ग्रन्थ है ।

वेद ईश्वरीय ज्ञान है और इसकी भाषा और ज्ञान[1] परमात्मा की प्रेरणा से सृष्टि के प्रारभ मे मिले और प्रत्येक सृष्टि के प्रारम मे मिलते हैं । यदि ईश्वर की प्रेरणाभूत ज्ञान के पूर्व भी कोई जाति, कोई देश, कोई ज्ञान और कोई भाषा पृथिवी पर उपस्थित थी तो प्रेरणा का कोई प्रश्न ही नही उठ सकता है । दुनिया की धर्म पुस्तको मे केवल वेद को छोडकर ऐसी कोई धर्म पुस्तक नहीं जिसमे उससे पूर्व किसी धर्म वा समाज का होना न बताया गया हो । विद्वानो की यह धारणा और निश्चित धारणा है कि 'केवल वैदिक धर्म ही ऐसा धर्म है जिसकी उन्नति विना किसी बाहर के प्रभाव के हुई है । इबरानियो अर्थात् यहूदियो के मत मे भी बैबेलियन, फैनेशियन और कुछ पीछे फारस निवासियो के प्रभाव का पता चलता[2] है ।''

1 देखें मेरी पुस्तक वैदिक-ज्योति ।

2 But that the Vedic religion was the only one, the development of which took place without any extraneous influences and could be watched through a longer series of centuries than any other religion Now with regard to the first point, we know how perplexing it is in the religion of ancient Rome to distinguish between Italian and Greek ingredients, to say nothing of Entruscan and Phoenician influences We know the difficulty of finding out in the religion of the Greeks what is purely home-grown and what is taken over from Egypt, Phoenicia it may be, from Scythia , or at all events, lightly coloured by those foreign rays of thought. Even in the religion of Hebrews

फिर इसी बात पर इसी विद्वान् का कथन है कि "कल्पित विदेशी प्रभावों की खोजो के बहुत ध्यानपूर्वक परीक्षण करने के बाद जो कि भिन्न-भिन्न विद्वानो ने समक्ष उपस्थित किये थे, मेरा विचार है और मैं कह सकता हूँ कि सत्यत भारत के प्राचीन वैदिक साहित्य की भाषा, धर्म एव संस्कारो पर किसी विदेशी प्रभाव का चिह्न नही मिलता[1]।"

'एज आफ रीजन' के लेखक अमेरिका के प्रसिद्ध विद्वान् टामस पेन ने ईश्वरीय प्रेरणा की एक कसौटी प्रस्तुत की है । यह वह विद्वान् है जिन्होंने बाइबिल के ईश्वरीय ज्ञान होने का घोर खण्डन किया है और बाइबिल के अनेक लेखको के लिए प्रमाणित किया है कि वे जोड और बाकी तक नहीं जानते थे। परन्तु जो कसौटी उसने ईश्वरीय ज्ञान के विषय मे प्रस्तुत की है वह वेद पर सर्वथा सगत है। "प्रेरणा किसी पर किसी उस वस्तु का प्रकट करना है जो प्रेरणा के पात्र मनुष्य को प्रेरणा से पूर्व ज्ञात नही थी। अत प्रेरणा उस वस्तु पर नही घटित की जा सकती है जिसको मनुष्य ने स्वय घटित किया हो[2]।" इस प्रकार यह सिद्ध

Babylonian, Phoenician, and at later time Persian influences have been discovered, and the more we advance towards modern times, the more extensive becomes the mixture of thought and the more difficult the task of assigning to each nation the share which it contributed to the common intellectual currency of the world In India alone, and more particularly in Vedic India we see a plant ertirely grown on native soil and nurtured by native air For this reason, because the religion of the Veda was so completely guarded from all strange infections, it is full of lessons which the student of religion could learn nowhere else —'India what can it teach us' by Muller, Page 113 Second Edition Delhi 1961

1. After having thus carefully examined all the traces of supposed foreign influences that have been brought forward by various scholars, I think I may say that there really is no trace whatever of any foreign influence in the language, the religion or the ceremonial of the ancient Vedic literature of India. 'India what can It teach us' by Max Muller, 2nd Edition Delhi 1961, Page 125

2 Revelation is a communication of something which the person to whom the thing revealed did not know before For if I have done a thing, or seen it done, it needs no revelation to tell me, I have done it or seen it now enable me to tell it or write it Revelation therefore, cannot be applied to anything done upon earth of which man is himself actor or witness

—Age of Reason. Page 10-11.

है कि वेद से पूर्व न कोई धर्म था और न जाति वा सम्प्रदाय वा मनुष्यो से आबाद प्रदेश था। न कोई उससे पूर्व भाषा ही थी। ऋग्वेद ८।७५।६ मे "वाचा विरूप नित्यया" वेद की वाणी को नित्य कहा गया है। ऋग्वेद १०।७१।१,३ मन्त्रो मे ईश्वरीय ज्ञान की कुछ पहिचाने बतलाई गई है। मन्त्रो मे इस ज्ञान और भाषा को "प्रथमम्" सबसे प्रथम कहा गया है। अर्थात् उसके पूर्व पृथिवी पर कोई ज्ञान आदि नही होता है। यह बाद की सभी भाषाओ की पूर्ववर्तिनी है और इससे पूर्व कोई वाणी नही होती—वाचो अग्रम् है। इसी आधार पर सज्ञाये सृष्टि मे पदार्थों की रखी जाती हैं—अत 'नामधेय दधाना' से इसका सकेत किया गया है। यह किसी देश की भाषा नही और इससे पूर्व कोई भाषा होती नही। अत यह श्रेष्ठ 'श्रेष्ठम्' है। इसमे किसी प्रकार का मिश्रण नही और सकुचित व्याकरण के दायरे मे नही जकडी जा सकती है अत इसे अरिप्र—निर्दोष 'अरिप्रम्' कहा गया है। यह विकास वा क्रमिक सकोच आदि का फल नही है अत प्रेरणा से प्राप्त होती है—इसीलिए 'प्रेणा' कहा गया है। प्रत्येक कल्प मे यह इसी रूप मे ऋषियो द्वारा प्राप्त होती है—अत इसे व्यक्त करने के लिए 'निहित ग्रहाविः' कहा गया है। और "ऋषिसु-प्रविष्टा" कहा गया है। पुण्यकर्मा ही प्राप्त कर सकते है—अत यज्ञेन पद लगाया गया है। इससे ही पश्चात् सस्कृत आदि भाषाओ का विस्तार होता है अत "तामा-भृत्या व्यदधु पुरुत्रा" आदि पदो का सन्निवेश है[1]। ये ज्ञान और भाषा की प्रेरणा के दार्शनिक सिद्धान्त हैं—इतिहास नही। इन्ही सिद्धान्तो का प्रत्येक सृष्टि मे घटना हुआ करता है। मनु, ब्राह्मण ग्रन्थो, वेदान्त आदि मे इसी सिद्धान्त को लेकर इस कल्प मे वेद का किस प्रकार प्रकाश हुआ—इसका इतिहास वर्णन किया है। तथा यह बतलाया गया है कि अग्नि आदि ऋषियो पर वेद का प्रकाश हुआ। वेद के शब्दो से सृष्टि के पदार्थों के नाम रखे गये। जब कोई देश, कोई भाषा, कोई ज्ञान वा धर्म की पुस्तक कोई जाति वेद से पूर्ववर्त्ती है नही तो फिर प्राग्वैदिक काल का क्या तात्पर्य है। अत इन ऊपर दिये गये हेतुवो से परिणाम यह निकलता है कि मानवता के उद-गम के इतिहास मे (History of human emergence on the earth) ज्ञान और भाषा के इतिहास मे (Origin of Thought and Speech) तथा धर्म और सस्कृति के उद्गम के इतिहास मे (History of origin of religion & culture) प्राग्वैदिक काल नाम की कोई वस्तु नही है। वेद से पूर्व न कोई मनुष्य जाति, न कोई बसती थी, न कोई ज्ञान, भाषा और सस्कृति ही थी कि उसे वेद से पूर्व प्राग्वैदिक कहा जा सके।

४ **कुछ प्रकीर्ण**—शिलालेख और ताम्रपट्ट आदि को किसी भी देश के इतिहास के विषय मे एक महत्वपूर्ण साधन माना जाता है। परन्तु भारत का इतिहास इतना प्राचीन है कि उसके विषय मे ये साधन उपलब्ध नही हो सकते है। काल ने क्या-

1. देखें लेखक की प्रसिद्ध पुस्तक वैदिक-ज्योति।

कुछ खेल खेले हैं -उसमे वे समाप्त हो गये हैं। उपलब्ध-मात्र इन साधनों पर केवल भारत के थोड़े समय का ही इतिहास आकुलित किया जा सकता है।

इनके आधार पर आर्यों के करोडो, अरबो वर्ष के इतिहास का आकलन और निर्णय नहीं किया जा सकता है और न इस प्रकार की सामग्री दीर्घकाल के इतिहास के निर्णय का साधन ही बन सकती है। इस आधार पर निर्धारित काल आदि यदि आर्यों के इतिहास की अति प्राचीन सीमा समझे जावेगे तो वह इतिहास नही बल्कि एक भ्रान्त धारणा का सकलित वृत्त होगा।

मुद्रायें--मुद्राये बहुत ही उत्तम सामग्री इतिहास के विषय मे पायी जाती हैं परन्तु पृथिवी पर आर्य-मानव के उदय के इतिवृत्त के निर्धारण और निर्णय मे यह भी समथ नही। आज सग्रहालयो मे जितनी भी मुद्राये सगृहीत हैं—वे मानव के अति प्राचीन इतिहास के काल मे नगण्य काल सीमा की ही द्योति का हैं।

भग्नावशेष–दुर्गों, प्रासादो आदि के भग्नावशेष भी अति प्राचीन आर्य इतिहास के काल बताने मे असमर्थ हैं। ये भी थोडे काल के इतिहास पर प्रकाश डालते हैं।

वनस्पति, शाक और पशु आदि—आर्यावर्त्त देश की भौगोलिक स्थिति सदा ही ससार मे सर्वोत्तम रही है। इसके वायुमान आदि सदा अच्छे रहे हैं। भाँति-भाँति के फूल, औषध, शाक, मूल और वनस्पति आदिको से यह देश समृद्ध रहा है। अन्नो के विविध प्रकार इस देश की भूमि मे उत्पन्न होते रहे और होते है। वेद मे वर्णित विज्ञान के रूप मे वर्णित जितने अन्नो को इस देश ने अपनी कृषि मे उत्पन्न करके ससार को दिया उनसे अधिक अन्नो का ईजाद आज तक ससार नही कर सका। यहाँ पर खेती कृष्टपच्या और अकृष्टपच्या दोनो प्रकार की थी। देवमातृका और अदेवमातृका भी रही। शास्त्रो और कवियो ने इसका वणन किया है। पशुवों के विषय मे भी यह भूमि सदा समृद्ध रही है। इसका वर्णन एक पृथक् विषय है। भारत की प्राकृतिक दशा के वणन मे इसका महान् उपयोग है परन्तु इसके आधार पर आर्येतिहास का निर्णय नही हो सकता है। प्राकृतिक अवस्था समय-समय पर परिवर्त्तित होती रहती है। उसकी उपज मे भी परिवर्त्तन होता रहता है। देश की विस्तृत भूमि पर कौन सी वस्तुवे कहाँ पर और किस समय होती है और उत्पन्न होती है – इनका परिज्ञान करना भी मानव के लिए सभव नही। अत इनके आधार पर इतिहास का निर्धारण सभव नही। यदि कुछ किया भी जावेगा तो वह आनुमानिक एव सभव और सभाव्य कोटि मे ही होगा जो कि सिद्धान्त होने के स्थान मे भ्रान्त धारणामात्र ठहरेगा।

यहाँ पर एक दृष्टान्त दिया जाता है जिससे विषय पर पर्याप्त प्रकाश पड सकेगा। आर्यों के साथ सोम का सम्बन्ध माना जाता है। कई इतिहास-विदो ने इस

आधार पर आर्यों के निवास-स्थान की कल्पना भी की है। मैं यहाँ पर उनकी कल्पनाओं पर नही जाना चाहता परन्तु इतना तो है ही कि सोम जहाँ अन्य अर्थों मे प्रयुक्त होता है वहा यह एक औषधि भी है। सुश्रुतकार ने चिकित्सा स्थान के २९वें अध्याय मे सोम का वर्णन किया है। सोम शब्द के अर्थों की विभिन्नता और इसके औषधीय गुणो के कारण सुश्रुत मे बहुत अतिशयोक्ति-पूर्ण भी वर्णन इसका किया गया है। परन्तु यह पर्वतीय प्रदेशो मे उत्पन्न होता है—यह सन्देह की बात नही। भारत के हिमालय पर यह उत्पन्न होता था ऐसा लोग मानते हैं। मूजवान् का अर्थ पर्वत है। यह कोई नाम नही। सभी पर्वत मूजवान् हैं। सारी दुनियां के पर्वतो के समस्त प्रदेशो का मानव को पता नही। भारत मे यह उत्पन्न होता था यह सुश्रुत के समय तक तो लोगो को परिज्ञात था ही। अब पता लगाने पर यदि अमेरिका के किसी पर्वत पर भी ऐसी लता पाई जाने जो साम हो तो क्या उससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि आर्य लोग पहले वहाँ पर ही उत्पन्न हुये थे। कहना पडेगा कि ये वस्तुवे कल्पना मात्र है--इनसे इतिहास का पता नही लगाया जा सकता है।

दूसरा उदाहरण आलू और तम्बाकू और गोभी का है। भारत मे इनकी उत्पत्ति होती थी वा नही– सारी पृथिवी की बिना खोज किये कुछ भी कहना सम्भव नही। परन्तु तोजक जहाँगीर मे सम्राट जहाँगीर का कथन है कि मेरे पिता के समय मे एक पादरी अमरीका से आलू, तम्बाकू और गोभी लाया था। आज ये तीनों ही भारत की भूमि मे बहुतायत से पाई जाती हैं। आज की भौगोलिक स्थिति और फूल तथा शाको का वर्णन करने वाला इनका भी वर्णन भारतीय शाक आदिको मे करेगा। पहले ये यहाँ होते थे वा नही इसका पूरा पता कोई बता नही सकता है। क्योकि भारत की इञ्च-इञ्च भूमि और हिमालय आदि के प्रत्येक भाग को देखकर किसने इसका निर्णय किया है कि वह कह सके। ऐसी स्थिति मे यदि इन को लेकर कोई इतिहास का निर्णय करें तो कोई समुचित परिणाम नही निकाला जा सकता है।

वस्तुत आर्य-जाति का इतिहास मानव के पृथिवी पर उदय होने से प्रारम्भ होता है। उसी के साथ ज्ञान, भाषा और धर्म की प्रेरणा और मूल का भी विचार सम्बद्ध है। इसको इन उपर्युक्त साधन स्रोतो के आधार पर किसी भी प्रकार निर्णीत नही किया जा सकता है।

१ **पुरातत्त्व**—इतिहास के विषय की प्रभूत सामग्री पुरातत्त्व की खोजो से एकत्र की जा रही है। ससार मे लगभग विभिन्न देशो मे खोदाई करके प्रचुर मात्रा मे पुरानी वस्तुऐं सिक्के आदि प्राप्त किये गये हैं। मेसोपोटामिया मे पुरातत्त्व के

विद्वानो ने ३४०० वर्ष पुरानी ईंटे प्राप्त की हैं। इन ईंटों पर इन वहां के लोगों के सुलहनामे लिखे हुए हैं[1]। इसी प्रकार असुर वानापाल लेयार्ड (Layard) और रौलिन्सन (Rowlinson) दो अन्वेषको ने नैनवा और बैबलन (असीरिया) के पुराने खण्डहरों को खोदवाया और ईटो पर लिखे हुए पुस्तकालय निकाले[2]। विश्व के पुरातत्त्व-सग्रहालयो को यदि देखा जावे तो एक घडे के टुकडे से लेकर मुद्रा आदि तक अनेक वस्तुवे सगृहीत मिलेंगी। ये किसी भी राष्ट्र के लिए अमूल्य निधि हैं। परन्तु यह खेद के साथ कहना पडेगा कि मानव के अति प्राचीन इतिहास की कडी को ये निश्चित नही करा सकती हैं। इन के द्वारा अति प्राचीन इतिहास नही निधारित किया जा सकता है। यदि करने का प्रयत्न किया गया तो परिणाम जो निकलेगा वह सवथा ही भ्रान्त और कल्पित होगा। इस सामग्री से कुछ सहस्र वर्षों का ही इतिहास अनुमानित किया जा सकता है। आर्यों के अति लम्बे इतिहास को यह सामग्री नही निर्धारित कर सकती है। पाच महस्र वर्षों का तो इसके पतन का इतिहास है। यह भी इस पुरातत्त्व के सग्रहो से सम्यक्तया निश्चित नही किया जा सकता, अरबो वर्षों के इतिहास की तो कथा ही क्या? वेद के धर्म और उसकी सभ्यता आदि के विषय मे इस पुरातत्त्व की सामग्री के आधार पर कोई निर्णय लेना तो नितान्त भूल है। पाश्चात्यो द्वारा कल्पित प्रागैतिहासिक युग के मनुष्य के विषय मे भी पुरातत्त्व निश्चित सूचना नही देता है। जो कुछ थोडी सूचना देता है वह भी आनुमानिकी है – निर्णीत नही। कार्स्टीन महोदय ने लिखा है कि पुरातत्त्व-विज्ञान[3] प्रागैतिहासिक मानव की धार्मिक स्थिति के विषय मे जो कुछ सूचना देता है वह बहुत ही स्वल्प एव न्यून है। हमारे कबरो से प्राप्त वस्तुवे ही बहुधा हमारी सूचना के स्रोत हैं। इनमे प्राप्त साधन, शस्त्र आदि यह बताते हैं कि आदिम मानव

---

1 देखें वैदिक सम्पत्ति पृ० २१६ तथा हर्म्स वर्थ हिस्ट्री आफ दी वर्ल्ड।

2 देखें महात्मा नारायण स्वामी कृत वेद रहस्य पृष्ठ १५, सम्वत् २००१ वि०

3 The information archeology is able to supply as to the religious state of Prehistoric man is certainly scanty Almost our only sources are the grave-finds Mony of the weapons, implements ornaments, remains of food etc which have been found in prehistoric graves however, seem to show irrefutably that the primitive men who burried their dead in this way believed in the existence of a soul which survives after death of the body. Because of this, we may infer that even Paleolithic man in Europe, the contemporary of mammoth and cave-bear, was in possession of a sort of religion or belief in spirits

—The Origin of Religion, by Karsten, Page 16-17.

जो मुर्दों को गाड़ते थे आत्मा में विश्वास करते थे जो मृत्यु के बाद भी रहती है। इसी आधार पर अनुमान किया जाता है कि योरुप मे पशु समकालीन मानव का कोई धर्म था। यह बात कार्स्टन महाशय ने योरुप के प्रागैतिहासिक मानव के विश्वास के विषय मे कही जहाँ पर मुर्दों को गाडने की प्रथा है और जो लगभग पाँच छ हजार वर्ष से अधिक पुरानी सृष्टि-रचना नही मानता था। बी० सी० और ए० डी० कल्पना से यह सर्वथा सिद्ध है। परन्तु भारत मे आर्यों मे न मुर्दे के गाडने की प्रथा थी और न है। वे सदा से मुर्दे जलाते आये है। उनका सृष्टिकाल भी लगभग दो अरब वर्षो का पुराना है फिर उनके इतिहास को और धर्म का यह पुरातत्त्व-सग्रह क्या बता सकेगा।

पुरापाषाणयुग, मध्यवर्ति-पाषाणयुग नवपाषाणयुग, ताम्रयुग, कास्ययुग तथा लोहयुग—इतिहास की अनेक विविध कल्पनावो मे इन युगो की कल्पना को भी मुख्य स्थान दिया जाता है। भूगर्भ-शास्त्र को इतिहास के निर्धारण मे घसीटने का यह एक विचित्र प्रयास है। भूगर्भशास्त्र स्वय भी एक आनुमानिकी विद्या है। इतिहास मे इसका प्रयोग करना और मानव इतिहास की कडियो का इसके आधार पर आकलन करना निश्चय के गर्भ से सदा शून्य रहेगा। यही प्रधान कारण है कि इन आधारो पर जो भी इतिहास लिखा गया है वह अटकल-पच्चू परिणाम का द्योतक रहा है। यहाँ पर थोडा सा विचार इन युगो की कल्पना पर किया जाता है। भूगर्भ-विद्या के अनुसार इतिहासविदो का कहना है कि भूस्तरो का खोजन पर निचले स्तर मे पाषाण और सीग आदि के अस्त्र और गडी वस्तुवे पाई जाती है। इससे ज्ञात होता है कि उस समय धातुवो का परिज्ञान मानव को नही था। इनमे सीग, काष्ठ और हड्डियो के सामानो का भी परिगणन है। परन्तु पृथ्वी के ऊपर के स्तरो की ओर बढने पर पता चलता है कि उनमे धातु निर्मित स्तर पाये जाते है। इससे यह परिणाम निकलता है कि मानव पाषाण युग की अपेक्षा धातुवो के युग मे अधिक उन्नत था। इन पाषाण की बनी वस्तुवो मे भी परिष्कार और सुधरी हुई रचना तथा अनघड और अपरिष्कृत रचना के आधार पर मानव की उन्नति मे भेद पाया जाता है। पहले सादी और अनगढ वस्तुये बनी बाद मे चिकनी, नकीली, परिष्कृत आदि रूपो वाली वस्तुवे बनाई जाने लगी। अपरिष्कृत से परिष्कृत अवस्था मे पहुँचने मे भी कम से कम तीन क्रम हुये होगे। प्रथम क्रम को पुरापाषाणयुग (Paleolithic Age) द्वितीय को मध्ययुग (Mesolithic Age) और अन्तिम परिष्कृत को नव-पाषाण युग कहना चाहिए। इसके अनन्तर भूस्तरो का ज्यो ज्यो परीक्षण हुआ और खोदाइयो से धातुवो की वस्तुवें मिली पता चला कि ताम्रयुग और कास्ययुग मानव के ज्ञानविकास के साथ पाषाण युग के बाद प्रवृत्त हुए। इस युग मे ताँबे और कास्य की वस्तुवे पाई जाती है जो प्रकट करती हैं कि मानव ने इस युग मे धातुवो का परि-

ज्ञान कर लिया था। लोहे की वस्तुवो के मिलने से यह ज्ञात होता है कि बाद मे लोहयुग आया होगा। चूँकि भूस्तरो का परीक्षण खोदाइयो मे नीचे की तह से ऊपर की तह की ओर स्वभावत होता है अत यह अनुमान ठीक है कि पाषाणयुग के बाद अन्त मे लोहयुग आया होगा।

इस विषय पर इतिहास-विद बडा ही मनोज्ञ वर्णन करते है। परन्तु वर्णन जितना ही मनोज्ञ है तथ्य उतना ही दूर है। श्री लोकमान्य बालगगाधर तिलक ने अपनी पुस्तक "आर्यों का उत्तरध्रुव निवास" मे इसका अच्छा वर्णन किया है। 'वैदिक एज' के लेखक ने भी इन युगो का विशेष सहारा लिया है। लोकमान्य जी कहते है योरुप मे अनेक जगह, प्राचीन छावनियो, किलो की दीवारो, श्मशानो, देवालयो और जल-निवास स्थानो के खोदने से पत्थर और धातु के सहस्रो औजार मिले है। इनमे कितने ही स्वच्छ किए हुए और घोटे हुए तथा कितने ही अस्वच्छ और भद्दे है। पुराणवस्तु शास्त्रज्ञो ने इनके तीन विभाग किए है। पहले विभाग मे पाषाण शस्त्र जिनमे सीग, काष्ठ तथा हड्डियो का भी समावेश है। दूसरे विभाग मे कास्य के शस्त्र है और तीसरे विभाग म लोह के शस्त्र मान गए है। परन्तु ऐसा न समझ लेना चाहिए कि उपर्युक्त तीनो स्थितियाँ एक दूसरी से भिन्न है। यह बिल्कुल असत्य है कि पाषाण-युग की समाप्ति हो जाने पर कास्य युग का आरभ हुआ। ये तीनो विभाग ना केवल बनावटी है। ताबा और रागा से कासा बनता है इसलिए ताम्रयुग भी मानना पडता है। परन्तु ऐसा प्रमाण अब तक नही मिला कि ताम्रयुग और कास्ययुग भिन्न-भिन्न थे। इसका कारण यह है कि योरुप मे कॉसा बनाने की मूल युक्ति इतर आर्यो से गई है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि कोई भी युग भिन्न-भिन्न देशो मे भी एक ही समय विद्यमान न था। उदाहरण के रूप मे योरुप क लोग जिस समय पाषाण युग की प्राथमिक भूमिका मे थे, उसी समय अर्थात् ईस्वी सन् मे ६००० वर्ष पूर्व मिश्रदेशवासी उच्चतम सभ्यता प्राप्त कर चुके थे। इसी प्रकार जिस समय ग्रीक लोग लोह पर्यन्त गए थे उस समय इटालियन लोग कास्य-युग का ही भोग कर रहे थे। और योरुप के पश्चिमी भाग के लोग तो उस समय पाषाणयुग मे ही पडे हुए थे। ऊपर कहे हुए पाषाणयुग, कास्ययुग और लोहयुग जिस प्रकार एक दूसरे से पृथक् नही है उसी प्रकार भूस्तरयुग भी एक दूसरे से भिन्न नही है। जिस युग को नव-पाषण युग कहा गया है उसका आरभ कब हुआ, यद्यपि इस प्रश्न के उत्तर मे भिन्न-भिन्न विद्वानो का मतभेद है तथापि कोई भी विद्वान् उस काल को ५००० वर्ष से पुराना नही कहता। परन्तु उस समय एजिप्ट और चाल्डिया देश तो उन्नति के शिखर पर पहुँच चुके हुए थे।'

इन युगो की कल्पना मे सबसे प्रधान बात यह स्वीकार करली गई है कि

मानव का ज्ञान विकास की अवस्था को प्राप्त होता गया है। ज्ञानविकास का नियम सर्वथा ही त्रुटिपूर्ण है यह पूर्व दिखाया जा चुका है। जब ज्ञानविकास का सिद्धांत ही ठीक नही है तो फिर उसके आधार पर यह युग कल्पना किस प्रकार सिद्ध की जा सकती है।

दूसरी बात इस विषय मे यह है कि पाषाण से लेकर लोहे तक सभी धातुयें पृथिवी की ही विकार हैं। पृथिवी मे पत्थर का ज्ञान करना पुन इस पत्थर मे भी लोहा है यह जानना—एक उन्नत अवस्था ही है। पत्थर का ज्ञान रखते समय उसमे रहने वाले लोहे का भी परिज्ञान रहा ही होगा। फिर दोनो एक समय मे ज्ञात रहने से यह युगो का क्रम किस प्रकार बन सकता है। ताबे का निर्माण कासे और रागे से होता है—यह भी बतलाता है कि ताँबे के समय मे ही काँसे और राँगे का भी ज्ञान है। ऐसे लोगो को जिनको पत्थर, तावा और लोहा आदि सभी का ज्ञान है – जगली पशुतुल्य मानव तो कहा नही जा सकता है। फिर इन युग-कल्पनावो से मानव के इतिहास की कडी किस प्रकार ढूँढी जा सकती है।

जिन स्थानो मे धातुनिर्मित शस्त्र मिलते है उन्ही स्थानो मे पाषाण-निर्मित भी मिलते हैं। जहा भी खोदाई हुई दोनो प्रकार के शस्त्र साथ ही मिलते है। फिर इनसे युगो का पूर्वापर क्रम किस प्रकार बाँधा जा सकता है। पृथिवी पर भूस्तर भी सर्वत्र समान नही है। एक जगह उसी स्तर पर रेत है और दूसरी जगह पत्थर है। अन्य स्थान पर मीठा पानी और उससे भी अन्यत्र उसी पर खारा पानी फिर इन भूस्तरो का भी तो निर्णय नही किया जा सकता है।

एक ही धरातल पर एक देश मे पाषाण के शस्त्र और दूसरे देश मे लोहे के शस्त्र पाये जाते है। ऐसी अवस्था मे इसको इतिहास के निर्धारण का साधन कैसे बनाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त यह कोई मूल सिद्धान्त नही कि पत्थर का उपयोग मानव ने अपने ज्ञान की आरम्भिक दशा मे ही किया। ऐसा भी कोई प्रमाण नही है कि पाषाणयुग के समय मे धातुवो का प्रयोग मानव ने नही किया। आज के लोग जो उन्नत दशा मे माने जाते है वे भी पत्थर के कुण्डी और पथरी आदि का प्रयोग करते है। काष्ठ की कठवत का भी प्रयोग आज होता है। पानी के लिए मिट्टी के घडे आज भी प्रयोग मे लाए जाते है। जब उन्नत मानव भी इन पत्थर की वस्तुवो का प्रयोग करता है तो फिर कैसे कहा जा सकता है कि ये प्राथमिक अवस्था की जगली लोगो की चीजे है। आज यद्यपि ईख पेरने के लिए लोहे का कोल्हू है फिर भी देहातो मे बहुत समय तक पत्थर के कोल्हू चलते थे। मिले तेल पेरती है फिर भी अभी तेली काष्ठ के कोल्हू से ही घानी निकालता है। पत्थर और मिट्टी की वस्तुवें अब भी बनाई जाती हैं। यदि भूमि मे वे गड जावें और १०० वर्ष बाद खोदकर निकाली जावें तो क्या पुरातत्वविदो का यह कथन कि पाषाणयुग पूर्व था धातुयुग पश्चात्

था, उस समय भी सिद्ध हो सकेगा। खोदाइयों मे जहाँ अस्थि, पत्थर, मिट्टी की वस्तुयें प्राप्त हुई हैं वहाँ धातुवो और स्वर्ण के आभूषण भी पाये जाते हैं। फिर यह क्रमिक युगकल्पना क्या महत्व रखती है। आटा पहले चक्की मे पीसा जाता था आज फ्लोर मिल हैं। परन्तु पीसने की चक्की मे अब भी मिल मे भी पत्थर का ही प्रयोग होता है। खट्टी और धातुवो मे बिगड जाने वाली वस्तुवो को अब भी लोग पत्थर मे ही प्रयोग करते हैं। परन्तु इसके आधार पर सब आदिम युग के नही कहे जा सकते हैं। सालिग्राम और शिव की मूर्तियाँ अब भी पत्थर की चिकनी से चिकनी बनती हैं। नदियो के बहाव मे पडे पत्थर भी चिकने और गोल बन जाते हैं। यदि किसी स्थान पर ऐसे पत्थर मिल जावे तो यह नहीं अनुमान किया जा सकता है कि किसी समय लोगो ने इनको गढा होगा।

पुरापाषाणयुग का प्रारम्भ कब हुआ और समाप्ति कब हुई और पुन. कब नवपाषाण युग चला और उसकी समाप्ति होकर धातुवो का युग कब प्रारम्भ हुआ इसके समय के विषय मे बडा ही मत-भेद है। इसका प्रधान कारण यही है कि ये सब बातें कल्पना और अटकल पर आधारित हैं। परन्तु पूर्व दिखलाये गए वर्णन मे लोकमान्य तिलक ने यह स्पष्ट किया है कि कोई भी विद्वान् नव-पाषाण-युग के काल को पाँच सहस्र वर्ष से पुराना नही कहता है। यदि इस काल को योरुप का नवपाषाण-युग काल माना जावे तो फिर मिश्र मे तो उस अवस्था मे उन्नत संस्कृति रही होगी। भारत मे वैसी ही अथवा उससे भी उन्नत अवस्था रही होगी।

यदि इस ५००० वर्ष को ही समस्त विश्व जिसमे भारत भी है, के नवपाषाण-युग का समय स्वीकार कर लिया जावे तो जो परिणाम परीक्षण से निकलेगा वह वैदिक एज और इन कल्पना पर चलने वाले इतिहासज्ञो के सर्वथा ही विरुद्ध जावेगा। हम यहाँ पर अपना मन्तव्य न कहकर वेद के काल के विषय मे अन्यो का विचार प्रस्तुत कर इस विषय मे कुछ कहना उचित समझते है। इससे इन युगो के विषय मे पर्याप्त प्रकाश पड सकेगा।

पाश्चात्य विद्वानो के अनुसार वेदो का रचना काल ३५०० - ४००० वर्षों के भीतर था। इसका कारण यह है कि बाइबिल के अनुसार मानव-जाति का इतिहास कुल ८००० वर्षा का है। इसी के भीतर सब कुछ घटाना था। लोकमान्य बालगंगाधर तिलक के अनुसार ६००० से १०००० वर्षों के भीतर है। भूगर्भशास्त्र-विदो का कहना है कि यह समय २५००० से ५०००० वर्षों के मध्य का है। श्री डा सम्पूर्णानन्द के अनुसार वेद का रचना काल १८००० से लेकर २५-३० सहस्र वर्ष

पुराना[1] है। इसके अतिरिक्त वैदिक एज के लेखक ने ऋग्वेद की रचना को १००० बी. सी. मानकर उनकी प्राचीनता २६०० वर्षों से कुछ ऊपर की स्वीकार की है। यह मत पाश्चात्यो के माने मत से थोडा ही भिन्न है। परन्तु इसमे सन्देह नहीं कि मानव-जाति का इतिहास इस मत से भी ६००० से ८००० वर्षों का ही ठहरेगा। यदि वैदिक एज और पाश्चात्यो के काल-मान को स्वीकार कर लिया जावे तो फिर यह मानना पडेगा कि नव-पाषाण-युग ईसा के जन्म से लगभग ३१०० वर्ष पूर्व प्रारभ हुआ होगा। भारत के इतिहास मे यह काल महाभारत का काल है। यह काल इतना पुराना किस प्रकार है—यह ज्योतिष आदि के प्रमाणो से पूर्व सिद्ध किया जा चुका है। ये युगो की कल्पना करने वाले यह नही बतलाते कि कितने दिनो तक ऐसे युगो की विद्यमानता रही। बतला भी नही सकते क्योकि यह कोरी कल्पना मात्र है। यदि यहाँ पर यह मान लिया जावे कि प्रत्येक युग विकास के जिस लम्बे क्रम से चल रहा है, तीन चार सहस्र वर्ष का भी रहा हो तो ये ३१०० वर्ष बहुत ही थोडे पडेगे। कारण यह है कि इस नवपाषाणयुग के व्यतीत होने पर अकस्मात् ही तो लोग कूदकर कास्य और ताम्रयुग मे पहुँच नही गए होगे। मध्य का भी तो कुछ समय ताम्र तक पहुँचने मे ज्ञान के विकास मे लगा होगा। पुन उस युग के समाप्त होने पर इसी प्रकार ताम्रयुग और पुन इसी क्रम से लोहयुग आया होगा। इस प्रकार नवपाषाण-युग से लोहयुग तक पहुँचने मे ही बारह, पन्द्रह सहस्र वर्ष लग गये होगे। फिर पाच सहस्र वर्ष की क्या स्थिति बनती है। क्या ये सारे युग एक-एक सहस्र ही वर्ष मे समाप्त हो गये ? क्या सृष्टि की रचना के सब पाच-छ ही सहस्र वर्ष हुए है। साथ ही इस आधार पर जब कि नवपाषाणयुग का प्रारभ ३१०० वर्ष पूर्व हुआ तो अब तक लोहयुग आया ही नही मानना पडेगा। दूसरी एक कठिनाई यह है कि बारह-पन्द्रह सहस्र वर्ष का यह समय वैदिक एज के कर्त्ता के माने वेदकाल के साथ समन्वय नही खावेगा। इस दृष्टि से तो नवपाषाणयुग ईस्वी सन् से ग्यारह-बारह सौ वर्ष पूर्व होना चाहिये तब जाकर वेदकाल पर्यन्त लोहयुग का समय आ सकता है। ऋग्वेद मे तथा यजुर्वेद आदि मे लोहे का वर्णन मिलता है। हम तो ऐसा मानते नही परन्तु वैदिक एज के कर्त्ता ईसा से एक सहस्र वर्ष पूर्व ही वेद का काल मानते है। परन्तु हिसाब लगाने से जो नवपाषाणयुग का समय बनता है उसके अनुसार या तो अभी तक लोहयुग आया ही नही—यह मानना पडेगा वा यह स्वीकार करना पडेगा कि नवपाषाणयुग पाच सहस्र वर्ष पूर्व न होकर २०-२५ सहस्र वर्ष पूर्व प्रारभ हुआ होगा। किसी भी अवस्था मे ऋग्वेद के उसके माने काल की सगति बैठती नही।

1 यह सब मत डा सम्पूर्णानन्द द्वारा 'वैदिक साहित्य' पुस्तक की भूमिका में दिए गए हैं। इस पुस्तक के लेखक रामगोविन्द त्रिवेदी हैं। अन्य पुस्तकों में भी ये ही परिणाम निकाले गए हैं।

ऋग्वेद में केवल अयस् लोहे का ही नही वर्णन है लोह और स्वर्णनिर्मित वस्तुओं का भी वर्णन है। ऋग्वेद १।८०।१२ मे आयस अयोनिर्मित बज (आयस वज्र) का वर्णन है। ऋग्वेद १।५८।८ मे आयसी पुरियो का वर्णन है। ऋग्वेद २।२०।८ मे भी आयसी पुरियो का वर्णन है। और तो और ऋग्वेद १।११६।१२ आयसी-लोहनिर्मित जङ्घा और १।११६।१३ मे स्वर्णनिर्मित हस्त का वर्णन भी मिलता है। जब पाषाण से लोह तक आने मे इतना समय बीत गया तो फिर स्वर्ण का ज्ञान तो बहुत देर बाद हुआ होगा। तो क्या वेद मे हजारो वर्ष बाद मे आने वाले युग का पूर्व ही वर्णन कर दिया गया।

इसी प्रकार ऋग्वेद ४।३०।२० मे अश्ममयी नगरी का भी वर्णन है। यजुर्वेद १८।१३ मे एकत्र हा अश्मा, मृत्तिका, गिरि, पर्वत, सिकता, वनस्पति, हिरण्य, अयस्, श्याम, लोह, सीसा, त्रपु आदि का वर्णन है। इस वर्णन से किसी धातु की पूर्वापरता अथवा युग का वर्णन बनता नही। जब नवपाषाणयुग ३१०० वर्ष पूर्व ईस्वी है और ऋग्वेद की रचना एक सहस्र ईस्वी पूर्व है तो अश्म-लोह का वा धातुवो का वर्णन ऋग्वेद म आना नही चाहिए। क्योकि ज्ञात विकास मे पाषाण से अयस् तक आने में तीन सहस्र नही कई सहस्र अधिक वर्ष चाहिए।

इसके अतिरिक्त यह युग-कल्पना मानव के पृथिवी पर अवतरित होने के समय से भी नही मेल खाती है। प्रागुत्तराश्मकाल की एक खोपडी (Neanderthal Skull) की प्राप्ति स्वीकार की जाती है। यह खोपडी जिस शिर की है वह योरुप मे सबसे बडा समझा जाता है। यह खोपडी ११४ क्यूबिक इच है। योरुप मे छोटे से छोटा शिर ५० क्यूबिक इच और बडे से बडा ७५ क्यूबिक इच पाया गया है। यह शिर बता रहा है कि वर्तमान समय मे योरुप वासियो की मानसिक शक्ति बढ नही रही है। 'Englis Skull' के विषय मे प्रसिद्ध विकासवादी प्रोफेसर हक्सले का कहना है कि आधुनिक योरुपियनो की खोपडी से यह खोपडी बडी है। सन् १८८३ मे एक शिर हालैण्ड मे निकला है जो योरुपनिवासियो के शिरो के औसत घेरे से बडा है। इसका घेरा १५० क्यूबिक इच है। इसी प्रकार पुरातत्वज्ञो और भूगर्भ-शास्त्रियो ने Haling Section को २५००० वर्ष पुराना स्वीकार किया है। इसका घेरा भी १५० क्यूबिक[1] इच है।

अगस्त सन् १९२३ के थियोसोफिकल पाथ मे हैनमन् ने लिखा है कि नेवदा (Nevada) मे जॉन टी रीड को एक आदमी का पदचिह्न और एक अच्छी प्रकार बना हुआ जूते का तला मिला है जिसे वह पाषण विपयक भू-गर्भशास्त्र के नियम से ५० लाख वर्ष प्राचीन बतलाते है।

अब इन युग-कल्पना वालो से पूछना चाहिए कि जब मानव २५ हजार वा ५० लाख

1 वैदिक सम्पत्ति पृष्ठ २१४।

वर्ष पूर्व पृथिवी पर अवतरित हो चुका था तो आज से पाँच सहस्र वर्षपूर्व अर्थात् इनके कल्पित नवपाषाणयुग तक पूर्वपाषाणयुग अथवा निकम्मी अवस्था मे ही पड़ा रहा। कोई भी उन्नति उसने की नही, केवल ईसा से १ सहस्र वर्ष पूर्व ही लोहयुग मे आया और वेद भी रच डाले ?। साथ ही जब जूते की सिलाई जो कि एक कला है उसें ५० लाख वर्ष पूर्व परिज्ञात थी तो फिर प्रश्न उठता है कि यह सूई जिससे सिलाई की गई पत्थर की थी वा लकडी की, अथवा मिट्टी वा हड्डी की थी। ये युग की कल्पना करने वाले ही बतलावे। इसमे यह ज्ञात है, नही, नही, सर्वथा सिद्ध है कि यह युग की कल्पना सर्वथा ही निराधार है।

यहाँ पर एक बात और भी लिखना आवश्यक है। वह यह कि जब पाषाण-युग से लोहयुग तक आने मे इतना समय मानव को लगा तो फिर कपडा बुनने, सीने, कपास का ज्ञान करने आदि मे कितना समय लगा होगा। वस्त्र तो आजकल की देन होगी। फिर वेद जो इतनी प्राचीन पुस्तक है उसमे इसका वर्णन किस प्रकार आ गया। क्या आजकल की बात को पहले ही लिख दिया गया। ऋग्वेद। १०।१०१।८ मन्त्र मे लिखा है कि वर्म=वस्त्र को सीकर बनावो और मकान=पुरी लोह की बनावो[1]। यहाँ वस्त्र सीना और लोह का प्रयोग दोनो ही वर्णित है। इससे क्या यह समझा जावे कि बहुत काल बाद जब लोगो का कपडा बनाने और सीने का ज्ञान हुआ तब ये वेद मन्त्र बनाये गये—वा जब मिश्र मे रुई पैदा की जाने लगी तब वहीं पर ये मन्त्र भी बन गये ? कहना पडेगा कि जिस प्रकार यह युग-कल्पना गलत है उसी प्रकार वेद मे इतिहास-निर्धारण सामग्री का वर्णन करना भी गलत है।

लोहयुग कब आया इसका वर्णन ठीक तौर पर कोई भी नही कर सक रहा है। ऋग्वेद म लोह का वर्णन आया है और वह ईसा के जन्म से १००० वर्ष पूर्व का है—आदि कल्पनाये एक दम अटकल-पच्चू गप्प है। सुश्रुत ग्रन्थ आयुर्वेद का प्राचीन ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ धन्वन्तरि के शिष्य सुश्रुत का है। सुश्रुत का समय महाभारत से लगभग २७०० वर्ष पूर्व का है। सुश्रुत विश्वामित्र ऋषि का पुत्र था। आत्रेय पुनर्वसु और धन्वन्तरि द्वितीय लगभग समानकालिक है। आत्रेय पुनर्वसु भिक्षु आत्रेय नही है। यह प्राचीन आचार्य है। इनका समय महा-भारत से लगभग २७०० वर्ष पूर्व है। यह त्रेता के अन्त मे हुये थे। आयुर्वेद के ग्रन्थो से यही पता इनके इतिहास के विषय मे चलता है। धन्वन्तरि का पुनर्वसु आत्रेय ने चरक मे शारीरिक स्थान मे ६।२१ पर गर्भ के विषय मे किया है[2]।

---

1 वर्म सीव्यध्व बहुला पृथूनि पुर कृणुध्वमायसीरधृष्टा ऋ १०।१०१।८

2 सर्वांगाभिनिर्वृत्तिर्युगपदिति धन्वन्तरि। चरक शारीरिक स्थान ६।२१
दाहे धान्वन्तरीयाणामत्रापि भिषजा बलम्। चरक चिकित्सा० ५।६३

महाभारत मे २५०० वर्ष पूर्व का तात्पर्य है कि आज से लगभग ८ सहस्र वर्ष पूर्व। सुश्रुत ग्रन्थ के सूत्रस्थान मे शल्य चिकित्सा के साधनभूत अवजारो का वर्णन है। ये अवजार बहुत ही परिष्कृत हैं। क्योकि इनसे शल्य क्रिया (Surgery) की जाया करती थी। ये कितने तीक्ष्ण अवजार थे इसका वर्णन करते हुये अपनी पुस्तक (Ancient and Mediaeval India) मेनिग लिखती है कि 'ये शल्य चिकित्सा के यंत्र इतने तीक्ष्ण थे कि बाल को भी खडे खड फाड सकते[1] थे।" शल्यचिकित्सा के विषय मे वेबर ने कहा है—"भारतीय शल्य चिकित्सा मे विशेष दक्षता को प्राप्त थे। इस विषय मे योरूपियन सर्जन अब भी उनसे कुछ सीख सकते हैं जैसा कि वस्तुत. इन्होने पूर्व ही कृत्रिम नाक और कृत्रिम कान बनाने की शल्य क्रिया का उधार लिया है[2]। इसी प्रकार प्रसिद्ध इतिहासज्ञ एल्फिन्स्टन भी कहते हैं कि हिन्दुवो की शल्य चिकित्सा भी औषध चिकित्सा की ही तरह प्रशस्त थी[3]।" सर विलियम हण्टर ने भी ऐसे ही विचार प्रकट किये हैं[4]—'प्राचीन भारतीय डाक्टरो की शल्य चिकित्सा प्रबल और दक्षतापूर्ण थी। उदर, गर्भ, आन्त्र, भगन्दर, अर्श आदि की चिकित्सा ये लोग शल्य-क्रिया से करते थे। डाक्टर सील का कथन है कि भारतीय हिन्दु पोस्ट-मार्टम और गर्भ की शल्य क्रिया आदि सभी करते थे[5]।" इन प्रमाणो से यह सिद्ध है कि

1 'The Surgical instruments of the Hindus were sufficiently sharp, indeed, as to be capable of dividing a hair longitudinally
— Ancient & Mediaval India'

2 The Indians seem to have attained a special proficiency, and in this department, European surgeons might perhaps even at the present day still learn something from them as indeed they have already borrowed from them the operation of Rhinoplasty (making artificial noses and ears) - Weber's History of Sanskrit Literature quoted here from Real Hiduism by G C Narang Page 26

3 Their surgery is as remarkable as their medicine
—History of India by Elphinstone

4 The surgery of the ancient Indian physicians was bold and skilful They conducted amputations in the abdomen and uterus, cured hernia fistula piles, set broken bones and dislocations A special branch of surgery was devoted to rhinoplasty which European surgeons have now borrowed —'History of India' I v Sir William Hunter

5 The Hindus practised dissection of dead bodies, post-mortem operations as well as major operations in obstetric surgery were availed of for embryological observations
—'Real Hinduism' by Dr G C Narang Page 26

सुश्रुत में जिन शल्य यंत्रो का वर्णन है वे परिमार्जित थे। अब ऐसी स्थिति मे जब ईसा के जन्म से लगभग छ सहस्र वर्ष पूर्व लोहे का प्रयोग ही नहीं शल्य क्रिया के परिमार्जित यन्त्रो का प्रयोग आर्यों को ज्ञात था तो फिर आज से पाच सहस्र वर्ष पूर्व भी नवपाषाणकाल का प्रारभ हुआ यह कल्पना सर्वथा ही निकाम्मी है। सुश्रुत से पूर्व भी ग्रन्थ थे। यह तो वेद का उपाग है। इसमे वेद का स्वय वर्णन मिलता है। वेद उससे भी प्राचीन काल से उपस्थित है। फिर वेद का काल ईसा से १००० वर्ष पूर्व का मानना भी गलत है। वेद के उपवेद आयुर्वेद का सुश्रुत शास्त्र ही छ सहस्र वर्ष पूर्व उपस्थित था तब वेद बाद मे १००० वर्ष ईसा से पूर्व बने होंगे कितनी थोथी कल्पना और असत्य कल्पना है। भला वेद का उपवेद पहले बन गया और वेद बाद को बने होगे --इस बात को कौन बुद्धिमान स्वीकार करेगा। इस प्रकार यह सुतराम् सिद्ध है कि यह युगों की कल्पना अतथ्यभूत कल्पना है। इसमे कोई तथ्य नही।

इस प्रकरण मे यह दिखलाया गया कि कितनी अतथ्य कल्पनावो को पाश्चात्यो ने हम पर लादा है। जब तक इन कल्पनावो से ऊपर न उठा जावेगा तब तक इतिहास का सच्चा रूप सामने नही आ सकेगा। इसके अनन्तर अगले प्रकरणो मे भूगर्भ-शास्त्र और भाषा विज्ञान पर विचार किया जावेगा। इन पर विचार करके यह भी दिखलाया जावेगा कि इतिहास के निर्धारण मे ये भी साधन ठीक नही है। भाषा-विज्ञान तो सर्वथा कोरी कल्पना है। उसे विज्ञान कहना भी विज्ञान को कलकित करना होगा। जो स्वय अपना कोई नियम न रखे और अपने को ही काटता हो वह विज्ञान किस प्रकार हो सकता है।

अध्याय ३

भूगर्भशास्त्र और इतिहास

जहाँ अन्य अनेक मान्यतायें इतिहास के विषय मे विदेशियो ने कर रखी हैं वहाँ भूगर्भशास्त्र को भी इतिहास के निर्णय मे लाकर प्रविष्ट कर दिया है। इससे इतिहास के निर्णय मे कितनी तथ्यता और कितनी अतथ्यता है —इस पर भी इस प्रकरण मे विचार किया जाता है।

भूगर्भशास्त्र (Geology) एक ऐसा विज्ञान माना जाता है जो पृथिवी की बनावट और उसके इतिहास तथा विशेष रूप मे पृथिवी के सान्द्रमण्डल (Lithosphere) का निर्माण करने वाली चट्टानो के स्वरूप और मूल अवस्था को बतलाता है। यह पशु और वनस्पति आदि के उन ढाँचो के अध्ययन मे भी सम्बद्ध है जो निखातित अथवा अश्मीभूत (Fossilized) अवशेषो से प्रमाणित होते है। सक्षेप मे मुख्य रूप से पृथिवी के घने मण्डल को बनाने वाली चट्टाने तीन प्रकार की आकृतित की जाती है। १ —प्रथम श्रेणी की चट्टाने वे है जो अवसादित (Sedimentary) हैं। इनमे खडिया मिट्टी, चूने का पत्थर (Lime stone) और रेतीला पाषाण (Sand stone) आदि आते हैं जो नग्नीकरण (Denudation) अथवा अन्य साधनो से मूल अधोजनित (Plutonic) चट्टान मे प्रविलीन हुए है और नदी तथा समुद्र के किनारो की पर्तों पर एकत्र हो गए है। २ —दूसरी चट्टाने आग्नेय अथवा अधोघनित है जो मूल चट्टाने हैं और किसी समय पृथिवी के निर्माण की मूलभूत द्रवीभूत लचकीली (Plastic) सामग्री के जमने पर इस वर्तमान रूप मे आई है। कणाश्मक (Granite) इसमे ही परिगणित होता है। ३ —तीसरी चट्टाने वे है जो कि आग्नेय और अवसादित चट्टानो के परिवर्तन से बनी है। इन्हे परिवर्तित चट्टान (Metamorphic rocks) कहा जाता है।

अवसादित चट्टानो (Sedimentary rocks) के भी उनसे प्राचीन अवस्था और युगो के क्रम से लेने पर नीचे लिखे प्रकार होते हैं —

(क) पूर्वत्रिखण्ड[1] (Pre-Cambrian)
त्रिखण्ड (Cambrian)
अवर प्रवाल आदि (Ordovician)
प्रवाल आदि (Silurian)

---

1. The Great Encyclopeadia of Universal Knowledge, Page 499

मत्स्ययुगीन (Devonian)
पुराने रेतोऽश्म (Old Red Sandstone)
अगारभर अथवा कोयलामय (Carboniferous)
गिरियुगीन (Permian)

इन सभी चट्टानो का सम्बन्ध आद्यकल्प (Archean) और प्रथम शृखला से है।

(ख) रक्ताश्म (Triassic)
महासग्ट (Jurasic)
खडियायुगीन (Cretaceous) - चट्टाने जो कि द्वितीय शृखला मे आती हैं।

(ग) प्रातिनूतन (Eocene)
आदिनूतन (Oligocene)
म-यनूतन (Miocene)
अतिनूतन (Pliocene)

प्रातिनूतन (Pleistocene) - ये तृतीय शृखला (Tertiary series) से सम्बन्ध रखती है। इनमे प्रातिनूतन चट्टाने (Pleistocene rocks) बहुत ही नवीन है। इसके अतिरिक्त और भी पर्ते इनसे पृथक् भी हैं जो निर्माण के क्रम मे है और चतुर्थ शृखला (Quaternary series) की कही जाती है। पुरानिखातिकीविद्या (Paleantology) भी इसी की एक शाखा है जो घनीभूत मण्डलो (Fossils) का परीक्षण करती है और इनके समय का निर्धारण करती है। इस विद्या का विस्तार एच सी सोर्वी (१८२५-१६०८) ने किया है।

इसके इतिहास पर भी थोडा सा विचार यहाँ पर किया जाना अपेक्षित है। प्रथम व्यक्ति स्टेनो है जिसने भूगर्भ सम्बन्धी चट्टानो के कई वादो का विस्तार किया। वह इटली का था और १६६६ मे निम्न बातें प्रचलित की —

१ प्राथमिक चट्टाने (Primary rocks) जो निखातक (fossil) से रहित हैं और भूमि की रचना की समकालिक हैं।

२ द्वितीय चट्टाने (Secondary rocks) जो कि निखातयुत (fossiliferous) हैं और भूमि की रचना क अनन्तर बनी है।

इसके बाद लीबनिट्ज़ ने सन् १६८० मे चट्टानो को निम्न प्रकार से विभाजित किया —

१. स्तरीभूत (Stratified) जो जल मे एकत्र होने से उत्पन्न हुई चट्टानें।

२ अस्तरीभूत (Unstratified) जो आग्नेय द्रवीभाव (Igneous fusion) की परिणामभूत चट्टानें। इस विद्वान् ने यह भी बतलाया कि पृथिवी का मूल आग्नेय तत्व है और यह प्रथम आग्नेय द्रवीभाव की अवस्था मे थी।

लेहमान महोदय ने १७५६ ई० मे चट्टानो को तीन भागो मे विभक्त किया—

१ सर्वप्राचीन प्राथमिक चट्टाने।

२ द्वितीययुगी चट्टाने।

३ तीसरी श्रेणी की चट्टाने।

श्री वर्नर ने निम्न श्रेणियाँ निर्धारित की—

१ प्राथमिक (Primitive)

२ मध्यवर्ती (Transitional)

३ द्वितीय श्रेणी (Secondary)

४ जलोढ (Alluvial)

वर्नर ने यह भी बतलाया कि भूमि पूर्वावस्था मे एक ऐसे विप्लुत समुद्र से सम्बद्ध थी जिसमे सभी प्रकार की चट्टानो की सामग्री का द्रव था। इस वाद का नाम वारुणवाद (Neptunian Theory) था।

स्काटलैण्डवासी हटन (१७८८-१७९५) ने निम्न विचारधारायें इस विज्ञान के विषय मे प्रस्तुत की :—

१ यह पृथिवी मानना पडेगा कि आग्नेय द्रवीभाव की अवस्था मे थी जब तक कि अग्नि का एक अंश समीपवर्ती आकाश मे प्रज्वलित नही हुआ। इसके प्रज्वाल से द्रव का तल जमने लगा और इसने कणाश्म (Granite) घनीभूत स्तर को उत्पन्न किया।

२ इसके अनन्तर शैत्यीकरण प्रारभ हुआ और जलीय वाष्प का वायुमण्डल मे जमाना प्रारभ किया।

३ इस जमाव ने वर्षा उत्पन्न की जिसने प्रथम तापीय समुद्र (Thermal ocean) को उत्थान दिया।

४. इस उबलते हुए समुद्र का तापमान बहुत अधिक था और इसमे रहने वाली जलीय वस्तुवो के अनुकूल होने से भी अति अधिक था। ये वस्तुये अधिक स्फाटिक थी और परिणामतः दलाश्म, अभ्रक और सुभाजा (Schist) आदि को उत्पन्न किया।

५ कणाश्म (Granite) का कठिन स्तर अंशत टूट कर पानी पर भूमि और शैल उगने लगे। जब वर्षा और जलधारा ने चट्टानो को चूर्ण किया और अवसादित कणो को समुद्र के तल पर फैलाया।

१ उबलता पानी, प्राज्वल्यमान भूमि और पर्वत क्रमश उस अंश तक ठण्डे हुए कि उन पर जीवन धारण हो सके और छोटी अवस्था से क्रमिक जीवन विकास प्रारम्भ हुआ।

१९वीं शती मे विलियम स्मिथ ने इसमे वैज्ञानिक वृद्धि की जबकि सर चार्ल्स लाइल्स ने (१८३०-३३) भूगर्भ के सिद्धान्त (Principles of Geology) को प्रकट किया था। प्रोफेसर जो न डब्ल्यू जड ने अन्य कई विद्वानो का नाम दिया है जिन्होंने इस विज्ञान मे अपना भाग दिया है।[1]

इस प्रकार भूगर्भ-शास्त्र के अनुसार तीन अवस्थाये बनती हैं—

प्राथमिक (Primary)

द्वितीय (Secondary)

तृतीय (Tertiary)

चतुर्थ अब प्रारभ है जिसे चतुर्थ (Quaternary) कहा जाता है। पृथिवी के समस्त विकास को इन्ही शृखलावो मे बाटा गया है।

हिमयुग—इसी से सम्बन्ध रखते हुए हिमयुग का भी वर्णन किया जाया करता है। उसका यहाँ पर सक्षेप मे वर्णन करना विषयान्तर न होगा। हिमयुग के विषय मे जो बाते मिलती हैं वे इस प्रकार है। यह भौगर्भिक घटना है जो हमारी वर्तमान अवस्था से पूर्व की है। यह ही प्रातिनूतन (Pleistocene Period) युग के नाम से भी जानी जाती है। इस युग मे जो कि कई सहस्र वर्षों का था पृथिवी के तल पर आज की अपेक्षा तापमान का विभाजन बहुत ही भिन्न था। उत्तरी योरुप और उत्तरी अमेरिका का बहुत बडा भाग और किसी रूप म समस्त ब्रिटेन ध्रौव (Arctic) अवस्था मे था और हिम के क्षेत्र मे आच्छादित था[2]।

यहाँ यह स्पष्ट है कि हिमयुग का समय प्रातिनूतन युग है। इसके निश्चित काल के विषय मे और विशेषत विभिन्न हिमपाता और इनकी विद्यमानता के विषय मे अनेको विचार पाये जाते है। इन्साइक्लोपीडिया के दशम सस्करण (१९०३) के अनुसार कुछ अमेरिकन भूगर्भशास्त्रियों के मत से हिमपात का समय आठ दशसहस्र वर्ष पूर्व का है। उत्तर ध्रुव निवास मे यद्यपि सामजस्यपूर्ण वर्णन नही पाया जाता है क्योकि कई बाते परस्पर विरोधी है, लगभग यही दशसहस्र वर्ष पूर्व का समय स्वीकार किया गया है। परन्तु इस ग्रन्थ मे एक विशेषता और वर्णित की गई है। यद्यपि उसके लिए कोई प्रमाण नही मिलता है। वह विशेषता यह है कि हिमकाल और हिमान्तर काल इस गोलार्ध मे एक के पश्चात् दूसरे के क्रम से प्रति १०५०० वर्षों मे होते

1 The Student's Lyell, Page 5 Edition 1896 and readers should see N B Pavnagee's book 'The Vedic Fathers of Geology' for more informations

2 Encyclopeadia of Universal Knowledge, Page 497.

रहते हैं[1]। यह वर्णन यद्यपि इस घटना को सृष्टि का एक नियम सिद्ध करता है परन्तु इस विषय में कोई प्रमाण मिलता नही।

डाक्टर क्राल के अनुसार अन्तिम हिमयुग आज से दो लाख चालीस सहस्र वर्ष पूर्व आरम हुआ था और ८० सहस्र वर्ष पूर्व समाप्त हुआ था[2]। प्रोफेसर गीकी और दूसरे भूगर्भ-शास्त्रियो का विचार है कि पाँच हिमपात और चार मध्यवर्ती हिम-पात हुये हैं और इनका समय ८००००[3] वर्ष का है। नियाग्रा प्रपात को देखने के लिए श्री लायल १८४१ ई० मे गये और परीक्षणों के अनन्तर निश्चय किया कि हिम-युग की समाप्ति का समय लगभग ३१००० वर्ष है। प्रोफेसर जे डब्लू स्पेन्सर का आकृतित समय भी सर चार्ल्स लाइल से मिलता-जुलता अर्थात् २००० वर्ष है। जोन डब्लू[4] जड का विचार है कि त्रिखण्डयुग(Cambrian) से प्रारंभ करके विभिन्न आकलनो से आज तक का समय सात करोड वर्ष से लेकर छ अरब वर्ष तक होता है।

इसके अतिरिक्त डाक्टर क्राल ने गणित द्वारा भी इसका काल बतलाया है। वे कहते हैं कि पृथिवी की केन्द्रच्युति ३० लाख वर्ष मे तीन बार हुई। पहली बार एक लाख सत्तर सहस्र वर्ष की, दूसरी बार दो लाख साठ हजार वर्ष की और तीसरी बार एक लाख साठ सहस्र वर्ष की। इस अन्तिम केन्द्रच्युति को बीते ८० सहस्र वर्ष हो चुके हैं।

समीक्षा—ऊपर भूगर्भशास्त्र का विस्तृत वर्णन किया गया। जहाँ तक पृथिवी की रचना के विज्ञान का सम्बन्ध है उसके विषय मे सृष्टि रचना विज्ञान (Cosmology) से कार्य लिया जा सकता है। अगर इस विभाग को ही जो केवल पृथिवी की रचना पर विचार करता है भूगर्भ शास्त्र का नाम दिया जावे तो कोई आपत्ति नही हो सकती है। परन्तु भूस्तरो, चट्टानो आदि के द्वारा पृथिवी का इतिहास, उनका समय और हिमयुगो का निर्धारण ऐसी वस्तुवे है जो इस विज्ञान मे बलात् प्रक्षिप्त कर

---

1 In short, the glacial and Interglacial period in the hemispheres will alternate with each other every 10500 years if the eccentricity of the earth be sufficiently great to make a perceptively lagre difference between the winter and summer in each hemisphere —Arctic Home in the Vedas Page 38.

2 See Dr. Croll's Climate & Time, and clima e & cosmology

3 See N B Pavgee's book The Vedic F thers of Geology' Page 84.

4 See 'Student's Lyell' by J h W Judd Page 592 edition 1896 and also Pavgees book, Page 85

की गई हैं। इनके प्रवेश से इस विज्ञान का रूप विज्ञान नहीं रह गया, केवल कल्पना बन गया है। पुरासात्विकी विद्या (Paleantology) को इसमे सम्बद्ध क ने से यह विज्ञान और भी कल्पित वस्तु बन गया है।

भूगर्भ-शास्त्र यदि सत्यत विज्ञान है तो ऊपर दिखाये गये युगों के विषय मे मतभेद क्यो है। उनका ठीक-ठीक काल क्यो नही निर्धारित हो पाता। यह भेद ही बतलाता है कि यह वास्तविक विज्ञान नही है। यही स्थिति शृखलावो के विषय मे है। प्रथम शृखला से लेकर तृतीय युग (Tertiary period) और चतुर्थ युगो मे प्रत्येक का क्या समय है यह विज्ञान निश्चित बतला नही पा रहा है। पृथिवी के निर्माण की सामग्री बताना और बात है परन्तु उस सामग्री का इतिहास और काल बताना तथा प्राणियो की उस पर स्थिति का इतिहास बतलाना अन्य बात है और यह भूगर्भ के शास्त्र से सभव नही। मानव ने अपनी हठधर्मी से इस विज्ञान मे जो इतिहास-निर्णय आदि को प्रविष्ट कर रखा है वह इस विज्ञान के स्तर को नीचे गिरा रहा है।

यदि यह विज्ञान तात्विक विज्ञान है तो फिर यह पृथिवी की आयु ही ठीक-ठीक क्यो नही बता देता। पृथिवी की आयु इस विज्ञान के अनुसार दश करोड[1] वर्ष की है। जब कि पृथिवी मे उत्पन्न रेडियो ऐक्टिव के द्वारा यह काल सैंतीस करोड वर्ष के लगभग होता है और ऊपर दिखाए गए श्री जोन डब्लू जड के मतानुसार त्रिखण्डयुग से आरम्भ करके विभिन्न आकलनो से सात करोड वर्ष से लेकर छ अरब वर्ष तक ये समय जाते हैं। यह इतना बडा विरोध क्यो ? क्या विज्ञान का यही स्तर और यही उदाहरण है।

दूसरी कमी यह भी है कि पृथिवी के स्तरो की गणना मे भी विकासवाद समाया हुआ है। इन तमाम युगो की कल्पनाओ का सूत्रधार यह मन.प्रसूत अवैज्ञानिक वाद ही है। पहले लोह आदि युगो के प्रसग मे वर्णित नेवादा के जूते की एँडी और मानव खोपडी के आधार पर यह बतला दिया गया है कि विकासवाद कोई दार्शनिक और वैज्ञानिक वाद नही यह तो मन की उडान है।

भूगर्भशास्त्र जिस रीति से भूस्तरों के द्वारा पृथिवी की आयु और इन युगो के काल का अन्दाजा लगाता है वह नितान्त ही भ्रामक है। पृथिवी का एक स्तर कितने समय मे बनता है यह जानना तो बहुत दूर की बात है, इतना भी इससे नही जाना जा सकता है कि एक स्तर कहा किसे जाता है। यह सर्वज्ञात सत्य है कि वर्षा के कारण पृथिवी मे एक स्तर प्रति वर्ष पड जाता है। वह कितना पतला

1 'The Age of the Earth'' by Arthur Holmas B Sc, A R C. S

होता है और स्थान-स्थान पर उसके कितने भेद हो जाते हैं। परन्तु कई वर्षों के बाद जब कोई कुआं खोदा जाने लगता है तो रेत, कंकड, काली मिट्टी और सफेद मिट्टी आदि के अनेक परत दिखाई पडते हैं, जो एक फुट, दो फुट, चार फुट आदि की मोटाई के होते हैं। परन्तु उन पतले पर्तों का कही नाम-निशान तक नही दिखाई पड़ता जो प्रति वर्ष वर्षा से बनते हैं। ये बारीक परत कहाँ चले गए ? इसका समुचित समाधान यही है कि पृथिवी के दबाव के कारण कई वर्ष मे ये पतले-पतले पर्त मिलकर एक हो गए। इसी प्रकार पृथिवी के अत्यन्त नीचे वाली चट्टानें (Metamorphic Rocks) भी दबाव और उष्णता के कारण पिघलकर ही बनती है। मेटामार्फिक शब्द ही इस रहस्य को प्रकट कर रहा है। इसका अर्थ परिवर्तित वा रूपान्तरित है। पृथिवी के इस दबाव और पिघलाव से अनेक पर्त्तें अपने अस्तित्व को खोकर एक हो जाती है। इन प्रतिवर्ष की पर्तों का वर्षांतरो मे एक बन जाना और परिवर्तित चट्टानो का निर्माण यह सिद्ध करता है कि पृथिवी के स्तर ज्यो के त्यो नही रहते हैं। उनके रूपो मे अन्तर पड जाता है। इसके अतिरिक्त इन पर्त्तों की रूपो का भी कोई स्थिर सिद्धान्त नही निकाला जा सकता है। एक ही स्थान पर एक कुवा खारा है और दूसरा मीठा है। एक मे पर्त्त बालू का है तो दूसरे मे उतनी ही गहराई पर लाल मिट्टी की पर्त्त है। ऐसी अवस्था मे यह नही कहा जा सकता है कि सब स्तर समान लेवल पर है। यह भी नही कहा जा सकता कि सबकी मोटाई समान है। और यह भी नहीं कहा जा सकता है कि सबमे एक ही वस्तु विद्यमान है। ऐसी दशा मे यह अनुमान नही किया जा सकता है कि जो स्तर यहाँ इतने दिनो मे हो पाया होगा वही दूसरी जगह मे भी उतने ही दिनो मे हो सका होगा। इसी प्रकार बर्फ की तहो के जाँच से भी विद्वानो ने निश्चय किया है कि बर्फ ससार मे सर्वत्र एक ही समय मे नही पडा। यह कठिनाई पूर्व कठिनाई को और भी द्विगुण कर देती है। जहाँ वार्षिक स्तरो का पता न हो, जहाँ पुराने से पुराने मोटे स्तरो का भी पता न हो और जहाँ एक प्रकार की समानता भी न हो वहाँ सारी पृथिवी और समस्त स्तरो की आयु का अन्दाजा थोडे से भूस्तरो के आधार पर लगा लेना कितना कठिन और अटकल-पच्चू है। इन कठिनाइयो के रहते हुए यही कारण है कि भूगर्भशास्त्र का निकाला समय सत्य नही हो सकता है। पृथिवी की आयु (The Age of the Earth) नामी पुस्तक के लेखक ने भी स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि भूगर्भ-शास्त्र की मर्यादा भी निश्चयात्मक नही[1] है। इस प्रकार भूगर्भशास्त्र की समीक्षा करके यह दिखलाया गया कि इस विज्ञान से इन युगो आदि का निर्णय नही किया जा सकता है।

---

1. The geological period is difficult to establish with certainty. (The Age of the Earth, Page 1 9)

भूगर्भविज्ञान और शास्त्रीय विचारधारा—जहाँ तक वर्तमान भूगर्भशास्त्र और उसके आधार पर युगो आदि के निर्णय का सम्बन्ध है— उस पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया। अब इस विज्ञान और एतत्सम्बन्धी शास्त्रीय विचारधारा पर कुछ विचार किया जाता है। आर्यों का पवित्र धर्मग्रन्थ वेद है जो अनेक ज्ञान-विज्ञानो से परिपूर्ण है। यह यहाँ पर भली प्रकार समझ लेना चाहिए कि वेद मे केवल विज्ञान का वर्णन है, किसी घटना अथवा इतिहास के किसी क्रम का वर्णन नही है। जो वेद मे किसी घटना का वर्णन मानकर उससे इतिहास के क्रम को सिद्ध करना चाहते हैं वे भ्रम मे है। वेद ईश्वरीय ज्ञान है। उसमे किसी देशकाल की घटना का वर्णन नही हो सकता है। विज्ञान का वर्णन वेद मे अवश्य है। वेद मे पृथिवी की रचना का सृष्टि-विज्ञान अवश्य वर्णित है परन्तु किसी तत्सम्बन्धी घटना का वर्णन नही। यह घटना का क्रम ब्राह्मण और शाखाओ आदि मे पाया जाता है जो कि वेदो के व्याख्यान है। विज्ञान वह है जिसके ही आधार पर प्रत्येक कल्प मे पृथिवी की रचना होती है। घटना वह है जो इस रचना के क्रम मे वर्तमान सर्ग म किसी समय घटी। भूगर्भ के विज्ञान अर्थात् पृथिवी रचना के विज्ञान को वेद निम्न प्रकार बताता है। प्रत्येक कल्प मे पृथिवी इसी प्रकार बनती है—

१ य पृथिवी व्यथमानामदृहत्।
२ य पर्वतान् प्रकुपितान् अरम्णात्। } ऋग्वेद ।१२।२

३ स प्राचीनान् पर्वतान दृहद्।
४ अधराचीनमकरोदपामप। } ऋग्वेद २।१७।५

५ अपामुपस्थे निभृतो यदावमत्। ऋ० १।१ ४।२

६ { स जायमान परमे व्योमन्याविरग्निरभवन्मातरिश्वने ऋ०।१।१४३।२
त्वमग्ने प्रथमो मातरिश्वन आविभव ऋ० १।३१।३

७ गीर्णं भुवन तमसापगूढमाविस्वरभवज्जाते अग्नौ।
तस्य देवा पृथिवी द्यौरुतापोऽरणयन्नोसधी सख्ये अस्य॥ १०।८८।२

८ आपो ह यद्बृहतीविश्वमायन् गर्भदधाना जनयतीरग्निम्। ऋ १०।१२७।६

९ या ओषधी पूर्वा जाता देभ्यस्त्रियुग पुरा।
मनै नु बभ्रूणामह शत धामानि सप्तच॥ ऋग्वेद १०।९७।१

इनके क्रमश अर्थ निम्न प्रकार हैं —

१ जो इन्द्र (परमेश्वर अथवा वायु वा अग्नि) शिथिल पृथिवी को दृढ करता है।

२ जो कपायमान पर्वतो को स्थिर करता है।

३ जो कम्पमान पर्वतो को दृढ़ करता है।

४ जो जल को नीचे की तरफ को करता है।

५ अग्नि पहले जल मे निवास करता है।

६ { परमाकाश मे अग्नि वायु के लिए प्रकट होता है।
यह अग्नि प्रथम मातरिश्वा वायु के लिए प्रकट होता है।

७ सारा भुवन पूर्वावस्था मे अन्धकार से आच्छादित रहता है और अग्नि के प्रकट होने पर व्यक्त हो जाता है। समस्त दिव्य पदार्थ, पृथिवी, द्यौ, जल और ओषधियाँ इस अग्नि के सख्य मे प्रफुल्ल होते है।

८ कारणभूत जलें गर्भ मे अग्नि को धारण करती हुई विश्व को प्रकट करती है।

९ ओषधियाँ मनुष्य से तीन चतुर्युगी पूर्व उत्पन्न होती है।

ये सिद्धान्तभूत नियम है जो वेदो मे इस विज्ञान के सम्बन्ध मे पाये जाते है। इन सिद्धान्तो को लेकर ब्राह्मण आदि ग्रथो मे विस्तार और क्रम आदि दिखलाया गया है।

तस्मादात्मन आकाश सम्भृत। आकाशाद्वायु। वायोरग्नि। अग्नेराप। अद्भ्य पृथिवी। पृथिव्या ओषधय। ओषधीभ्यो ऽन्नम्। अन्नात्पुरुष। तैत्तिरीयोपनिषद् ।२।१ अर्थात् परमात्मा की निमित्तता से प्रकृति से आकाश उत्पन्न हुआ। आकाश से वायु। वायु से अग्नि और अग्नि से जल। जल से पृथिवी और पृथिवी से ओषधिये। इनसे अन्न और अन्न से पुरुष उत्पन्न हुआ। यह एक वैज्ञानिक क्रम है जो उपनिषद् मे वर्णित है।

ब्राह्मणो म यह लिखा है और शाखाये भी यही बताती है कि एक अवस्था मे यह पृथिवी और द्यु साथ थे, बाद मे पृथक् हुये।

१ इमौ लोकौ सह सन्तौ व्यैताम्। जै० ब्रा० १।१४५

२ इमौ वै लोकौ सहास्ताम्। ऐत० ब्रा० ७।१०।१

३ सह हैवेमावग्रे लोकावासतु। श० ७।१।२ २३

४ इमे वै लोका महासन। ता० ब्राह्मण ८।१।६

५ द्यावापृथिवी महास्ताम्। तै० शाखा ५।२।३

६ इमे वै सहास्ताम्। मैत्रायणी शाखा ३।२।२

इन सबका अर्थ यह है कि सूर्य और पृथिवी पहले साथ ही साथ थे। बाद मे पृथक् हुए। पृथक् होने के प्रमाण नीचे दिए जाते है —

इमौ वै लोकौ सह सन्तौ व्यैताम्। जै० ब्रा० १।१४५

इमौ वै सहास्ताम्। ते वायुर्व्यवात्। तै० शाखा ३।४।३

इमे वै सहास्ताम् ते वायुर्व्यवात्। काठ० शाखा १३।१२

अर्थात् ये दोनों लोक एक दूसरे से पृथक् हुए। इनकी पृथक्ता वायु के द्वारा हुई। वायु ही प्रधान बल था जिसने इनको पृथक् किया। इसके अतिरिक्त इनका पृथक् करने वाला दूसरा भौतिक बल अग्नि है। सामवेद के प्रथम मन्त्र मे आए हुए 'वीतये' पद की व्याख्या करते हुए शतपथ ब्राह्मण ने इस विषय मे बहुत सुन्दर वर्णन किया है। ब्राह्मण ग्रथ यह कहता है कि यह 'वीतये' पद बतलाता है कि यह वि+इतये[1] है अर्थात् यह व+इति होता है। देवो ने इच्छा की कि ये लोक किस प्रकार पृथक् होवें। उन्होने इन (वीतये) तीन अक्षरो से पृथक् किया और ये लोक दूर-दूर हो गए। अर्थात् अग्नि ने इनको पृथक्-पृथक् किया। यहां पर वि=पृथक् और इति = गमन अर्थात् पृथक् गमन के लिए है। अग्नि ने भौतिक परिवर्तन किया और लोक पृथक् हुए। इसी बात को तैत्तिरीय शाखा भी पुष्ट करती है—'अग्न आयाहि वीतये' इससे ये सूर्य और पृथिवी दोनो लोक पृथक् हुए। यह 'अग्न आयाहि वीतये' जो कहा है वह इन दोनो लोको के पृथक् करने के लिए कहा गया है[2]।

प्रजापति=हिरण्यगर्भ वा विराट् की नव रचनाओ का यज्ञ की नव सृष्टियो से तुलना करते हुए शतपथ ब्राह्मण ६।१।१।१२—१३[3] मे इस विषय के एक महान् वैज्ञानिक क्रम को खोला गया है। वह इस प्रकार है कि "प्रजापति ने इस पृथिवी को इन जलो से रचने की इच्छा करते हुए मथित करके जलो से जो रस नीचे तत्व-सामग्री क्षरित हुई वह कूर्म=कश्यप प्राण हुआ। [यह कश्यप प्राण वह है जिसके द्वारा

---

1 अग्न आयाहि वीतये—इति। तद्वेति भवति वीतये-इति।
ते देवा अकामयन्त कथन्नु इमे लोका वितरा स्यु। तानेतैरेव
त्रिभिरक्षरे व्यनयन् वीतये—इति। त इमे विदूर लोका।
श० १।४।१।२२—२३

2 अग्न आयाहि वीतये—इतिवा इमौ लोकौ व्यैताम्
अग्न आयाहि वीतय—इति यदाह—अनयोर्लोकयोर्वीत्यै ॥
तैत्तिरीय शाखा ५।१।५

3 सोऽकामयत–आभ्योऽद्भ्योऽधीमा प्रजनयेयम्-इति ता सक्लिश्याप्सु प्राविध्यत्। तस्यै यः पराङ् रसोऽत्यक्षरत् सकूर्मोऽभवत्। अथ यदूर्ध्वमुदौक्ष्यत-इव तद् यदिदमूर्ध्वमद्भ्योऽधिजायते। सेयं सर्वाप एवानुव्यैत्। तदिदमेकमेव रूप समवृत्यत आप एव ॥१२॥ सोऽकामयत-भूय एव स्यात् प्रजायेतेति। सोऽश्राम्यत। स तपोऽप्यत। स श्रान्तस्तेपान फेनमसृत। सोऽवेद् अन्यद्वा एतद्रूपम्। भूयो वै भवति। स श्राम्याण्यव। स श्रान्तस्तेपानो मृदम्, शुष्काप-मूषसिकतम्। शर्कराम, अश्मानम् अय, हिरण्यम्, ओषधि वनस्पति असृजत। तेनेमां पृथिवीं प्राच्छादयत्। ३॥

जल और उसमे विद्यमान पार्थिव परमाणुओं की स्पष्टता हो जाती है। इसी को कूर्म अर्थात् पृथिवी का करने वाला तत्व कहा जाता है] और जो ऊपर समूहित रस था वह यह जल रूप रह गया। इसलिए भूमि जलो में जिस समय रहती है ऊपर जल ही जल दिखाई पडता है। पुन प्रजापति ने इसे आगे क्रम मे ले जाने के लिए प्रयत्न किया और अग्नि का ताप दिया और फेन पैदा हुआ। पुन यत्न किया तो मृतमिट्टी उत्पन्न हुई। पुन इससे शुष्काप उत्पन्न किया और पुन क्रमश ऊष, सिकता और शर्करा उत्पन्न हुये। शर्करा से पुन अश्मा और उससे अय=लोहा, हिरण्य=सोना, और ओषधि, वनस्पति उत्पन्न किये। इनसे प्रजापति ने पृथिवी को आच्छादित किया। यहाँ पर फेन, मृत, शुष्काप, ऊप, सिकता, शर्करा, अश्मा, अयोहिरण्य, ओषधि वनस्पति आदि कितने सुन्दर क्रम पृथिवी के रचना के दे दिये गए हैं। अब इस अवस्था की पृथिवी को जल से किस प्रकार स्पष्ट प्रकट किया गया इसके विषय मे शतपथ ब्राह्मण एक और भी विचार उपस्थित करता है। उसके अनुसार यह वर्णन है कि "यह पृथिवी पहले छोटी प्रादेश मात्र[1] थी। इसे ऐमूष वराह ने प्रकट किया।" यह ऐमूष वराह वस्तुत मेघ है। इसमे सूर्य की किरणे व्याप्त रहती है। ऋग्वेद[2] ८।७०।१० मन्त्र भी इस एमूष वराह का वर्णन करता है। यास्क और ब्राह्मण ग्रन्थो के अनुसार वर्+आहार्=जल को खाने वाला मेघ वराह है। आ ईम्+उष यहाँ भी निघण्टु मे (१।१२) जल के नामो मे 'ईम्' पडा है। अत जल को सब तरफ से अपने मे बसाने वाला होने से मेघ ही एमूष भी है। यहाँ पर यह प्रकट है कि मेघ ने पृथिवी को सन्तप्त अग्नि समुद्र से ठण्डा करके निकाला। शुष्काप पद का अर्थ पानी से सूखा भाग। यह ऊष से पूर्व की अवस्था होती है। जब अधसूखी थोडी जमीन होती है तब उसके ऊपर सफेद सोडा आदि का रूप दिखलाई पडता है जो क्षार के कारण होता है। अत वह ऊष वा ऊषर की अवस्था है। मैत्रायणीशाखा मे भी कहा गया है कि पहले पृथिवी शिथिल थी—प्रजापति ने 'शर्करा' से उसे दृढ किया[3]। तै० ब्राह्मण १।१।३ ७ मे भी लिखा है कि पृथिवी को शर्करा से दृढ किया[4]। इसके अतिरिक्त ब्राह्मणो मे अनेक स्थलो पर यह भी बतलाया गया है कि सिकता से शर्करा, शर्करा से अश्मा और अश्मा से अयस् लोहा बनता[5] है।

---

1 इयती वा इयमग्रे पृथिव्यास प्रादेशमात्री, तामेमूष इति वराह उज्जघान। शतपथ १४।१।२।११

2 वराहमिन्द्र एमुषम्।

3. शिथिरा वा इयमग्र आसीत् तां प्रजापति शर्कराभिरदृहत्। मै० १।६।३

4 तां शर्कराभिरदृहत्

5 सिकताभ्य शर्करामसृजत=शतपथ ६।१।३।५, शर्कराया अश्मानम् तस्माच्छर्कराश्मैवान्ततो भवति। श० ६।१।३।५, अश्मनोऽय श ६।१।३।५

अन्य प्रकार भी इस विषय मे तैत्तिरीय ब्राह्मण मे पाया जाता है। बतलाया गया है कि इससे पूर्व प्रलय काल मे कोई कार्य पदार्थ नही था। केवल असत्=अर्थात् कारण-सामग्री थी। उसको तपाया गया और धूम उत्पन्न हुआ। उसको फिर तपाया गया और अग्नि उत्पन्न हुआ। पुन तपाने से ज्योति उत्पन्न हुई। पुन अर्चि, पुन., मरीचिये और पुन ज्वालाये, और पुन मेघ उत्पन्न हुआ। उसका भेदन किया और समुद्र उत्पन्न हुआ। पुन ये जले जा सलिल थी — ये पार्थिव कणो से युक्त थी। इस जल मे प्रजापति ने पुन श्रम किया और पृथिवी उत्पन्न हुई[1] पुन इसी ब्राह्मण मे कहा गया हे कि पूर्वकाल म जले सलिल रूप मे विद्यमान थी। प्रजापति ने श्रम किया। उसने एक पुष्करपण=अन्तरिक्षपर्ण=फेन को देखा। वह प्रजापति मेघ का रूप कर उसमे डूबा और पृथिवी को नीचे प्राप्त किया। उसने उपमज्जन किया और पुष्कर-पर्ण पर पृथिवी का विस्तार किया। इसी से इसका नाम पृथिवी अर्थात् विस्तार की हुई'[2] है।

तैत्तिरीय शाखा मे लिखा है कि पहले जले सलिल रूप मे थी। उसमे प्रजापति ने वायु होकर विचरण किया। उसने इस पृथिवी को देखा और मेघ होकर इसको लाया। विश्वकर्मा होकर इसको विमृष्ट किया और यह फैल गई— इससे यह पृथिवी होगई'[3]।

इन सभी वर्णनो म यह प्रकट होता है कि पहले प्रजापति ने वायु, पुन अग्नि और आप को उत्पन्न किया। इसके पूव धूम और अभ्र की भी अवस्था उत्पन्न हुई थी। फिर फेन और शकरा आदि के क्रम मे पृथिवी को दृढ किया। मेघ ने इसे बाहर निकाला और इसका विस्तार होकर इस पर ओषधि आदि उत्पन्न हुये। यहाँ पर प्रजापति के श्रम को दिखलाते हुए यह दर्शा दिया गया कि पृथिवी वायु (गैस), अग्नि, और जल की अवस्था मे होकर मृत्, सिकता, शर्करा, अश्मा और अयस् आदि की अवस्था मे आई। ठण्डी होने पर पुन इस पर ओषधिये आदि उत्पन्न हुए। भूगर्भ-शास्त्र का जितना वास्तविक विज्ञान पृथिवी की रचना के सम्बन्ध म है वह यहाँ इन वर्णनो मे सब आगया। परन्तु यदि इनके आधार पर समय निकालन और युग आदि

---

1 इद वै अग्रे नैव किंचनासीत् तदतप्यत। तस्मात्तपनाद्धूमोऽजायत। अग्निरजायत। ज्योतिरजायत। अभ्रमिव समहन्यत। समुद्रो अभवत्। सा पृथिव्यभवत्। तै० ब्रा २।२।९।१

2 सो ऽपश्यत् पुष्करपर्ण तिष्ठत्। स वराहो रूप कृत्वा उपन्यमज्जत ता शर्कराभिरवृहत्। तै० ब्रा० १।१।३।५

3 अपो ह इदमग्रे सलिलमासीत् वायुर्भूत्वा अचरत् सा पृथिव्यभवत्॥ तैत्तिरीय शाखा ७-१-५-१

कल्पना करने लगें तो ठीक नहीं होगा। शाखा और ब्राह्मणो मे यह सारा वर्णन भूत-काल का दिया है। यदि इस आधार पर समय की कल्पना की जावे करोडो अरबो वर्ष का समय निकल आवेगा और 'वैदिक एज' के लेखक का बनाया सारा प्रासाद ढह जावेगा वैदिक एज के लेखक ने वेद का समय १००० वर्ष ईस्वी पूर्व माना है। परन्तु यदि दुर्जनतोषन्याय से थोडी देर के लिए इन्ही कल्पित आधारो को लेकर हम भी वैसा ही करे तो वेद तो दूर रहा ब्राह्मणो का ही काल सहस्रो और लाखो वर्ष का बन जावेगा। इन्ही आधारो को लेकर श्री एन वी पावगी और श्री ए सी दास आदि ने वेदो के समय को बहुत प्राचीन माना है। हमारा विश्वास है कि वेद नित्य है, ईश्वरीय ज्ञान है।' ये मनुष्य द्वारा रच नही गये और न इनमे किसी इतिहास अथवा इतिहास को बताने वाली सामग्री का ही लेश है। वेदो से इतिहास की सामग्री निकालना ठीक नही।

परन्तु यदि कुतर्कियो के कुतर्क को खण्डित करने के लिए एक क्षण के लिए यहाँ पर मैं भी इन कुतर्कियो के आधार को मान कर ही चलूँ तो वेद काल के विषय मे वैदिक एज का माना काल तो चुटकियो पर उड जावेगा। थोडा सा नमूना यहाँ पर दिखना ही दिया जाता है। वेद का यह अटल सिद्धान्त है कि भोक्ता से भोग पूर्व उत्पन्न होता है। ओषधि और वनस्पति आदि पृथिवी के बन जाने पर उत्पन्न होती है। ऋग्वेद १०।९७।१ मन्त्र (या ओषधी पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुग पुरा) यह कह रहा है कि ओषधियाँ मनुष्य से तीन चतुर्युगी पूर्व उत्पन्न होती हैं। इससे यह भाव निकल आता है कि पृथिवी को अपने रूप मे आने और ओषधियो के उत्पन्न होने तक तीन युग अर्थात् चतुर्युगी बीत चुकी है। पुन अथर्ववेद मे मन्त्र आता है कि सृष्टि की सारी आयु एक सहस्र[1] चतुर्युगी की है। पुन[2] यह और भी स्पष्ट कर दिया गया है कि ये वर्ष ४३२०००००० होते है। इसमे अब तक १ अरब सत्तानवे करोड से कुछ अधिक वर्ष व्यतीत हो चुके है। एक चतुर्युगी ४३२०००० वर्षो की होती है। तीन चतुर्युगी अर्थात एक करोड २९ लाख ६० सहस्र वर्ष तो पृथिवी पर औषधि आदि के उत्पन्न होने तक व्यतीत हो गये। शेष रह गया लगभग एक अरब ९६ करोड वर्ष का समय जो मानव को उत्पन्न हुए हुआ। मनुष्य जिस समय उत्पन्न हुआ उसी समय वेद का ज्ञान उसको मिला। अत इतना ही समय वेद को उत्पन्न हुए भी हुआ। यह तो शुद्ध तर्क और यक्ति है। परन्तु आपका कथन मान लेने पर कि मनुष्य ऋषियो ने वेद को बनाया है यह समझ लिया जावे कि जगली अवस्था से वेद बनाने

---

1 एक यदङ्गमकृणोत्सहस्रधा कियता स्कम्भ प्रविवेश तत्र। अथर्व १०।७।९

2 शत ते अयुत हायनान् द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्म। अथर्व ८।२।२१ = ४३२०००००० वर्ष

की अवस्था तक आने में भी दो चार लाख वर्ष (जबकि इतिहासवादी इतना लम्बा समय नही स्वीकार करते अपने युगो की कल्पना में तब भी यहाँ थोडी देर के लिए मान लिया जाता है) व्यतीत हो गये, फिर भी तो वेद को बने लगभग एक अरब पंचानवे करोड वर्ष ठहरते हैं। यहाँ वैदिक एज के कर्त्ता का एक सहस्र वर्ष ईस्वी पूर्व समय तो इस इतने बडे वर्षों के समुद्र मे बिंदुमात्र भी नही ठहरता है।

दूसरा एक उदाहरण और दिया जाता है। ऋग्वेद दशम मण्डल के ८५वें सूक्त का १३वाँ मन्त्र निम्न प्रकार है—

सूर्याया वहतु प्रागात् सविता यमवासृजत्।
अघासु हन्यन्ते गावोऽर्जुन्यो पर्युह्यते ॥

इन "वैदिक एज" के लेखक आदि ही की भाति वेद मे ऐतिहासिक सामग्री मानने वाले श्री डाक्टर सपूर्णानन्द जी इसका अर्थ करते हैं—"सूर्य ने अपनी लडकी सूर्या के विवाह मे जो दहेज दिया था वह आगे चला। उसको ढोने वाली गाडी के बैलो को मघा नक्षत्र मे मारना पडता है। फाल्गुनियो—पूर्वा और उत्तरा फाल्गुनी—मे रथ वेग से चलता है।" वे कहते है पहले जिस समय की यह घटना वर्णित है, उत्तरायण गति का आरम्भ मघा नक्षत्र मे होता था। मघा सिंह राशि मे है। आजकल उत्तरायण का आरम्भ मकर राशि मे होता है, जो चार महीने पीछे आती है। पर आज से १८००० वर्ष पूर्व मन्त्र मे सकेत किया हुआ दृग्विषय होता था। जिन आधारो पर 'वैदिक एज वाले १००० वर्ष ईस्वी पूर्व वेद का अस्तित्व मान रहे हैं वैसे ही आधार लेकर श्री डा० सम्पूर्णानन्द जी १८००० वर्ष पूर्व वेद की रचना मान रहे हैं।

पुन तीसरा उदाहरण दिया जाता है। यह ऋग्वेद द्वितीय मडल के बारहवें सूक्त का दूसरा मन्त्र है। इस मन्त्र को पहले मैं प्रस्तुत भी कर चुका हूँ।

य पृथिवी व्यथमानामदृहद य पर्वतान् प्रकुपितान् अरम्णात्। इसका अर्थ श्री डा० सम्पूर्णानन्द करते है—"हे लोगो इन्द्र! वह है, जिसने व्यथित, हिलती-डोलती पृथिवी को दृढ किया और कुपित, चचल पर्वतो को शान्त किया।"

श्री डाक्टर जी[1] का कहना है कि इन दृश्यो को आर्यों ने देखा होगा। तभी इसका वर्णन वे कर रहे हैं। इस प्रकार आज से २५००० से ५०००० वर्ष पूर्व की घटना है। अत वेदो को बने हुए भी इतना समय हुआ होगा। इस प्रकार के और भी

---

1 डा० सम्पूर्णानन्द ने रामगोविन्द त्रिवेदी की लिखी पुस्तक 'वैदिक साहित्य" की भूमिका मे ये विचार लिखे हैं।

अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। परन्तु यहाँ पर विषय को बढ़ाना अभीष्ट नहीं है। वेदों में वस्तुत. इतिहास की कोई सामग्री नहीं और न कोई घटना है। भूगर्भ-शास्त्र समय और युग के निर्धारण मे असमर्थ है। उससे इतिहास की कड़ी का निर्धारण नही किया जा सकता है। अत इसके आधार पर जो वेद के समय को और आर्यों के इतिहास के समय को आकलित करते हैं—सर्वथा ही उचित नही करते। यहाँ पर सक्षेप मे भूगर्भशास्त्र की मान्य तावो को देकर उनका निराकरण किया गया।

अध्याय ४

भाषाविज्ञान और इतिहास

वर्तमान काल मे इतिहास का निर्णय भाषा-विज्ञान के आधार पर किया जाता है। वस्तुत यह भी एक भूल भुलैया है। कुछ सदियो मे पाश्चात्यो के चरण-चिन्हो पर चलने वाले इतिवृत्त—विदो को विरासत मे प्राप्त है। यह न तो वस्तुत कोई विज्ञान है और न इसके आधार पर इतिहास का कोई निर्णय हो ही सकता है। विज्ञान नाम ऐसी मन सत कल्पना को देना सर्वथा ही निराधार है। भाषा-विज्ञान जिसे कहा जाता है उसका अपना कोई निश्चित नियम नही है, यदि कोई कल्पना की भी गई है तो वे नियम स्वय को ही काटते है। फिर भी इसे विज्ञान का नाम देना तथ्य का तिरस्कार और बुद्धि का विलापन मात्र है। ससार मे यह नियम भाषा के विस्तार मे पाया ही नही जाता है कि परिष्कार से भाषाये बढी है। वस्तुत सकोच और अपभ्रश से भाषाये बढी है और बनी है। भाषा और ज्ञान के विकास मे विकासवाद का प्रवेश करना भी सर्वथा सारहीन है। सूची से सुज्जा, सई तक आने मे विकास नही सकोच और ह्रास ही पाया जाता है। सूक्ष्म से सूच्छम और छुच्छिम मे भी यही स्थिति है। यहाँ पर यदि कोई यह कहे कि यह विकास है तो सर्वथा ही असत्य होगा। जब भाषा-विज्ञान का ही कोई शिर और पैर नही है तो फिर उसके आधार पर इतिहास के निर्णय का प्रासाद खडा करना और भी अनुचित है। भाषा-विज्ञान के नियमानुसार मूल मे मानव ने भाषा का किस प्रकार ग्रहण किया और बोलने लगा—इस विषय पर भिन्न-भिन्न वादो का विवेचन और निराकरण मैंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक वैदिक-ज्योति के प्रथम दो लेखो मे कर दिया है। साथ ही वैदिकवाग्दर्शन नाम के प्रकरण मे वाक के विषय मे बहुत ही पर्याप्त प्रकाश डाला है। यहा पर इस प्रकरण म केवल विषय से सम्बद्ध बातो पर ही सक्षेप मे प्रकाश डाला जावेगा।

भाषा की उत्पत्ति—मानव जिस समय पृथिवी पर अवतरित हुआ उस समय बोलने और समझने मे समर्थ उत्पन्न हुआ। यह निर्देश पहले किया भी जा चुका है। अब यदि बोलने की शक्ति उसमे थी तो कहना पडेगा कि वर्ण भी थे जिनसे कि वह अपनी वाणी को प्रकट कर सके। यदि यह माना जावे कि वर्ण नही थे तो साथ ही यह भी स्वीकार करना पडेगा कि मनुष्य आदिम अवस्था मे गूँगा उत्पन्न हुआ। यदि गूँगा उत्पन्न हुआ तो फिर वह किसी भी हालत मे बोलने वाला नही

हो सकता है। यदि बोलने की शक्ति उसमे थी तो कहना पड़ेगा कि भाषा जो वर्णों के रूप मे है वह भी होनी चाहिए। शब्द दो ही प्रकार के हो सकते हैं—ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक। यदि आदिम अवस्था के मानव मे कर्ण थे—यह भी साथ ही स्वीकार करना पड़ेगा कि ध्वनियाँ भी थी जिनको वह सुन सकता था—नही तो बहरा कहा जावेगा। यदि वाक् थी तो वर्ण भी होने चाहिएँ। मानव बच्चे के रूप मे उत्पन्न नही हुआ। क्योकि बच्चे के पालन के लिये दूसरे स्त्री-पुरुषो की आवश्यकता होती। वृद्ध भी नही उत्पन्न हुआ क्योकि वृद्ध आगे अपनी सन्तति परम्परा को चलाने मे असमर्थ होते है। अत आदिम मानव युवा उत्पन्न हुआ। युवा मानव वाक्शक्ति आदि से युक्त उत्पन्न हुआ। ऐसी स्थिति मे उसमे समझने की भी शक्ति थी। समझना ही विचार और ज्ञान का द्योतक है। ससार मे कोई ज्ञान बिना भाषा के और कोई भी भाषा बिना ज्ञान के रह नही सकते। अत कहना पड़ेगा कि बाह्य विचार वा ज्ञान का नाम भाषा है और आन्तरिक भाषा वा ज्ञान का नाम विचार है। जब यह अटल नियम है कि भाषा और ज्ञान साथ-साथ रहते हैं तो फिर कहना पड़ेगा कि आदि मानव के पास उसके पृथिवी पर आने पर ज्ञान और भाषा भी साथ-ही-साथ आये।

यह भी नियम है कि ससार मे जितनी बोलियाँ प्रसिद्ध है वे लोगो म माता-पिता से आती है। सृष्टि की आदि मे परमेश्वर के अतिरिक्त और कोई माता पिता थे नहीं। फिर कोई दशिक भाषा तो विरासत मे आ नही सकती थी। केवल वही भाषा आ सकती थी जो सृष्टि के पदार्थो मे विद्यमान हो, परमेश्वर के मनुष्य पर प्रकट किये जाने वाले ज्ञान के पूर्ण माध्यम होने की उसमे क्षमता हो और वह ऐसी हो कि सदा प्रत्येक कल्प मे एक सी रहती हो तथा आगे बोल-चाल की समस्त भाषावो को उत्पन्न करने मे क्षम हो। साथ ही वह किसी देश विशेष की भाषा न हो और न उससे पूर्व कोई ज्ञान वा भाषा पृथिवी पर कही मौजूद हो। बस! यही बात है जो विशेष वर्णन के योग्य है कि परमेश्वर ने मानव के पृथिवी पर आने के साथ ही साथ वेद ज्ञान की प्रेरणा मनुष्य मे दी—और वह वेद की भाषा मे ईश्वरीय ज्ञान मानव को मिला जो आदि ज्ञान और भाषा—दोनो था। यह कोई इसी सृष्टि की कल्पना नही है—बल्कि समस्त सृष्टियो मे ऐसा ही होता है। आगे की सृष्टियो मे भी ऐसा ही होगा। इस वेदभाषा से सकोच, अपभ्रश और म्लेच्छित आदि होकर मनुष्य के बोल-चाल की भाषाये बनती है। सस्कृत भाषा जो बोलने की भाषा रही है वह भी वेद से बनी भाषा है। वेद की भाषा कभी भी किसी देश वा किसी जाति की अपने बोलचाल की भाषा नही रही है। वेदो मे वाक्, वाणी आदि पदो का प्रयोग देखा जाता है भाषा का नही। ब्राह्मण आरण्यक आदि मे 'भाष्' धातु का प्रयोग देखा जाता है। भाषा पद भी पाया जाता है। वेदो मे आये वाणी, वाक् के

अर्थ को द्योतत कराने वाले पदों का वैदिक निघण्टु, (१।११) में वाक् नाम में जो संग्रह दिया गया है उसमे भी 'भाष' धातु का प्रयोग नही पाया जाता है। इससे यह स्पष्ट है कि भाषा का प्रयोग वस्तुत लौकिकी वाणी जो बोलचाल की वाणी है उसी के लिये है।

वाणी का विस्तार—वेद मे वैदिकी वाणी को नित्य, कहा गया[1] है। यह सब वाणियो का अग्र और प्रथम[2] है। यह परमात्मा की प्रेरणा से[3] ऋषियों पर सृष्टि के प्रारम्भ मे प्रकट होती है। इस ही प्रथम, निर्दोष, अग्र वाणी को लेकर लोग बोलने की भाषा का विस्तार[4] करते है। वाणी के प्रकार पर ऋग्वेद मे एक बहुत ही सुन्दर मत्र पाया जाता है। इस मत्र मे वाणी के चार परिमित पद कहे गये[5] हैं। इन चार पदो से वाणी पर पर्याप्त प्रकाश पड जाता है। ये चार पद भिन्न-भिन्न वैज्ञानिक दृष्टियो से निम्न प्रकार[6] हैं —

१ ओङ्कार, भू, भुव और स्व—ये ही वाणी के चार परिमित पद है—यह आर्षमत है।

२ नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात—यह वैयाकरणो का मत है।

३ मत्र, ब्राह्मण, कल्प और व्यावहारिकी—यह याज्ञिको का मत है।

४ ऋक, यजु, साम और व्यावहारिकी—यह नैरुक्तो का मत हैं।

५ सर्पों की वाणी, पक्षी की, क्षुद्रक्रिमियो की वाणी और व्यावहारिकी—यह एक आचार्यों का मत है।

६ पशुवो मे, वाद्यों मे, अरण्य पशुवों में और मनुष्यो मे जो वाणी है—यह आत्मवादी मानते हैं।

७			
पृथिवी अग्नि रथन्तरसाम	अन्तरिक्ष वायु , वायदेव्य साय	द्यु स्तनयित्नु , बृहत्साय	चौथी पशुवो की—यह एक मत है।

1 वाचा विरूप नित्यया ऋग्वेद ८।७५।१

2 बृहस्पते प्रथम वाचोऽग्रम्। ऋ. १०।७१।१

3 यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्। ऋ. १०।७१।३

4. तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा। ऋ. १०।७१।३

5 चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः। त्रीणि गुहा निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति। ऋ. १।१६४।४५

6. निरुक्त परिशिष्ट १३।९

८. परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी— यह एक विचार और भी पाया जाता है। इतना विस्तृत वाणी का स्वरूप ससार की किसी भी भाषा मे नहीं मिलेगा जिस मन्त्र के आधार पर यह वर्णन है उसके अन्तिम चरण मे एक सत्य का और भी उद्घाटन किया गया है। वह यह कि समस्त वाणी मनुष्य की भाषा का विषय नही बन पाती। केवल वाणी के चतुर्थ भाग को ही मनुष्य बोलते है। तीन पद गुहा=बुद्धि के विषय हैं। इन सभी मतो मे चतुर्थ पद को मनुष्य बोलता है। आर्ष मत मे 'भू' पद मनुष्य के बोलने का विषय है। वैयाकरण-मत मे निपात तुरीय पद है। मनुष्य बहुधा निपातवत् ही बोलता है। इसे पाँच पर्यन्त क्रमो मे तुरीय पद को व्यावहारिकी वाणी कहा ही गया है। छठें और सातवे मत मे मनुष्यो और पशुवो को वाणी कहकर इस तुरीय पद को बतलाया गया है। ८ वे पक्ष मे इसे वैखरी वाणी कहा गया है। परा वाक् परमेश्वर की अगाध वाणी है। पश्यन्ती ऋषियो द्वारा देखी गई वाणी है। मध्यमा देवो की वाणी है जो मध्यस्थानीय है। जसे गर्जना आदि वाणियें है। इनसे व्याकृत होकर जो बिखरने वा बोल-चाल मे विस्तृत होने वाली वाणी है वह वैखरी है। तुरीय शब्द व्याकरण नियमो से 'चतुर' का तद्धित मे प्रयोग है। परन्तु यास्क ने तुरीय त्वरते'। कहकर 'त्वर' धातु से इसकी सिद्धि की है। जो शीघ्रता और सरलता से उच्चारण की जा सके वह तुरीय है। इन प्रथम तीन पदो के अतिरिक्त चतुर्थ पद जो व्यावहारिकी भाषा है वह वस्तुत बनी भी इसी आधार पर है कि उच्चारण में सरलता कर दी गई है। ७ वें मत में जो वर्णन है वहां पर यह भी दिखलाया गया है कि पशुवो की अव्यक्त वाणी के अतिरिक्त जो व्यक्त वाणी है उसे ब्राह्मणो मे रख दिया गया और यहीं कारण है कि ब्राह्मण यज्ञ-काल मे देवो की वाणी बोलते हैं और व्यवहार-काल में मनुष्यों की वाणी।

इस पर विशेष स्पष्टीकरण के लिए शतपथ ब्राह्मण के एक स्थल का अध्ययन आवश्यक है। शतपथ मे कहा गया है कि यह वाणी का तुरीय निरुक्त रूप है जिसे मनुष्य बोलते हैं। यह वाणी का तुरीय अनिरुक्त रूप है जो पशु बोलते हैं। यह वाणी का तुरीय अनिरुक्त रूप है जिसे क्षुद्र कृमि आदि बोलते[1] हैं। इससे यह स्पष्ट हो गया कि मनुष्य वाणी के तुरीय पद को बोलता है और वह भी निरुक्त पद को अनिरुक्त को नही। पशु, पक्षी आदि अनिरुक्त रूप को बोलते हैं। यहां यह भी स्पष्ट है कि वाणियो के जो तीन पद हैं वे मनुष्य के बोली के विषय नही हैं—केवल व्यावहारिकी वाणी को मनुष्य बोलता है परन्तु मनुष्य एक अवस्था

---

1 तदेतत्तुरीयं वाचो निरुक्तं यन्मनुष्या वदन्ति इत्यादि। श. ३।२।३।१५

में इन पशु, पक्षियो आदि की वाणी को भी समझ सकता है—इसमें सन्देह नही। परन्तु ये वाणियाँ उसकी बोली की वाणी नही। योगदर्शन मे बतलाया गया है कि शब्द, अर्थ और प्रत्ययो का परस्पर अध्यास होने से इनके विभागो मे सयम करने से योगी को समस्त प्राणियो की बोली[1] का ज्ञान होता है। इसी प्रकार अर्थ मात्र के ज्ञान की भी एक अवस्था है जिसमे केवल अर्थ का ही ज्ञान होता है, शब्द, अर्थ और ज्ञान के विकल्प साथ-साथ नही उपस्थित होते है। भाव यह है कि 'गौ' ऐसा कहने पर इसमे ज्ञान[2], अर्थ और शब्द तीनो मिले है—गौ शब्द भी है, गौ अर्थ भी है, और गौ ज्ञान भी है। परन्तु साधारण आदमी तीनो का पृथक्करण नही कर सकता है। योगी तीनो का पृथक्करण करके अर्थमात्र का ज्ञान कर सकता है। अगर यह स्थिति योगी की न हो सकती होती तो फिर इस बात का भी कोई उत्तर नही है कि प्रत्येक देशवासी की अपनी भाषा मे की हुई प्रार्थना को परमेश्वर किस प्रकार समझ लेता है। क्या उसे ये सारी गढी हुई भाषाये मालूम है। यदि कोई सम्बन्ध-माध्यम इनका है जिससे वह जान लेता है तो उसी सम्बन्ध माध्यम को जानकर योगी पशुवो आदि की बोली को समझ लेता है।

बहुत दूर वाग्विज्ञान के रहस्य मे पहुँच गया जो यहाँ वर्णित करना उचित नही—अस्तु ! प्रस्तुत प्रसग पर आता हूँ। कहना यह है कि परावाक और पराविद्या का केन्द्र तो स्वय भगवान् 'ओम्' है। परा से पश्यन्ती का जो रूप आता है वह वही है जिसे दृष्टऋषि देखते और साक्षात् करते है। मध्यमा उस वाक् का वह रूप है जो बादल आदि दिव्य पदार्थों मे है। सर्परी कहे, सौरी कहे—सबमे इस मध्यमा का ही बोध होता है। ब्राह्मी भी यही है क्योकि ब्रह्म आकाश मे विद्यमान है। पश्यन्ती वाणी ही वेदवाणी है। मध्यमा से भी इसका सम्बन्ध है। अत पश्यन्ती वाणी और मध्यमा के द्वारा वैखरी वाणी का निर्माण होता है। यह वैखरी वाणी वह है जो पहले देवभाषा के रूप मे आती हुई पुन आसुरी वाक् से होती हुई विविध भाषावो के रूप मे आ जाती है। यद्यपि पश्यन्ती के पदो का सकोच होकर इस वैखरी मे आना होता है परन्तु वैखरी का कोई भी पद वैखरी वा व्यावहारिक रहता हुआ पश्यन्ती मे नही सन्निवेश पा सकता है। वस्तुत यही पश्यन्ती और वैखरी का विभाग है।

यहाँ पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि "अग्नि !" पद जो लौकिक सस्कृत रूपी वैखरी मे पाया जाता है वह वेद अर्थात् पश्यन्ती मे भी है—फिर यह क्यो ? इसका समाधान है कि लौकिक सस्कृत मे अग्नि शब्द जिस रूप मे है वेद मे

---

1 योगदर्शन ३।१७ सव्यासभाष्य।

2 योगदर्शन १।४३ व्यासभाष्यसहित। तथा "वैदिक ज्योति" भी देखें।

उसी रूप में नहीं है। वेद में अग्नि अग्नि भी है, और तीन धातुओं से जन्य भी है परन्तु लौकिक संस्कृत का 'अग्निपद' ऐसा नहीं है।

वेदवाणी का स्वरूप – जैसा ऊपर कहा गया है कि सृष्टि की आदि में पश्यन्ती वाणी ऋषियों को प्राप्त होती है। परन्तु यह किस रूप में प्राप्त होती है – यह भी एक गहन विचार है। यह देखी भी ऋषियों ही द्वारा कल्प के बाद भी जाती है। जो ऋषि समाधिस्थ हो इसका दर्शन करता है उसे अर्थ का ज्ञान होता है। यह प्रेरणा द्वारा प्रकट होती हुई भी पश्यन्ती है और अर्थज्ञान की प्राप्ति में भी साक्षात्दर्शन के माध्यम से पश्यन्ती है। अथर्ववेद ७।१०५।१ में कहा गया है कि पौरुषेय वाणी में दूर रहते हुए दैवी वाणी को सुनकर समस्त मित्रों आदि के साथ यज्ञ और कर्तव्य आदि का निर्धारण करना चाहिए[1]। अथर्ववेद ६।६१।२[2] में विश्वस्रष्टा परमेश्वर यह उपदेश करता है कि सत्य क्या है ? और अनृत क्या है ? इसका विवेचन करके उपदेश में देता है और दैवी वाणी का अर्थात् वेद वाणी का मनुष्यों पर प्रकट करता हूँ। यहाँ मन्त्र में बतलाया गया है कि वेद-वाणी अमानवी एवं अपौरुषेय वाक् है और मनुष्यों पर इसका प्रेरणा द्वारा प्रकटीकरण परमेश्वर के द्वारा होता है।

यह वाणी जब ऋषियों पर प्रेरणारूप में आती है तब संहिता के स्वरूप में आती है। संहिता शब्द का अर्थ साधारणतया संग्रह भी होता है परन्तु यहाँ पर संहिता शब्द वैसा ही पारिभाषिक है जैसा कि गुण शब्द। गुण शब्द व्याकरण, न्याय, सांख्य और लोक की दृष्टि से सर्वथा भिन्न भिन्न अर्थों में प्रयुक्त है। वैसे ही संहिता पद भी भिन्नार्थक है। वेद के लिए जो 'संहिता' प्रयोग होता है वह संग्रह अर्थ का द्योतक नहीं है। उसका विशेष अर्थ है।

१ संहिता की परिभाषा पाणिनि सूत्र (अ १।४।१०९)[3] के अनुसार यह है – वर्णों के अत्यन्त सामीप्य की संहिता संज्ञा है। ऋक्-प्राति-शाख्य (२।१) के अनुसार पदों की प्रकृति का नाम संहिता है। इसी प्रातिशाख्य में (२।२)[4] यह लक्षण किया गया है कि पदों के अन्तों को पदों के आदियों से जोड़ती हुई जो वाणी पाई जाती है वह संहिता है। यास्क कहते हैं कि सभी चरणों और प्रातिशाख्यों का यह[6] मत है

---

1 अपक्रामन्पौरुषेयाद्वृणानो दैव्यं वचः। अथर्ववेद ७।१०५।१

2 अहं वैश्री परिवाच विशाथ। अथर्व ६।६१।२

3 परः सन्निकर्षः संहिता। अ १।४।१०९

4 पदप्रकृतिः संहिता। ऋक्प्रातिशाख्य २।१

5 पदान्तान्पदादिभिः सन्दधदेति यत्सा। ऋ प्रा २।२

6 पदप्रकृतिः सर्वचरणानां पार्षदानि। निरुक्त १।१७

कि पदों की प्रकृति संहिता है। वेद संहिता-रूप मे प्रकट हुये न कि पद-रूप मे। पदो का विभाग निरुक्त आदि विज्ञानो के द्वारा किया जाता है। पद एक दूसरे से ऐसे लगे रहते है कि उनका विभाग नही ज्ञात होता है।

२—यह वेदवाणी गायत्री आदि छन्दो से युक्त होती है और इसमे उदात्त, अनुदात्त और स्वरित आदि स्वर लगे होते है। ये स्वर बदले नही जा सकते है। ये ऐसी रोक है कि कोई इन संहिताओ मे कोई दूसरा पद घुसेड़ नही सकता है। इन्ही स्वरो के आधार पर वेद की जहा रक्षा होती है वहा स्वरो मे ही अर्थज्ञान भी होता है। किसी लौकिक भाषा मे इन तीन स्वरो का नियम नही पाया जाता है। महाभाष्यकार पतञ्जलि इस स्वर को नित्य मानते है। महाभाष्य ५।२।५६।

३—वेदवाणी की वर्णानुपूर्वी भी नित्य है। किसी भी लौकिक भाषा मे यह नियम नही पाया जाता है। इस वर्णानुपूर्वी के आधार को लेकर व्याकरण-विज्ञान के महाविद्वान् आचार्य पतञ्जलि ने [illegible] भेद कर दिया है। उनका कथन है कि छन्द किये जाने वाले भी [illegible] शाखाओं मे है और [illegible] जाने वाले भी है जो चारो वेदो की संहिताओ मे है। जहा संहिता [illegible] भी इधर-उधर पद-पाठ वा शाखा आदि का प्रारम्भ किया कि वर्णानुपूर्वी [illegible] हो जावेगी। वर्णानुपूर्वी की नित्यता केवल संहिता के मन्त्रो को ही प्राप्त है। महाभाष्यकार कहते है 'आम्नाय[1] (वेद) मे स्वर और वर्णानुपूर्वी नियत है परन्तु जब शाखा मे वही परिणत होगा तब शाखा के व्याख्यान भाग होने से और [illegible] वर्णानुपूर्वी उसकी अनित्य[2] होगी।

४—वेदवाणी यौगिक शब्दो से युक्त है [illegible] है। प्रत्येक शब्द का यौगिक ढग पर ही अर्थ किया जाता है। इसकी वजह से यह इतनी व्यापक है कि उसके क्षेत्र को किसी भी प्रकार सीमित नही किया जा सकता है। हृदय (हृ+द+य), सत्य (स+ति+यम) सत्व (सा+त्व) अग्नि, (तीन आख्यातो से बना है), मघवा (मघ+वान्, मख+वान्), यज्ञ (यज्+ज), यजु (यज+जु), साम (सा+अम) अथर्व (अथ+अर्वाङ्, महना मह+ना, म+इह+ना) आदि पद इसके ज्वलन्त उदाहरण है। इस प्रकार वैदिक शब्द यौगिक है।

५—वेदवाणी मे 'देवता' का विशेष स्थान है। यह वेदवाणी का पुष्प और

1 स्वरो नियत आम्नायेऽस्य वामशब्दस्य। वर्णानुपूर्वी खल्वप्याम्नाये नियतास्य-वामशब्दस्य। महा ५।२।५६—"देखे मेरी पुस्तक दयानद-सिद्धान्त-प्रकाश" वेद शाखा प्रकरण।

2 या त्वसौ वर्णानुपूर्वी साऽनित्या। तद्भेदाच्चैतद् भवति काठक, कालापक, मौदक पैप्पलादकमिति। अ ४।३।१०१ महाभाष्ये।

फल है। अर्थ मे इस देवता का विशेष स्थान है। यह देवता ही अर्थपति है जिसके आधार पर भिन्न-भिन्न अर्थ निकलते हैं और अर्थों का नियन्त्रण होता है। ऋग्वेद १।४०।५[1] मे यह वर्णन है कि वेदवाणी का स्वामी परमेश्वर प्रशस्य, ज्ञान-विज्ञानो से युक्त मन्त्रो का उपदेश करता है जिसमे इन्द्र, वरुण, मित्र, अर्यमा आदि देवताओ ने घर किया हुआ है। ऋग्वेद १०।१३० सूक्त इस विषय पर विस्तृत प्रकाश डालता है।

६—वेदवाणी के प्रत्येक शब्द अभिधा वृत्ति वाले है। वाक्य मे जब तक पदविभाग नही होता है—तात्पर्याख्या वृत्ति भी पाई जाती है। लक्षणावृत्ति का इसमे सर्वथा अभाव है। साथ ही इसमे अभिधामूला और व्यञ्जनामूला व्यंजना ही पाई जाती है—लक्षणामूला व्यंजना का सर्वथा अभाव है।

इस प्रकार यह वेदवाणी उपयुक्त लक्षणो और गुणो से युक्त है। इसमे किसी प्रकार का प्रक्षेप नही हो सकता है। ससार की किसी भाषा का न ऐसा स्वरूप है और न किसी मानव-निर्मित भाषा का यह स्वरूप हो ही सकता है।

भाषाओ की उत्पत्ति—ऊपर वेदवाणी का स्वरूप बतलाया गया। अब बोलने की भाषाये किस प्रकार उससे बनती है—इसका विचार किया जाता है। जैसा कि ऊपर यह भी बतलाया गया है कि वेदवाणी अपने स्वरूप मे सहिता रूप मे है और छ नियमो मे बद्ध है। जब मनुष्य सहिता वा छन्द आदि का अर्थ की दृष्टि से उपस्थापन अथवा इन पूर्वोक्त नियमो का सकोच करना प्रारंभ करता है तब भाषा का रूप आने लगता है। उसकी वर्णानुपूर्वी नित्य नही रह जाती और यह वेदवाणी भी नही रह जाती है। इस वाणी के शब्दो के सकोच और म्लेच्छीकरण आदि मे अनेक भाषाये बनी। ऋग्वेद मे एक और तथ्य पर प्रकाश डाला गया है। वह यह है कि अन्तरिक्षस्थानी देवगण जिस मध्यमा वाणी को तरगित करते है उसी को व्यक्तवाक् और सभी प्राणी बोलते[2] है। इस मध्यमा वाणी मे जो व्याकृत वा निरुक्त रूप है वह मनुष्य बोलते है और जो अव्यक्त अनिरुक्त रूप है उसे पशु आदि प्राणी बोलते हैं। तैत्तिरीय शाखा ६।४।७ मे कहा गया है कि पहले वाणी अव्याकृत थी। इन्द्र ने मध्य से खीचकर इसको व्याकृत कर दिया[3]। इससे यह ज्ञात हुआ कि माध्यमिक देवो के तरंगो से उठी वाणी का जो व्यक्त भाग है उसको मनुष्य

---

1 प्रनूनं ब्रह्मणस्पतिर्मन्त्रं वदत्युक्थ्यम्।
यस्मिन्निन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा देवा ओकांसि चक्रिरे। ऋ ।१।४०।५

2 देखें लेखक की पुस्तक वैदिक-ज्योति वाग्दर्शन प्रकरण।

3 वही पुस्तक और वही स्थल।

बोलते है और अव्यक्त भाग को पशु आदि बोलते हैं। शब्द वेपनो वा तरगो से तरंगित होते है। वैदिक वाणी के सकोच और मध्य देवो के इन तरगो से तरंगित निरुक्त एव व्याकृत रूप वाणी को ही लौकिक भाषा वा लौकिक सस्कृत का रूप प्राप्त हुआ। इस लौकिक सस्कृत मे वैदिकी वाणी से सकोच को प्राप्त शब्द और इन तरगो से प्राप्त यदृच्छा आदि शब्द सम्मिलित हैं। जिन यदृच्छादि शब्दो का व्याकरण कर दिया गया वे व्याकृत होने से भाषा म सम्मिलित हो गए। इस प्रकार सर्वप्रथम लौकिक सस्कृत भाषा बनी जो बोलचाल की भाषा है। परन्तु जैसा पूर्व लिखा जा चुका है यह सकोच के आधार पर बनी — विकास के आधार पर नहीं। वैदिक शब्दो का किस प्रकार सकोच कर इस भाषा म लिया गया इसका क्रम निम्न प्रकार निर्धारित किया जा सकता है -

आर्ष-सकोच-क्रम और मानव-सकोच-क्रम।

आर्ष-सकोच-क्रम— वैदिक शब्दो का यह सकोचक्रम वह क्रम है जो ऋषियो के द्वारा लौकिक भाषा के निर्माण मे किया गया। वेदवाणी जो सहिता रूप म थी ऋषियो द्वारा छन्द, देवता, सूक्त आदि का निर्धारण करने से पुन पदपाठ और शाखावो आदि का प्रणयन हुआ। इससे सहिता और वर्णानुपूर्वी का सकोच हुआ। शाखावो और पदपाठ आदि की न वर्णानुपूर्वी है और न व सहिता ही है। शाखावो मे मन्त्रो के व्याख्यान को बताने के लिए पर्यायवाची शब्द रख दिए गए है। परन्तु इनमे स्वर और वर्णानुपूर्वी की नित्यता न होकर अनित्यता हो गई है। पुन वेद के वेदाग और उपाग तथा उपवेदादि को बनाकर ऋषियो ने शब्दो को परिभाषा आदि मे बाँध दिया। वेद-भाषा मे स्वर, यौगिकता और देवता तथा वैदिक छन्द आदि थे, उनका सकोच हो गया। क्योकि इनमे शब्दो की परिभाषा विशेष बनाई गई है और स्वर तथा देवता आदि के द्वारा इनकी भाषा के शब्दो के अर्थ की आवश्यकता नही रह गई। इनका रूप लौकिक सस्कृत का हो गया। ब्राह्मण ग्रथो मे यौगिकता का भाग तो कुछ अश तक रहा परन्तु स्वरो का वैदिक त्रैस्वर्य रूप नही रह गया। इनमे [illegible] स्वर प्रयुक्त होने लगा। श्रौत आदि ग्रन्थो मे जो ऊह करने का विधान है वह भी इस सकोच की एक कडी है। इस प्रकार वैदिक वाणी मे लौकिक सस्कृत (देववाणी) तक आने मे सहिता, वर्णानुपूर्वी की नित्यता, यौगिकता, अभिधावृत्ति की व्यापकता देवता, स्वर आदि का सकोच हो गया। लौकिक भाषा मे न देवता की आवश्यकता रही, न स्वर की लक्षणा वृत्ति और रूढिता आदि ने स्थान ग्रहण किया। शब्द [illegible] न रहकर यौगिक, रूढ और योगरूढ बन गए। यौगिकता भी बहुत अल्प सीमा [illegible]। अभिधा वृत्ति ही न रहकर अभिधा, लक्षणा और व्यजना वृत्तियाँ बन [illegible] की [illegible] कता बहुत कम हो गई।

साथ ही इस लौकिक भाषा मे मध्यमा के आधार पर बहुत से व्याकृत और अव्याकृत शब्द आये। देवभाषा नाम लौकिक सस्कृत का इसलिए है कि यह वेद मंत्रो (जो देवता कहे जाते है) से सकोच को प्राप्त कर बनी और मध्यमा वाणी (जो अग्नि, वायु, मेघ आदि देवो से प्रकट होती है) मे बनी है।

मानव-सकोच-क्रम—इसके अतिरिक्त मनुष्यो को उच्चारण की क्लिष्टता होने से उन्होने बहुत से पदो का सकोच किया जो भाषा मे सम्मिलित हैं। यदृच्छा शब्द भी पर्याप्त मात्रा मे इसमे सम्मिलित है। वैदिक धातुवो से, लौकिक प्रत्यय और लौकिक धातुवो मे वैदिक प्रत्यय के भी पद इस लौकिक भाषा मे सम्मिलित हैं। यह सस्कृत लौकिक भाषा है। इसमे भी मानव-सकोच-क्रम चालू रहने से प्राकृत और पाली आदि भाषाये बनी। इस प्रकार यह सस्कृत और पाली आदि का रूप सामने आया।

आसुर-सकोच-क्रम इसके अनन्तर सस्कृत मे अनेक देशी और विदेशी भाषावो के बनन मे एक और क्रम चालू रहा जिसको आसुर-सकोच-क्रम कहा जाता है। यह क्रम वह है जिसस विविध विदेशी भाषाये और एतद्देशीय भाषायें बनी। इसको ही भाषा का म्लेच्छीकरण अपभ्रश आदि विधियो का नाम दिया जाता है। विविध विदेशी भाषाये जिनमे जन्द भी सम्मिलित है लौकिक और वैदिक शब्दों के म्लेच्छीकरण से ये भाषाये बनी हैं। जहाँ लौकिक सस्कृत के निर्माण तक सकोच का बाहुल्य रहा वहा उसके साथ आगे देशी विदेशी भाषावो के निर्माण मे अपभ्रश का कार्य अधिक तीव्रता से चला। जो लोक-भाषा के विकास की बात करते हैं उनको यह भ्रम है। वस्तुत अपभ्रश का विस्तार बहुत बडा है। जहाँ शुद्ध शब्दो का विषय महान् है वहा बिगाड का रूप उससे भी विस्तृत है क्योकि इसमे एक ही शब्द के अनेक विकृत रूप बन जाते है। महाभाष्यकार पतजलि ने इसी आधार को लेकर कहा है कि शब्दो का उपदेश तो लघु है परन्तु अपशब्दो का[1] उपदेश बहुत बडा है। एक-एक शब्द के ही बहुत से अपभ्रश पाये जाते है। जैसे एक ही 'गौ' शब्द के गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका आदि अनेक अपभ्रश है। इन अपभ्रशो का म्लेच्छीकरण में ही सन्निवेश है। इस प्रक्रिया मे सकोच के साथ अपभ्रश अधिक तीव्रता से बढते है।

म्लेच्छीकरण का वैदिक लोग बहुत ख्याल रखते थे। यहाँ तक कि यज्ञ मे

---

1 लघीयाञ्छब्दोपदेश । गरीयानपशब्दोपदेश एकैकस्य शब्दस्य बहवोऽपभ्रशा तद्यथा गौरित्यस्य शब्दस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिकेत्येवमादयोऽपभ्रशा ।
महाभाष्य १।१।१

लौकिक भाषा का प्रयोग नही होने पाता था। याज्ञिक यज्ञकाल में व्यवहार की भाषा नही बोलते थे। इस म्लेच्छित भाषा का नाम असुर्यावाक् वा भाषा रखा गया था। यह म्लेच्छीकरण आसुर समझा जाता था। म्लेच्छ धातु पाणिनीय व्याकरण के अनुसार अव्यक्त शब्द अर्थात् अपशब्द अर्थ मे प्रयुक्त है। मानव-धर्मशास्त्र के प्रणेता मनु ने दस्युवो मे भी म्लेच्छवाक् और आर्यवाक्[1] दो प्रकार के लोगो का वर्णन किया है। अर्थात् जिन दस्यु जातियो में वैदिक धर्म का लोप हो गया उनमें भी पूर्व संस्कारवश आर्यभाषा बोलने वाले थे। आर्यावर्त्त से भिन्न पूर्व देश से लेकर ईरान, उत्तर वायव्य और पश्चिम देशो मे रहने वालो को ही म्लेच्छ और असुर कहा जाता था। अन्य कारणो के अतिरिक्त एक बडा कारण इनके म्लेच्छ कहे जाने का यह भी था कि ये म्लेच्छ भाषा बोलते थे। एक प्रमाण इस विषय मे शतपथ ब्राह्मण और अन्य ग्रन्थो का बहुत ही महत्वपूर्ण है।

शतपथ ३।२।१। २३-२४ मे लिखा है कि वे असुर लोग पराभूत-वाणी[2] वाले होकर हे अलव हे अलव बोलते हुये पराजित हुये। देवो ने इस वाणी से कहा कि यह तो म्लेच्छ अपशब्द है अत ब्राह्मणो को म्लेच्छ वाणी नही बोलनी चाहिए। यह तो असुर्या वाक है। इगलिग[3] द्वारा अनूदित शतपथ ब्राह्मण के फुटनोट मे इस स्थल पर लिखा गया है कि काण्व शाखीय शतपथ ब्राह्मण मे "हैलोहल" ऐसा असुरो के द्वारा बोला जाना लिखा है। परन्तु महाभाष्य १।१।१ मे 'हलयोहेलय'[4] पाठ है। इस प्रकार देखा गया कि "हे अरय, ह अरय" का आसुर प्रयोग जो असुरो के म्लेच्छित उच्चारण मे बना वह—हे अलव, हे अलब, हैलोहैल, तथा हे अलय हे अलय —तीन प्रकार का बना। काण्व शाखीय पाठ को न लीजिये और आजकल कई बाबुओ का टेलीफोन का "हेलो-हैलो" ले लीजिये दोनो एक से मिलेगे। हैलोहैल ठीक ऐसा ही जचता है। ये उदाहरण म्लेच्छीकरण के है। इससे सदा ब्राह्मण लोग बँचते रहते थे। किस प्रकार म्लेच्छीकरण मे भाषा मे परिवर्तन हो गया, इसका

1 म्लेच्छवाचश्चार्यवाच सर्व ते दस्यव स्मृता १०।४५, म्लेच्छदेशस्त्वत पर। मनु २।२३

2 तेऽसुरा आत्तवचसो हेलवो हेऽलवइति वदन्त पराबभूवु। तत्रैतामपि वाच-मूदु उपजिज्ञास्या स म्लेच्छस्तस्मान्न ब्राह्मणो म्लेच्छेदसुर्या हैषा वाक्। शतपथ ३।२।१।२३-२४।

3 See footnote No 3 of the Shatpatha translated by Professor Eggeling

4 तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्त पराबभूवु। तस्माद्ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै नापभाषितवै, म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्द। महाभाष्य १।१।१

शतपथ ब्राह्मण और महाभाष्य का वाक्य एक ज्वलन्त उदाहरण है। जन्द, अंग्रेजी तथा दूसरी विदेशी भाषाओं का यदि संस्कृत से मिलान किया जावे तो पता चलेगा कि किस प्रकार आसुर संकोच और अपभ्रंश से ये भाषायें बन गई हैं। महाभाष्य में "यद्वा न तद्वा[1] न" वाक्य का भी म्लेच्छ एवं आसुर प्रयोग 'यर्वाण तर्वाण' दिया गया है। इस प्रकार के अन्य अनेकों उदाहरण दिये जा सकते हैं।

यहाँ पर इस अपभ्रंश के विषय में यह भी ज्ञातव्य है कि अपभ्रंश कभी नियमित होते हैं और कभी अनियमित। यदृच्छा और भी इसकी पीठ को ठोक देता है। यहाँ पर उदाहरण के लिए कुछ थोड़ा सा वर्णन दिया जाता है। संस्कृत से अपभ्रंश होकर एक भाषा और पुनः उस भाषा से अपभ्रंश होकर दूसरी और इस प्रकार तीसरी—ऐसे परम्परा से अनेक भाषायें बन जाती हैं।

संस्कृत का 'घट' शब्द घड़ा और घृत शब्द घी, तथा दुग्ध शब्द दूध रूप में अपभ्रष्ट हुये। इसी प्रकार आंख अक्षि का, कान कर्ण का, नाक नासिका का, जीभ जिह्वा का और पीठ तथा कन्धा पृष्ठ और स्कन्ध के अपभ्रंश हैं। इसी प्रकार आर्य-पुत्र का अज्जउत्त गर्दभ का गद्रभ और गद्दह पुनः गधा आदि अपभ्रंश हैं। पाली प्राकृत ऐसे उदाहरणों से भरी है। इसी प्रकार यूयम् से यू, वयम् से वी, गूढ से गॉड, द्यौष्पितर से ज्यूस्पीटर और जुपिटर तथा 'गौ,' से काऊ आदि शब्द अपभ्रष्ट होकर बन गये हैं।

एक ही पदार्थ के बहुत नाम हैं। इनमें भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न नामों से भिन्न अपभ्रंश होने से भिन्न-भिन्न भाषाओं के शब्द बन जाते हैं। इसी प्रकार एक पदार्थ बहुत नामों वाला होता है—जैसे वानर, घोड़ा, सिंह, सूर्य, मनुष्य देव और चोर का नाम हरि है। किसी देश में सिंह नाम से उस पशु का ग्रहण देखा जाता है और किसी देश में 'हरि' से सिंह का ग्रहण होता है। किसी देश में हरि से घोड़े का ग्रहण और किसी में सूर्य तथा किसी ने चोर का ग्रहण किया। इससे भी देश-भाषा भिन्न-भिन्न हो गई। एक ही अर्थ में आने वाली अनेक धातुओं में से भिन्न-भिन्न देश वाले अपने अनुसार भिन्न धातु उसी अर्थ में प्रयुक्त कर लेते हैं। महाभाष्यकार[2] पतंजलि ने इस तथ्य पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि इस महान्

1 ते तत्र भवन्तो यद्वा नस्तद्वा न इति प्रयोक्तव्ये यर्वाणस्तर्वाण इति प्रयुञ्जते। याज्ञे पुन, कर्मणि नापभाषन्ते तै पुनरसुरै याज्ञे कर्मण्यपभाषितम्, ततस्ते पराभूता। महा १।१।१

2 एतस्मिंश्चाति महति शब्दस्य प्रयोगविषये ते ते शब्दास्तत्रतत्र नियतविषया दृश्यन्ते तद्यथा शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाषितो भवति। विकार एन-मार्या भाषन्ते शव इति। हम्मति सुराष्ट्रेषु रंहति प्राच्यमध्येषु। गमिमेव त्वार्याः प्रयुञ्जते। —महा. भा १।१।१

शब्दप्रयोग के विषय मे वे-वे शब्द उन-उन देशो मे नियत देखे जाते हैं। गत्यर्थक 'शव्' धातु का प्रयोग कम्बोज मे होता है। हम्म का सौराष्ट्र मे, 'रंह' का प्राच्य और मगध मे, आर्यावर्त्त मे 'गम' का ही प्रयोग होता है। भाष्यकार ने यहाँ पर यह भी बतलाया है 'शव' धातु का आर्यावर्त्त मे विकार अर्थात् 'शव'--मृत शरीर के अर्थ मे प्रयोग होता है। शतपथब्राह्मण मे रुद्र अर्थात् अग्नि के नव नामो का वर्णन करते हुए भी ऐसा ही एक वर्णन पाया जाता है।[1] मीमासा सूत्र १।३।४[2] आर्य-म्लेच्छ-प्रसिद्धि प्रकरण मे भाष्यकर्त्ता ने लिखा है कि कई लोग दीर्घ शूकों मे यव शब्द का प्रयोग करते हैं कुछ लोग प्रियगु के अर्थ मे प्रयोग करते हैं। कई लोग सूकर अर्थ मे वराह शब्द का प्रयोग करते हैं और कई लोग कृष्ण शकुनि के अर्थ मे। वेतस शब्द का प्रयोग कई बेत अर्थ मे करते हैं और कई जम्बवान् के अर्थ मे करते है। ये प्रयोग देश विशेष के हैं। मूल वेद मे यव और प्रियगु पृथक् हैं[3]। इसी प्रकार वराह का अर्थ वेद मे मेघ भी है। अगिरस् देवगण भी वराह हैं[4]। इस प्रकार भिन्न-भिन्न देशो मे भिन्न-भिन्न प्रयोग देखे जाते हैं।

ध्वनि के विकारो मे भी शब्दो मे फेर पड़ जाता है जैसे कहीं-कहीं पर 'य' के स्थान मे 'ज' का और "ज' के स्थान मे 'य' का उच्चारण लोग कर देते है। यज्ञ को जग्य यमुना को जमुना, जानाति को याणादि, जनपद को 'यणपद' आदि प्रयुक्त करते हैं। कभी तालव्य शकार को मूर्धन्य 'ष' और दन्त्य 'स' मे परिवर्तित करने पर भी पर्याप्त अन्तर पड़ जाता है। महाभाष्यकार ने इसी दोष के निवारण को दृष्टि मे रखकर कहा है—शश षष न हो जावे, पलाश पलाष और मञ्चक मञ्जक न हो जावे—अतः स्वर, वर्ण आदि का आनुपूर्वी ज्ञान आवश्यक है। (देखे महा-भाष्य १।१।१)। कभी उच्चारण से शब्दो मे भेद हो जाता है और शब्द अपभ्रष्ट होकर अन्य बन जाते हैं। जैसा कि 'ज्ञ' के ज्ञ, ज्ञ-ञ मे मूल से बने होने पर भी कई ज्ञ बोलते है। कोई ग्यँ बोलते हैं और कई ग्न तथा कई दश भेद से द्न बोलते हैं।

इस प्रकार यह निश्चित बात है कि वेदवाणी परमेश्वर-प्रदत्त और पूर्ण वाणी है। लौकिक संस्कृत भाषा उस वाणी के बीच मे बनी और उससे पुनः ऊपर

---

1. अग्निरेष देवस्तस्यैतानि नामानि, शर्व इति यथा प्राच्या आचक्षते। भव इति यथा वाहीका ॥श० १।७।३।८
2. तत्र केचिद्दीर्घशूकेषु यव शब्द प्रयुञ्जते केचित्प्रियङ्गुषु। वराहशब्द केचिद् कृष्णशकुनौ केचिज्जम्बवति। मीमासा भाष्य।
3. यजुर्वेद १८।१२ ॥
4. निरुक्त ५।१

बतलाये गये नियमों से विभिन्न देशीय और विदेशीय भाषायें बनी। थोड़ा दिग्दर्शन कराकर पुनः इस विषय पर आगे बढना उचित होगा।

भाषा-शास्त्री भाषावो के तीन विभाग करते हैं—आर्य, सेमिटिक और तूरानी। परन्तु यह भेद बिल्कुल ही कृत्रिम और कल्पित है। विचार से देखने पर मालूम पडेगा कि सभी मे समता है और सभी एक आर्य भाषा से ही विकृत होकर बनी है।

वैदिकी वाक्	आर्य	सेमिटिक	तूरानी	अर्थ
अम्ब	स० अम्ब	सीरियन—आमो सामोपडिक—अम्म अर्बी—उम्म	द्राविडी—अम्मा सीथियन-अम्माल अम्मेद मलयाली—अम तुलु अप्पा चीनी —मा	माता
द्यौ	स० द्यौ अ—डे ग्री० ज्यूस	अर्बी —यो	चीना —तौ जापानी—दे तेलगू—दिवमु	सूर्य
इगा इला इडा	स० — ईगा ग्री०—एरा लेटिन — टेरा जर्मन—एर्दे (Erda) पु अ अर्थ (Earthe) न अ अर्थ (Earth)		हिब्रू—ऐरछ अर्बी—अर्ज जेरत	

इससे स्पष्ट है कि तीनो भाषा परिवारो का मूल एक है

वैदिकी वाक्	संस्कृत	फार्सी	अग्रेजी	अर्थ
पितर	पितर	पिदर	फादर	पिता
मातर	मातर	मादर	मदर	माता
दुहितर	दुहितर	दुख्तर	डाटर	लडकी
भ्रातर	भ्रातर	बिरादर	ब्रदर	भाई
विधवा	विधवा	बेवा	विडो	विधवा

यहाँ पर भी वेदवाणी मूल से ही तीनो भाषाये निकली दिखाई पडती हैं।

संस्कृत	अग्रेजी	अर्थ।
समिति	कमिटी	सभा
तरु	ट्री	वृक्ष
ऋत	राइट	सत्य

संस्कृत	अंग्रेजी	अर्थ
पशुचर	पास्चर	चरागाह
सप्तकोण	हेप्टागोन	सप्तकोण
त्रिकोणमिति	ट्रिग्नो मेट्री	त्रिकोणमिति
ज्यामिति	ज्या मेट्री	ज्यामिति
दशमलव	डेसीमल	दशमलव
बृन्द	बैण्ड	१६ बाजे वालों का समूह
चरित्र	कैरेक्टर	आचरण
नास्ति	नॉट	नहीं
अस्ति	आॅट	हाँ
नाम	नेम	नाम
भ्रू	ब्रो	भौंह

संस्कृत	अरबी	अर्थ
हर्म्य	हरम	महल
सुर	हूर	देवता
अन्तकाल	इन्तकाल	मरना
कीर्तन	किरतैअन	पढ़ना
षष्ठ	सित्ता	छ
सप्त	सब्बा	सात

संस्कृत	सोहेली	अर्थ
ध्यान	धानी	विचारना
द्यौ	जुवा	सूर्य
जम्बू	जम्बरऊ	जामुन
सिंह	सिम्बा	शेर
षष्ठ	सीता	छ
सप्त	सबा	सात

संस्कृत	यूनानी	अर्थ
श्वान	क्वान	कुत्ता
श्रुत	क्लूतोस	सुना
शिर	केरस	सिर
दश	डेक	दस
ददर्श	डेडर्क	देखा

संस्कृत	मिश्री	अर्थ
आप	आप	पानी
नर	ना	मनुष्य
रसना	रस	जिह्वा
वास	आस	घर
क	क	आत्मा

संस्कृत	हिब्रू
वैदिक-यह्व	जिहोवा
अर्ह	यलिह
आदिम वैदिक	आदम
इलीविश	इब्लीस
स्तेन	शैतान

संस्कृत	चीनी	अर्थ
स्थान	तान	स्थन
द्युस्थान	टियन्टान	स्वर्ग
अम्बा	मा	माता
जनस्थान	जिनस्तान	पृथिवी
होम	घोम	हवन
लिंग	लग	चिन्ह ।

संस्कृत	आगानी	अर्थ
का, क , किम्	का	क्या
द्यौ	दे	सूर्योदय
शिष्य	शोसेई	शिष्य
अहिफेन	आहेन	अफीम
यम	इम्मा	यम
कनक	किनका	सोना

संस्कृत	द्राविड़ (तेलगु)	अर्थ
इह	ई	यहाँ
गौ	औ	गाय
अम्बुद	मब्बु	मेघ
मेष	मेक	बकरा, भेड़ा
दैवम्	दय्यमु	भूत प्रेत
काक	करकि	कौवा
द्यौ	दिवमु	सूर्य

सस्कृत	जन्द	अर्थ	सस्कृत	जन्द	अर्थ
पशु	पशु	जानवर	सप्त	हफ्त	सात
उक्षन्	उक्षन्	बैल	सेना	हेना	फौज
यव	यव	जौ	हस्त	जस्त	हाथ
वैद्य	वैद्य	वैद्य	आहुति	आजुति	आहुति
वायु	वायु	हवा	अहि	अजि	सर्प
इषु	इषु	बाण	अजा	अजा	बकरी
रथ	रथ	गाडी	जानु	जानु	घुटना
गान्धर्व	गान्धव	गायक	अश्व	अस्प	घोड़ा
अथर्वन्	अथर्वन्	ऋषि-यक्ष	स्वप्न	कफ्न	सपना
गाथा	गाथा	पवित्र पुस्तक	गोमेध	गामेज	खेती
इष्टि	इष्टि	यज्ञ	वेद	वइद	वेद
			छन्द	जन्द	अथर्ववेद

यहाँ तक सक्षेप मे उदाहरण आदि से यह दिखलाया गया कि वेदवाणी सस्कृत और पुन अपभ्रंश आदि होकर ससार की समस्त भाषाये बनी। अब भाषा-विज्ञान के आधार पर किये जाने वाले कुछ आक्षेपो का उत्तर दिया जावेगा और पुन इस

कल्पित विज्ञान की व्यर्थता और इतिहास-निर्णय मे असमर्थता पर विचार किया जावेगा।

१ **आक्षेपो के समाधान**—वर्तमान समय मे भाषा-विज्ञान के विद्वानो का यह कथन है कि सभी भाषावो का मूल वैदिक-वाणी वा सस्कृत नही है। वर्तमान मे आर्य, सेमिटिक और तूरानी आदि जो भाषा-भेद पाये जाते है इनमे प्रकट होता है कि कोई एक भाषा थी जो सबका एक मूल थी परन्तु अब वह नष्ट हो चुकी है और इण्डोयोरूपीय भाषा ही इन सब भाषावो का मूल है। ऐसी स्थिति मे वैदिक भाषा का भी मूल यही है और यह सब भाषाओ की माता वा मूल न होकर जन्द और ग्रीक आदि भाषावो की भगिनी है। वेद मे दूसरी भाषाओ के शब्द और इस भाषा की न्यूनताये इसके प्रमाण है।

इस आक्षेप का समाधान करने से पूर्व यह कह देना सर्वथा समुचित है कि 'इण्डोयोरूपीय' कोई भाषा नही। यह केवल कुछ विदेशियो की कल्पना है। यह सर्वांशत कल्पित और मनगढन्त है। ससार के किसी भी भाग मे उसके अस्तित्व को सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नही है। अभी तक ससार की समस्त भाषावो का न पूरा-पूरा व्याकरण जाना जा सका है और न जाच की जा सकी है। केवल कुछ भाषावो के कल्पित सामजस्य और असामजस्य को लेकर इतनी बडी कल्पना करना मिथ्या है। इस थोथे आधार पर आधारित भाषा-विज्ञान (Philology) कोई विज्ञान नही है। इसके कोई वैज्ञानिक नियम नही है—फिर भी इसे विज्ञान कहना विज्ञान शब्द का ही उपहास करना है। इण्डोयोरुपीय मे भी तो इण्डो मूल लगा ही है। जब ऐसी भाषा इनकी मूल है जिसमे आर्य और योरुपीय दानो प्रकार के शब्द थे तो फिर यह प्रश्न उठेगा ही कि जहाँ दो प्रकार का मूल है वह आदि भाषा किस प्रकार है। क्योकि नियमत तो एक ही भाषा मूल मे होनी चाहिए। इस प्रश्न से बचने के लिए यह कल्पना की गई कि इसके पूर्व एक भाषा थी जो लुप्त हो गई और अज्ञात है। पूछना चाहिए कि भाषा तो अपनी अन्त साक्षिया और व्याकरणो आदि से जानी जाती है। जब वह अज्ञात और लुप्त है तो फिर बिना इन साधनो के उसका अस्तित्व किस प्रकार जाना गया। कहना पडेगा कि यह कोरी कल्पना मात्र है।

भारत मे कुछ ऐसे भी कठहुज्जती लोग है जो कहते है कि "विशति" पद सस्कृत भाषा का है। इसका लेटिन मे विगिनटी होता है। जर्मन मे ट्स्वान्ट्सिक है। अग्रेजी मे ट्व्यन्टी है। अब देखना है कि अग्रेजी मे 'ट' की आवाज कहाँ से आई। क्योकि सस्कृत मूल मे तो 'त' है नही। अत यह मालूम पड़ता है कि कोई एक अज्ञात भाषा थी जिसमे बीस के लिए 'द्वि दशति' का प्रयोग होता था और उससे यह अग्रेजी का पद बना होगा और उसी से 'विशति' भी बना होगा। परन्तु यह बात

होना चाहिए कि 'विंशति' पद भी संस्कृत व्याकरण में 'द्विदशति' से निपातित है। 'दशति' पद किसी अन्य भाषा का नहीं बल्कि संस्कृत भाषा का ही है। महाभारत-कालिक यास्क अपने निरुक्त (१०।४०) में ऋग्वेद के लिए 'दाशतयी' का प्रयोग करता है जो 'दशति' से बना है। सामवेद के वर्गीकरण में भी 'दशति' का प्रयोग होता है। यास्क ने निरुक्त ३।६ पर 'विंशति' और शत[1] की निरुक्ति करते हुए लिखा है कि द्विदश से विंशति और दश दश से शत बनता है। शतपथ ७।५।२।४४ में विंश् धातु से 'विंशति' बनाया गया है। इस प्रकार जब महाभारत-काल में और उसके पूर्व भी संस्कृत में यह प्रयोग था तो इसके लिए अज्ञात भाषा की कल्पना करना और वेद से भी पूर्व कितनी अनुचित बात है। वेदों में त्रि सप्त आदि व्यवहार गणना के विषय में पाये जाते हैं।

कैसी-कैसी कल्पनायें इस भाषा-विज्ञान के विषय में की गई है—और इस नाम के ईजाद करने में क्या कुछ किया गया है इसका एक संक्षिप्त वर्णन श्री डा०[2] सम्पूर्णानन्द की पुस्तक आर्यों के आदि देश से दिया जाता है। डाक्टर जी लिखते हैं "आदि भाषा को कुछ लोगों ने पहिले इण्डो-यूरोपियन (भारत-यूरोपीय) कहा। यह नाम बहुत व्यापक था। दूसरा नाम इण्डोजर्मन (भारतजर्मन) सोचा गया, इसलिए कि यह नाम खोज जर्मनी से ही आरम्भ हुई और जर्मन विद्वान् अपनी भाषा को प्रधानता देना चाहते थे। परन्तु इसी कारण से यह नाम दूसरों को नापसन्द हुआ। इसके बाद इस भाषा के लिए संस्कृतिक नाम भी सोचा गया था पर यह भी बहुत संकीर्ण जान हुआ क्योंकि इसमें दूसरी भाषाओं की अपेक्षा संस्कृत का महत्व बढ़ गया। अन्त में आर्य (यूरोप में आरयन) नाम प्रचलित हुआ। आरम्भ में यह नाम संस्कृत-जेन्द और इनमें निकली भाषाओं के लिए रखा गया था परन्तु अब यह पुरानी मातृभाषा के लिए प्रयुक्त हो गया।" यहाँ इस उद्धरण से स्पष्ट है कि इस नाम की कल्पना में क्या भावनायें निहित थीं। यह भी प्रकट है कि यह विज्ञान के आधार पर नहीं बल्कि कल्पना के आधार पर है और इसमें कोई तथ्य नहीं है।

इस प्रकार इण्डोयूरोपियन कोई भाषा नहीं जो सबका मूल हो सके और अज्ञात भाषा का इन सबका मूल होना निरर्थक होने से सहज ही पहले दिखाई गई भाषा की सामग्रियों के आधार पर वैदिकी वाणी को ही सब भाषाओं का मूल कहना सर्वथा उचित है। मैक्समुलर ने इस तथ्य को स्वयं स्वीकार किया है कि "यदि तुम यह कहना चाहते हो कि भाषा के प्रारम्भ अनेक हुये तो तुम्हें यह बात असंभव सिद्ध

---

1 विंशतिर्द्विदशत शत दशदशत । नि ३।६

2 आर्यों का आदि देश, पृ २३

करनी चाहिए कि सब शाखावो का एक ही आदिमूल था[1]।" पुन वे अन्यत्र लिखते हैं" समस्त भाषापरिवार एक ही प्राचीन भाषा की शाखायें[2] हैं" आर्य और सेमिटिक दोनों एक ही मूल भाषा की दो धारायें है—यह भी प्रोफेसर मैक्समुलर ने स्पष्टत स्वीकार किया है[3]। टेलर महोदय का कथन है कि "अब तक दोनो शाखाओं मे अनेकों शब्द एक ही रूप के मिलते[4] है। तुरानी शाखा, समस्त मगोलियन और इथियोपिक जातियो की बोलियो मे प्रयुक्त होती है। इसका विस्तार आस्ट्रेलिया की भाषा से लेकर मद्रास की द्राविड भाषावो तक है। "ब्रिटानिका विश्वकोष' बतलाता है कि अनेको शब्द मद्रास और आस्ट्रेलिया मे एक ही रूप के बोले जाते हैं।[5] मद्रास की तेलगू आदि भाषावो के सम्बन्ध मे केम्बेल का कहना है कि ये भाषाये भी वेद भाषा से ही निकली" है। इस बात का समर्थन रॉयल एशियाटिक सोसाइटी के जरनल मे भी होता है जो सन् १८७० मे प्रकाशित हुआ था[7]। इसी प्रकार यह भी एक तथ्य है कि सस्कृत एक समय समस्त पृथिवी पर बोली जाती[8] थी। इस प्रकार यह सुतराम सिद्ध है कि वैदिकी भाषा ही ससार की समस्त भाषावो का मूल है। भाषाविशारदो की कल्पित इण्डोयूरोपीय अथवा अज्ञात भाषा ससार की भाषावो की मूल नही है।

२—सधि के नियम को आधार मान कर कई भाषा वैज्ञानिक यह कहते है कि सस्कृत भाषा में साधारणतया एक ही शब्द मे निवृत्ति (सधि का न होना) नही देखा

1 Maxmuller's Science of Language Part I Page 166
2 What are called families of languages are only dialects of an earlier speech — China's Place in Philosophy
3. This does not however exclude the possibility that both (Sanskrit & Semetic) are diverging streams of the same source and . that the material elements with which they both started were originally the same Lecture on the Science of Language Vol I P 316
4 Delitzsch goes deeper He claims to have identifed one hundred Semitic roots with Aryan roots Taylors Origin of Aryan
5 The aboriginal tribe in southern and western Australia use almost the same word for I thou he we, you etc as fishermen on the Madras Coast - Encyclopaedia Britanica Volume III Page 778 Ninth Edition
1. It has been generally asserted and indeed believed that the Telgu has its origin in the language of the Vedas — Cambells Telgu grammar Introduction Page XV
2. But this is admitted on all hands that a very large portion of their (Non-Aryan language) Constituent parts is of Aryan origin Journal of Royal Assiatic Society 1870 Vol I P 150
8 At one time Sanskrit was the one language spoken all over the world Edinburgh Review Vol II & III P 43
(See auther's book Vedic Jyoti also)

आता है परन्तु ऋग्वेद १०।७१।२ मन्त्र में आये 'तितउ' शब्द में विवृत्ति पाई जाती है अतः यह शब्द कहीं बाहर से आया होगा।

इसका समाधान यह है कि जिस विषय की बात कही जा रही है वह साधारण है —विशेष नहीं। फिर विशेष नियम को साधारण से घटाया कैसे जा सकता है। 'तितउ' पद उणादिसूत्र 'तनोतेर्डउ' — सनवच्च सूत्र से बना है। यह वैदिक पद है। वेद में अपवाद के नियम भी हैं। 'बहुल छन्दसि' का नियम वेद में लगता है। साथ ही व्याकरण वेद का अङ्ग है। अतः वेद के प्रयोग लौकिक व्याकरण के नियम में बाँधे नहीं जा सकते है। इसके अतिरिक्त व्याकरण के महाविद्वान् स्वयं भाष्यकार पतञ्जलि है और व्याकरण की कृत्स्नता निरुक्त शास्त्र से होती है जिसके आचार्य यास्क है। दोनो के सामने यह पद आ चुका है। इन्होंने भी इस पर व्याकरण की कोई आपत्ति नहीं दी। जब व्याकरण के नियमों मे इसकी निष्पन्नता धातु, प्रत्यय आदि के साथ आचार्य लोग करते आ रहे हैं और महाभारत-कालिक आचार्य इसका इसी प्रकार नियमित व्याकरण करते आ रहे है तो यह कहना कि यह पद कहीं बाहर से आया होगा सुतराम् गलत है। यह वेद का पद है— वैदिकी वाक् है। संस्कृत में अमरकोष और त्रिकाण्ड शेष आदि कोषों में नपुंसक प्रयोग भी इसका पाया जाता है। संस्कृत में वैदिक से आया है और 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्।' के अनुसार इस भाषा मे विराजमान है। निघण्टु ४।१ में 'तितउ' पद है। निरुक्त ४।६ पर यास्क ने इसकी व्याख्या की है। यदि ऐसी ही अनर्गल कल्पनायें करनी हो तो कोई भी कर सकता है। परन्तु व्याकरण आदि का जानने वाला कभी ऐसी थोथी बात नहीं करेगा। वेद में द्वौ सुपर्णौ और सयुजौ तथा 'सखायौ के स्थान में 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया पाठ है। यह वेद का विशेष नियम है। परन्तु इसके आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि यह प्रयोग बाहर से आ गया है। वेद में पुनर्वसु और विशाखा एक वचन में प्रयुक्त होते हैं। भिस् को ऐस् में भी विकल्प है, लेट् लकार भी अधिक होता है। और 'तुमुन्' के अर्थ में से, सेन्, असे, असेन्, क्से, कसेन्, अध्यै, अध्यैन्, कध्यै, कध्यैन् आदि प्रत्यय होते है। परन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता है कि ये शब्द कहीं बाहर से आये होंगे। ऋग्वेद १०-१०६-६ मन्त्र में जर्भरी, तुर्फरीतू, पर्फरीका, जेमना, मदेरू, मरायु आदि पद आये हैं। देखने में मालूम पड़ते है कि ये बाहर के शब्द होंगे जो एक ही मन्त्र में एकत्र कर दिये गए है। परन्तु विचार करने पर पता चलेगा कि इनका भी व्याकरण है और नियम है। भाषा विज्ञान वालों की एक यह बड़ी भारी त्रुटि है कि वे कल्पना और गलत धारणावों की उड़ान में उड़ते हैं। महाभारत-कालिक यास्क और जैमिनि ने पूर्वपक्ष उठाकर इन शब्दों को लेकर उत्तर भी दिये है। जब तीन सहस्र ईस्वी पूर्व भी ये पद वेद में विद्यमान थे तो ऋग्वेद को १००० वर्ष ईस्वी पूर्व मानकर बाहर की भाषा से इनके आने का प्रश्न ही क्या

उठता है। उस समय तो ससार की और कोई भाषा आ ही कहाँ से सकती थी। साथ ही वेद तो उससे भी पूर्व विद्यमान थे। जैसा कि भूगर्भशास्त्र के प्रकरण मे सिद्ध कर आए है। तथा महाभारत से पूर्व ही नही बहुत पूर्व के ग्रन्थ वाल्मीकि रामायण में भी वेदो का वैसा ही वणन है।

३- स्वर्गीय श्री बालगगाधर लोकमान्य तिलक ने लिखा है कि वेदो मे विदेशी भाषा के शब्द पाए जाते है। उनके अनुसार अथववेद मे आये आलिगी, विलिगी, उरुगूल और ताबुव शब्द चाल्डियन भाषा के है। इन शब्दो का वास्तविक अर्थ भी वही पर प्रचलित था। उन्ही के माध्यम मे ये शब्द वेद मे आये। वैदिक एज के लेखक ने ताबुव शब्द को लेकर लिखा है कि "सिलवेन लेवी ने हमारे ध्यान को इस तथ्य की ओर आकृष्ट किया है कि अथववेद का 'ताबुव' पद वेबर (१८७६) और बाथ के अनुसार पालीनशियन शब्द तापु और ताबु से सम्बद्ध है[1]।

इसका समाधान यहाँ पर किया जाता है। ये सभी शब्द अथर्ववेद मे पचम काण्ड के १३वे सूक्त के ७वे, ८वें और १०वे मन्त्र मे आए है। इस सूक्त का देवता प्रजापति है और सर्पों के विष का निवारण करने का वणन है। इसी प्रसग मे ये शब्द भी आए है। यह भ्रम इन विद्वानो को क्या है कि ये शब्द बाहरी देशो की भाषा के है—कहा नही जा सकता है। ये वेद से ही दूसरे देशो की भाषा मे गए ऐसा क्यो न स्वीकार किया जावे। वस्तुत बात तो यह है कि इन पर इस त्रुटिपूर्ण भाषा विज्ञान की छाप पड़ी है और उसी के अनुसार ये बोल रहे है। इन्हे यह भी तो देखना चाहिए था कि इन शब्दो का मूल क्या है। यदि ये शब्द चाल्डियन भाषा के है तो फिर इनकी धातु कहा से कल्पित कर ली गई। कौशिक गृह्यसूत्र मे इनका विनियोग कहा से बना लिया गया। साथ ही कह देने मात्र मे तो काय बनता नही प्रमाण भी देना चाहिए। तापु और ताबु से ताबुव बन गया अथवा अग्रेजी के टैबू से बन गया यह कल्पना तो बडी सरल है परन्तु इसकी सिद्धि करना सरल नही है। स्पष्ट बताना तो चाहिए कि तापु से बना, कि ताबु से बना, वा टैबू से बना। 'आलिगी' शब्द 'लिगि' गतौ' धातु से 'अच्' प्रत्यय और 'ङीप्' करने से बना हुआ है। इसी प्रकार वि उपसर्ग पूवक 'लिगि धातु से विलिगी पद बना है। 'उरुगूला' पद उरु पूर्वक गुरी हिसार्थक और गत्यर्थक धातु से 'क' प्रत्यय और 'टाप्' करके बना है। 'आलिगी' का अर्थ चारो तरफ घूमने वाली, विलिगी' का अर्थ टेढ़ी चाल वाली और 'उरुगूला' का अर्थ बहुत काटने वाली सर्पिणी है। अथर्व ५।१३।१० मे ही 'ताबुव' पद चार बार आया है जिसका सीधा अर्थ है कि ताबुव ताबुव नही है। तू निश्चय ही ताबुव है। ताबुव से विष निर्बल हो जाता है। यहाँ मत्र मे आये 'ताबुव' शब्द का चारो बार

1 देख वदिक एज, पाठ १५०-१५१।

एक ही अर्थ है नहीं। सायण ने इस मन्त्र का अर्थ निम्न प्रकार किया है—जिसका हिन्दी अनुवाद यह है—

'ताबुव नहीं है, ताबुव नहीं है, तू ताबुव नहीं है, क्योंकि ताबुव से विष नीरस हो जाता है।'

इन दोनो प्रकार के अर्थों से यह प्रकट है कि बार बार आये 'ताबुव' पद का एक ही अर्थ नही है। सायण के भाष्य मे एक बडी भारी त्रुटि है कि वह एक नकार का अधिक अर्थ करता है। परन्तु सायण के भाष्य से यह प्रकट है कि 'ताबुव' न सर्प का ही नाम है और न विष का। उसके अनुसार विष को नीरस करने वाली औषध का नाम ताबुव है। फिर ताबुव को सर्प वा विष कहकर विदेशी भाषा का शब्द मानने की कोई स्थिति नही रह जाती। यदि सायण के अर्थ को न मानकर चले तब भी वैदिक एज और दूसरे लोगो का मत सिद्ध नही होता है। क्योंकि यहाँ पर ताबुव का अर्थ वृद्धि करने वाली वस्तु और पीडा देने वाली वस्तु है। ये दोनो अर्थ इस कारण भी है कि 'तु' धातु जिससे 'उण्' प्रत्यय होकर 'ताबु' पद बना है वह गति, वृद्धि और हिंसा अर्थ मे है। साथ 'व' भाग 'वा' गन्धर्थक और गन्धनार्थक धातु से बना है। इससे वर्धक, नाशक आदि सभी अर्थ यहाँ पर गृहीत हैं। यहाँ यदि विष का ग्रहण किया जावे तो विषनाशक का भी ग्रहण साथ ही प्राप्त है। परन्तु विदेशी 'तापु', ताबु और टॅबू मे यह अर्थ नही घटता। अत ये शब्द एक सकुचित अर्थ को लेकर पाश्चात्य भाषा मे वेद से गए न कि वहाँ से वेद मे आए। भाषा मे सकोच का नियम है—विकास का नही। इसी प्रकार 'आलिगी', 'विलिगी' व्यक्तिवाचक नही है। किसी एक सर्प के ये नाम नही है। ये जातिसूचक सामान्य पद हैं जो इस प्रकार के सभी सर्पों के लिए प्रयुक्त हो सकते है। परन्तु चाल्डियन भाषा के शब्दो मे ऐसी यौगिकता लेखक दिखला नही सके हैं। अस्तु! यह तो ठीक है कि ये शब्द वैदिक-भाषा से इन भाषावो मे गए। परन्तु यह नितराम् असम्भव है कि ये शब्द विदेशी भाषावो से वेद मे आये। 'आर्यन' शब्द जिस प्रकार विदेशी भाषा से वेद मे नही आया अपितु वेद से और सस्कृत भाषा से विदेशी भाषावो में गया है—वैसा ही यहाँ पर भी समझना चाहिए। क्या कोई भाषा-विज्ञान का ज्ञाता यह सिद्ध करने का साहस कर सकता है कि 'एरियन, आर्याना, अथवा ईरान से आर्य शब्द बना है।

४. एक यह आपत्ति उठाई जाती है कि आर्यों की किसी भाषा मे 'ट वर्ग' नही है। और निरुक्तकार ने भी माना है कि तवर्ग ही टवर्ग हो जाता है।

इस पर भी यहाँ पर विचार किया जाता है। प्रथम तो यह कहना कि आर्यों की भाषा में टवर्ग नहीं—यह ही भ्रान्त धारणा है। अंग्रेजी मे 'टी' 'डी' मौजूद हैं। अंग्रेजी भी तो आर्य-वर्ग में ही है। परन्तु वैदिक वा संस्कृत भाषा में टवर्ग नहीं, यह और भी गलत धारणा है। टवर्ग से शब्दो का प्रारंभ न होना कोई कमी की बात नहीं। ऋ, र, ष, और टवर्ग का उच्चारण स्थान मूर्धा हैं। ये साथी हैं। अनेकों शब्द पाये जाते हैं जिनके मध्य और अन्त मे 'टवर्ग' पाया जाता है। यदि 'टवर्ग न होता तो इनमें टवर्ग कहाँ से आ जाता। इडा, काट, काण्व, काष्ठा, कुणारु, 'कुण्डृणाच्या' आखण्डल, हेडम, जठर, कीकट, बिठ, आदि पदों मे टवर्ग कहाँ से आ गया, यदि टवर्ग था ही नही। 'डयते' निघण्टु मे गतिकर्मा है। यह कोई नियम नही कि टवर्ग से शब्द अवश्य प्रारम्भ किए जावें। ष् के सयोग मे जो टवर्ग वर्ण आते हैं वे भी तो सूचना देते हैं कि टवर्ग है। अभिष्टि, इष्टि, कुष्ठ, पष्ठ आदि मे जो 'ट' हैं क्या यह वैसे ही कही से कूद पडा है। जिस भी भाषा मे 'कष'='क्ष' का उच्चारण मौजूद है उसमे 'ट' की सभावना है ही। जिसमे 'ष' हो उस भाषा मे 'ट' न हो—यह सभव नही। पद तो अन्तिम वर्णों से और थ, झ, से भी नही प्रारभ होते तो क्या इनका होना व्यर्थ है। वैदिक और सस्कृत वाणी को छोडकर आर्यों की किसी भाषा मे 'ऋ' भी नही है। परन्तु इससे वेद और सस्कृत के 'ऋ' कही आकाश से आ गिरे ?

निरुक्त के अनुसार वैदिकी प्रक्रिया से 'निगन्तव' का 'निघण्टव' बनाया गया है। यहाँ पर 'निगन्तव' के 'त' को 'निघण्टव' मे 'ट' हो गया है। ये दोनो पर्याय हैं। परन्तु यहाँ पर 'घ' का 'ग' वा 'ग' का 'घ' किस प्रकार बन गया—यह भी तो बतलाना चाहिए। साथ ही निर्हन्तु और 'निर्हर्त' भी तो वही पर पठित है। इनसे भी तो निघण्टु पद बनता है। इस प्रकार यहाँ पर कुछ आक्षेपो का समाधान किया गया और यह दिखलाया गया कि वर्तमान भाषा-विज्ञान की सारी कल्पनाये निरर्थक हैं। भाषा-विज्ञान के अपने कोई निश्चित नियम नही।

भाषा-विज्ञान के नियम का व्याघात—भाषा-विज्ञान मे जैसा पूर्व लिखा गया है कोई दृढ नियम नही। यदि कोई नियम भी कल्पित किया गया तो वह स्वय कट जाता है। भाषा-विज्ञान का यह एक नियम है कि वर्णमाला के प्रत्येक वर्ग का दूसरा और चौथा अक्षर उत्तरोत्तर भाषाओं मे पहले और तीसरे अक्षर तथा हकार का रूप धारण करता है। पहला और तीसरा अक्षर दूसरे और चौथे 'अक्षर' का रूप धारण नही करते और न हकार को वर्ग के दूसरे अथवा चौथे अक्षर का रूप मिलता है।

वहाँ पर इन नियमों की विपरीतता दिखाई जाती है। वर्ग के प्रथम वर्ण को द्वितीय और प्रथम, तृतीय को चतुर्थ होते हैं। नीचे की शब्द-तालिका उसका प्रमाण है—

प्रथम वर्ण को द्वितीय होता है

संस्कृत	पंजाबी	हिन्दी
परुषक	फालसा	फालसा
तुत्थ	थोथा	थोथा
नीलोत्पल	नीलोफर	नीलोफर
कोटर	खोड	खोडर
कर्परिका	खपरिया	खपडा
अकोठ	अखोल	×

तृतीय वर्ण को चतुर्थ

सं०	पं०	हिन्दी
श्रृंगाटक	सघाडा	सिंघाडा
चुचुन्दरी	झीगर	झींगुर
बिस	भे	भिस

हकार का रूपान्तर

गुहा	कुभा (पाली)	गुफा (पंजाबी) उर्दू
सिंह	सिंघ (पंजाबी)	
नहुष	नघुष (पाली)	
हिञ्जीर	ज़ंजीर (उर्दू)	जंजीर (पंजाबी)
अहि	अज़ि (जन्द)	अफि (फारसी)
दुहिता	दुख्तर (फारसी)	

जिस प्रकार प्रथम अक्षर को द्वितीय अक्षर होता है उसी आधार पर संस्कृत षष् का 'षष्टं' और त्रिंशत् को 'थर्टी' बना है। जिस प्रकार ह को ज और ज हो जाता है उसी आधार पर संस्कृत हंस का जर्मन गंज और अंग्रेजी का गूज़ भी बन गए हैं। इसी प्रकार कई भाषा-विज्ञान के विशारद जो यह कहते हैं कि संस्कृत में जहाँ केवल 'अ' 'आ' स्वर हैं वहाँ ग्रीक भाषा में इसके स्थान में 'अ' 'ई' 'ओ'

आदि अनेक स्वर हैं और इसलिए संस्कृत और ग्रीक किसी एक ऐसी भाषा से निकलीं जिसमें स्वर अधिक थे—यह कथन भी निराधार है। क्योंकि नीचे कुछ उदाहरण ऐसे दिए जावेंगे जिनसे यह सिद्ध हो जावेगा कि इसी संस्कृत 'अ' के ही 'अ' 'इ' 'ओ' आदि अनेक रूप दुष्ट उच्चारणो के कारण बन गए हैं। संस्कृत साहित्य मे 'अ' के १८ भेद होते हैं। परन्तु 'अ' का 'इ' वा 'ओ' बनना सर्वथा निराधार है। यह दुष्ट उच्चारण के कारण हैं।

चटक	चिडा (पजाबी)
यम	यिम (फारसी)
चष्टन	टिअस्टनेस (ग्रीक)
काक	कौआ (हिन्दी)
चन्द्रगुप्त	सैण्ड्राकोटस (ग्रीक)

बिना नियम के अपभ्रंश भी भाषा-विज्ञान को अधूरा सिद्ध करते हैं। इनका उदाहरण निम्न प्रकार है—

अहिदानव अजिदहाक (दाहक)

चिरबिल्व—चिरहिल्वि (लौकिक रूप)

वितस्त—हाइडेस्पस (Hydaspes)

इस प्रकार यह सिद्ध है कि भाषा-विज्ञान अपने निर्धारित नियमो पर ही खरा नही उतरता है।

भाषा-विज्ञान की इतिहास के विषय मे व्यर्थता—ऊपर भाषा-विज्ञान-सम्बन्धी विविध बातो पर विचार किया गया। जो कुछ रह गया होगा वह वेदो के विषय मे विचार करते समय और भी स्पष्ट कर दिया जावेगा। यहाँ पर यह दिखला कर इस विषय को समाप्त किया जावेगा कि भाषाविज्ञान इतिहास के निर्णय की कोई भी सामग्री नही प्रस्तुत करता है। उसके आधार पर काल आदि का निर्धारण सर्वथा ही व्यर्थ है।

श्री इमाइल बरनफ का कथन है कि 'फिर भी तुलनात्मक भाषा-विज्ञान कठिनाई से एक विज्ञान के रूप मे स्थिति वाला कहा जा सकता है। इसके नियम और वास्तविक विकास कही पर स्थापित और व्याख्यात नही है। जब देव-विज्ञान (Mythology) जैसे धार्मिक विषयो के साथ इनको प्रयुक्त किया जाता है, तब झूठे नियम के चरितार्थ हो जाने का खतरा रहता है। अथवा गलत प्रयोग भी इनका हो

जाता है ।[1]

पुन उसी विद्वान् का कथन है कि भाषा-वैज्ञानिक इस बात पर अवश्य ध्यान दें कि उन झूठे नियमों से जिनके द्वारा वे चलते हैं वे केवल प्राचीन धर्मों के परमात्मा को ही नहीं समाप्त करते हैं बल्कि जेसस एव क्राइस्ट के नाम को भी एक रूपक मात्र बना देते है ''भाषा-विज्ञान के ज्ञाता इस बात को न भूलें कि जहाँ एक गलत नियम कभी-कभी सत्य परिणाम उत्पन्न करते है वहाँ सत्य नियमो से कभी भी झूठे परिणाम नही निकाले जा सकते हैं। इस (भाषा-विज्ञान) की व्याख्यावो को अधिक महत्व या मूल्य नही देना चाहिए, सिद्धान्त और कर्मकाण्ड के मूल के निर्धारण मे भी इनके शब्दो को नही स्वीकार करना चाहिए। इन व्याख्यावो की शक्ति के बाहर है कि हमे ये प्रकाश दे सके ।[2]

डाक्टर रफेल कार्स्टीन पी० एच० डी का कथन है कि विकासवाद का आधार ठीक नही है। विकास (Evolution) और आदिम (Primitive) शब्दों को बहुत सावधानी से बर्तना चाहिए। वे कहते हैं कि मैं पहले ही सकेत कर चुका हूँ (पिछडी और आदि जाति) का विभाग करना ठीक नहीं। मैं इतना पुन जोडता हूँ कि जबकि फ्यूजियन (Fuegians) की भाषा डार्विन के द्वारा अर्ध-पशु की भाषा के सदृश और सर्वथा अपरिमृष्ट (निरर्थक) मानी गई थी— आंग्ल मिशनरी थॉमस

1 Still comparative philology scarcely exists as a science, its method and essential development are not nowhere expounded and explained When brought into the field with religious subjects, such as mythology, for instance, there is danger of setting to work false principles or of applying them wrongly. The Science of Religions by Emile Burnouf, english translation 1888 edition, P. 2

2. Philologists must be aware that the false principle by which they are guided does not undermine the divinity of ancient religions alone, but also modern ones as the .. Christ and Jesus all which it reduces to metaphors... . .

Philologists must not forget that whilst a false principle sometimes engenders true consequences, false consequences can never be derived from true principles. It does not do therefore to attach too great a worth to philological interpretations, nor to take their word for the origin, of dogmas and rites, it is not in their power to enlighten us. The Science of Riligions. P. 18.

ब्रिजेस ने कुछ दशक बाद उसी भाषा मे ३२००० शब्दो की शब्दावलि का संग्रह[1] किया।"

श्री डाक्टर सम्पूर्णानन्द जी अपनी पुस्तक 'आर्यों का आदि देश, पृष्ठ २५ पर लिखते हैं—

"जैसे कुछ शब्दों के अस्तित्व से कुछ बातो का अनुमान किया जाता है वैसे ही दूसरे शब्दो के अभाव से भी कुछ अटकल लगाया जा सकता है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि अभाव के आधार पर जो तर्क खडा होता है वह अस्तित्व-मूलक तर्क के बराबर पुष्ट नही होता। यदि पेट के लिए इन भाषावो मे समान शब्द न मिलें तो इससे यह अनुमान तो नही किया जा सकता कि उन प्राचीन आर्यों के शरीर मे पेट होता न था।"

परन्तु इस सारी इमारत की नींव मे जो कल्पना है वही विवाद का विषय है। भाषावो के साम्य को देखकर यह मान लिया गया कि उन भाषावो के बोलने वालो मे भी साम्य रहा होगा और फिर साम्य के परिचायक लिंग ढूंढे जाने लगे। पर यह बात कैसे मान ली जाय कि जिन लोगो की भषा एक है उनके पूर्वज भी एक थे? आज जो लोग हिन्दी बोलते हैं उनकी विषमता प्रत्यक्ष है। धीरे-धीरे हिंदी भारत की राष्ट्र भाषा तो बन ही रही है, करोडो मनुष्यो की मातृभाषा होती जा रही है। उसमे कोल, भाल, गोड आदि जगली और अर्ध-जगली लोगो की बोलियों के शब्द भले ही मिल जायें पर उन बोलियों को उसने दबा दिया है। यदि भाषा मात्र की समता देखकर कोई इन सब (वेष-भूषा और भाषा में अग्रेजो की नकल करने वालो और अग्रेजो) को एक मान ले और इनमे एकता के लक्षण ढूंढने लगे तो उसे कुछ बातें तो मिल ही जायेंगी पर उसका विभाजन निराधार और कृत्रिम होगा। भाषा और सभ्यता के बाहरी आडम्बर के एक होने से वश की एकता सिद्ध नही होती।"

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि भाषा मे विकास का कोई स्थान नही और यह भाषा-विज्ञान इतिहास की कडियो की सिद्धि मे कोई साधन नही और न यह कोई विज्ञान ही है।

---

1 I have already pointed out that this opinion must be considered erroneous I may add that, whereas their language for instance, was regarded by Darwin as half-animal-like and not even as articulate the english missionary Thomas Bridges, a few decades latter, noted down in this same language a vocabulary of no less than 32,000 words

—The Origins of Religion, by Rafael Karsten Ph. D 1935 edition. Page 14.

अध्याय ५

आर्येतिहास के प्रामाणिक स्रोत

इसके पूर्व के प्रकरणो में विदेशी पद्धति से माने गये इतिहास के स्रोत भाषा-विज्ञान आदि का खण्डन किया गया और विदेशी मान्यताओ का भी निराकरण किया गया। ऐसी स्थिति मे यह स्वभावत प्रश्न उठ सकता है कि फिर आर्यों के आदि इतिहास को किन स्रोतों से ढूंढा जावे ?।

यहाँ पर यह स्मरण रहे कि वेद की चार सहितायें जो ईश्वरीय ज्ञान स्वीकार की गई हैं उनमे कोई भी इतिहास की सामग्री न हो सकती है और न है। उनमें इतिहास की सामग्री ढूंढना व्यर्थ और मिथ्या प्रयास है। वैदिक इन्डेक्स[1] तथा अन्य विद्वानो द्वारा लिखित पुस्तकों के आधार पर वेद मे व्यक्तियो, स्थानो आदि की संज्ञाओ को लेकर इतिहास गढना एक दु साहसपूर्ण और अनभिज्ञतापूर्ण प्रयास है। वेदो से सामान्य-सज्ञा को लेकर पुराणो मे कथित कहानियो से मिलान करके इतिहास की कडियाँ जोडना भी सर्वथा ही असगत है। पुराण प्रामाणिक ग्रन्थ नही और उनमे कथित सामग्री भी प्रमाणयुक्त नही।

१ वेद की सहिताओ को छोडकर शाखायें, वेदाग, ब्राह्मण आदि वैदिक ग्रथों मे इतिहास की सामग्री मिलती है। अत ये प्रथम स्रोत है।

२ दूसरे स्रोत मे वाल्मीकीय रामायण है।

३ तीसरा स्रोत महाभारत है।

४ सस्कृत साहित्य के ग्रन्थ और उनकी टीका प्रटीकायें चौथे स्रोत में आती हैं।

५ अर्थ-शास्त्र, लिखित इतिहास और बौद्ध आदि ग्रथ पाँचवें स्रोत हैं।

६ छठें स्रोत मे विदेशीय लोगो के ग्रन्थ, यात्रियो के वर्णन आदि हैं।

७ सातवें स्रोत मे शिला-लेख, ताम्रशासन, मुद्रायें आदि हैं। परन्तु इनका सम्बन्ध केवल पिछले थोडे काल के साथ ही है।

---

1. वैदिक इन्डेक्स तथा अन्यों द्वारा प्रदर्शित सभी इतिहासों का उत्तर लेखक ने अपनी प्रसिद्ध बृहत् पुस्तक वैदिक-इतिहास-विमर्श में दिया है।

८ ज्योतिष की सामग्री के आधार भी इस दिशा मे साधन हैं।

यहाँ यह स्पष्टीकरण आवश्यक है कि वेद की भाषा, वेद के धर्म, उनकी अन्त साक्षी के आधार पर कोई ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध नही होती है। यह विदेशियो और उनके चरण-चिन्हो पर चलने वाले एतद्देशीय विद्वानो की एक विदेशीय पद्धति है कि वे वेद से अनेक प्रकार की घटनायें निकालकर उनसे इतिहास निकालने का प्रयत्न करते है। इस विदेशीय एव त्रुटिपूर्ण कल्पित पद्धति का सर्वथा परित्याग करके ही आर्येतिहास का शुद्ध रूप उपस्थित किया जा सकता है।

यदि कोई दुराग्रह-वशात् वेद की सहितावो को इतिहास की घटनावो से सम्बद्ध कर इतिहास की शृखलावो को जोडने का प्रयत्न करेगा ही तो निश्चित है, जैसा कि पूर्व दिखलाया जा चुका है— ऐसी भी कल्पनायें खडी हो जावेगी जो इस दुराग्रह को ही समाप्त कर देगी। निकाला परिणाम सर्वथा ही इन्ही आधारो पर खण्डित हो जावेगा।

अध्याय ६

आर्यलोग बाहर से नहीं आये—न उनसे पूर्व धरा पर कोई अन्य जाति ही थी।

इतिहास की जहाँ अन्य विदेशी मान्यताये है वहाँ एक मान्यता यह भी है कि आर्यलोग भारत मे बाहर से आये और उनसे पूर्व यहाँ पर अनार्य लोग रहते थे। आर्यों ने आकर इन पर आक्रमण किया। ये लोग उसी प्रकार विदेशी है जिस प्रकार पठान, मुगल और अग्रेज आदि। अपने को आदिवासी कहलाने वाले भी इस प्रभाव से प्रभावित है और वे स्वय को इस देश का आदिवासी मानते हैं। इसी प्रकार एक विचार-धारा यह फैलाई जा रही है कि आर्यों मे पूर्व जो आदि-वासी थे उनमे द्राविड लोग भी है। ये आर्यों से पूर्व यहाँ पर थे। इनकी सभ्यता थी, किले थे, नगर थे। आर्यों ने आकर इन्हे जीता। इनका भी आर्यों के दर्शन आदि पर पर्याप्त प्रभाव है। द्राविड मुनेत्र कडगम आन्दोलन भी इसी भावना पर अपना आधार रखता है। कई लोग तो यहाँ तक साहस करते हैं कि मोहन्जोदारो की सभ्यता आर्यों से पूर्व की है और वह द्राविड सभ्यता है। आर्यों की सस्कृति पर उसकी पर्याप्त छाप है। आर्य दर्शनो के विकास मे भी उसके दिए तत्व ही निहित[1] है। भारत मे स्कूल से लेकर विद्यालयो तक ये बाते पढाई जाती है। इन्ही आधारो को लेकर पढे-लिखे लोगो मे भी रूढियाँ अपना कार्य कर रही हैं। ये रूढियाँ दो प्रकार की हैं—१ आर्य लोग भारत के बाहर से आकर यहाँ बसे। २ भारतीय सभ्यता मिश्र और ईराक की सभ्यता की अपेक्षा पीछे की है। इस प्रकरण मे यहाँ पर कुछ विचार इस विषय पर किया जाता है।

आर्य लोग बाहर से भारत मे आए—इस विषय पर यह प्रश्न उठता है कि कहाँ से आए? इसका समाधान यह किया जाता है कि वे मध्य एशिया मे रहते थे और खाने-पीने की कमी आदि के होने पर भारत मे उनका दल आकर बसा। इस विषय में पाश्चात्य इतिहास-वेत्ताओ को बडा ही मनोरस था। कुछ भारतीय विद्वान्

---

१ निराकरण लेखक की पुस्तक दर्शनतत्व-विवेक में किया गया है।

भी इसी पथ के गामी हैं। परन्तु कुछ भारतीय विचारको ने इस बात का विरोध किया और अपनी धारणा के अनुसार आर्यों को भारत का ही मूल निवासी बतलाया। भारत मे किस स्थान पर ये आर्य लोग रहते थे ? इसके विषय मे और विभिन्न तर्क और सरणियो के विषय मे मतभेद होना स्वाभाविक है परन्तु इस तथ्य मे इन विद्वानो की सराहना की जानी चाहिए कि इन्होने आर्यों के आदि स्थान को विदेश से हटाकर भारत मे लादिया।

श्री लोकमान्य बालगगाधर तिलक ने आर्यों का आदि निवास-स्थान उत्तरी ध्रुव का प्रदेश स्वीकार किया है। श्री नाना पावगी महोदय आर्यों का आदि-निवास पजाब की सैधव श्रेणी में बतलाते है कि सोमलता के साथ आर्यों का सम्बन्ध पाये जाने से यह ज्ञात होता है कि उनकी उत्पत्ति सप्तसिधु मे हुई। स्वर्गीय श्री अविनाश चन्द्र दास ने आर्यों का निवास सप्तसिधु मे माना है। श्री डा० सम्पूर्णानन्द जी भी श्री दास बाबू के ही समर्थक हैं।

इसमे सन्देह नहीं कि आर्यों के विदेश आने के विषय मे जिस प्रकार के तर्क दिए जाते है, लगभग वैसे ही तर्कों का अनुसरण इन पक्षो की स्थापना मे भी किया गया है। ये सभी लोग अपने पक्ष की स्थापना मे वेद को ऐतिहासिक सामग्री का स्रोत बनाते है जो सर्वथा ही अनुचित है। जैसा पूर्व कहा जा चुका है वेद मे किसी ऐतिहासिक घटना का वर्णन नही है।

इसी से सम्बन्ध रखने वाला एक विचार और भी है। वह यह है कि मानव सर्वप्रथम पृथिवी पर कहाँ अवतरित हुआ ? इसका भी उत्तर नीचे लिखे अनुसार दिया जाता है।

१ विकासवाद को स्वीकार करने वाले मानते हैं कि चूंकि मनुष्य बन्दर का विकास है अत वह वन मनुष्य से मनुष्य तक पहुँचते हुए असभ्य, काला और बद-शक्ल आदि रूप मे प्रकट हुआ और अफ्रीका आदि के नीग्रो ही मनुष्य के पितामह है और मनुष्य पहले अफ्रीका आदि मे ही हुआ।

२ कुछ पुराने विचारो के लोग आदि सृष्टि को मगोलिया, मध्य एशिया, अदन का बाग, तिब्बत अथवा भारत मे हुई मानते हैं।

३ वैज्ञानिक लोग वर्तमान एशिया और अफ्रीका के मध्यवर्त्ती पोलिनिशिया और जावा के समीप के स्थान को आदि मानवस्थान स्वीकार करते हैं। अफ्रीका के विक्टोरियानयाजा और टाँगनिका सरोवर के पास भी मनुष्य का प्रादुर्भाव कई विद्वान् मानते है।

इन उपर्युक्त विचारो मे प्रथम विचारधारा विकासवाद से सम्बन्ध रखती है। विकासवाद का पूर्व प्रकरण मे खण्डन किया जा चुका है। विकासवाद-सिद्धात के

खण्डित हो जाने से यह विचारधारा अपने आप निर्मूल हो जाती है। तीसरी विचारधारा कहने को तो वैज्ञानिको की विचारधारा है परन्तु इसमे भी विकासवाद और उससे नि स्यूत कल्पनायें ही कार्य कर रही हैं। अत यह वाद भी युक्ति और तर्क से सगत नही है। रह जाती है शेष दूसरी विचारधारा। इसमे भी मगोलिया और मध्य एशिया सम्बन्धी विचार कुछ कृत्रिम नियमो को आधार मानकर बनाये गए हैं। इनमे भाषा-विज्ञान, उपजातिवाद का स्थान भी महत्व रखता है। यह दोनो ही बनावटी वस्तु है। अत यह विचारधारा भी ठीक नही।

अदन का बाग एक ऐसे धर्म की नींव पर कल्पित किया गया है जो आलकारिक है और उसका मूल तथा उस धर्म का मूल भी अपना नही है। इनका भी स्रोत भारत के धर्म मे निहित है। यही से इसका पल्लवन हुआ। अत यह पक्ष भी युक्तियुक्त और सगत नही। भारत मे मानव उत्पन्न हुआ यह पक्ष ठीक है। परन्तु सप्तसिधु मे पैदा हुआ—इसके लिए भी जो प्रमाण दिए जाते है वे ऐसे हैं जो ऐतिहासिक नही। ये प्रमाण गढ़कर बना लिए गए हैं। वस्तुत इनके पीछे कोई ऐतिहासिक मूल्य है नही।

अब रह जाता है तिब्बत पर सृष्टि के आदि मे मानव के उद्भूत होने का विचार। यह विचार कसौटियो पर ठीक उतरता है। मानव के उत्पन्न होने पर आवश्यकता की पूर्ति के लिए कई वस्तुवो की आवश्यकता होती है। इनमे आहार के लिए फल-मूल, जलवायु आदि बहुत ही आवश्यक है। परन्तु इनके अतिरिक्त कई ऐसी कसौटियाँ है जिनपर उस स्थान का उतरना आवश्यक है। इन सबको सग्रहात्मक रूप मे निम्न प्रकार कहा जा सकता है—

१ भूगर्भशास्त्री जिन कसौटियो को भूसम्बन्धी निर्णय मे लगाते है उसके अनुसार पृथिवी का ठण्डी होना और जल से उसके भाग का प्रथम बाहर आना भी सिद्ध होता है। अत वह स्थान ऐसा होना चाहिए जो सबसे ऊँचा होने से जल से पहले बाहर हुआ हो।

२ चूँकि सृष्टि की आदि मे अमैथुनी सृष्टि होती है और सभी युवा उत्पन्न होते हैं—अत यह स्थान ऐसा होना चाहिए जो इस अपेक्षा को भी पूरा करता हो।

३. 'आर्य' पद अर्य के अपत्य के अर्थ मे है। आर्य का अर्थ ईश्वर पुत्र है। जो किसी जाति (Race) से उत्पन्न नही। भूमि भी सर्वप्रथम आर्य को ही मिलती है। अत ऐसी स्थिति में मूल में केवल एक ही जाति आर्य उत्पन्न होती है। ऐसी स्थिति में वह स्थान ऐसा होना चाहिए जो प्रथम पुरुषो की उत्पत्ति का स्थान हो।

४. युवावस्था मे उत्पन्न इन मानवो की खानपान की आवश्यकता की पूर्ति के लिए जहाँ प्रारम्भिक खूराक फल आदि हो और वायुजल भी अनुकूल हो।

५ उस स्थान पर अब भी आस-पास उस रूप, रग के मनुष्य बसते हो तथा मनुष्य-जाति के स्मरण का विषय हो।

इन कसौटियो पर हिमालय प्रदेश ही ठीक उतरता है। तिब्बत हिमालय पर उत्तम स्थान है। अत ये सारी वस्तुवे उस पर ठीक-ठीक घटती है। मनुष्य शब्द पर विचार करते हुए निरुक्त २।७ पर लिखा है कि मनुष्य वह है जो सोच समझकर कर्म करता है। जो मनस्वी हो अथवा मनु का अपत्य हो। मनु नाम वैदिक साहित्य मे प्रजापति परमेश्वर का भी है और मानववश के आदिपुरुष का भी है। आदि मे सृष्टि अमैथुनी होती है और वह मनु=परमेश्वर से उत्पन्न होती है अत मनुष्य मनु का अपत्य है। पुन जो मानव की परम्परा चलती है वह आदि मानव मनु से चलती है अत वह मनु की सतान है। दोनो अवस्थावो मे मनु का अर्थ अर्थीभूत है। मेनिग[1] ने अपनी पुस्तक मे एक विशेष बात पर प्रकाश डाला है। इससे भी यह बात सिद्ध होती है कि मनु आदिपुरुष है। मनुष्य जाति के पूव पितामह मनु वा मनस उसी प्रकार जर्मनो के मनस और टयूटनो के मूल पुरुष समझे जाते है। अग्रेजी का 'मैन' और जर्मन का 'मन्न' शब्द मनु शब्द के साथ उसी तरह मिलता है जिस तरह जर्मन का 'मनेश' सस्कृत के मनुष्य शब्द के साथ। उसमे यह स्पष्ट है कि मनुष्य का पूर्वज मनु है और यह सभी जातियो के विषय मे एक-सा है। शतपथ ब्राह्मण मे (१।८।१।६) मनु का उत्तर गिरि से अवसर्पण लिखा है। इसी प्रकार महाभारत वन-पर्व के १८७ अध्याय मे भी हिमवान् के शृग पर मनु की नौका का बाधी जाना वर्णित है। चरक चिकित्सास्थान ४।३ मे लिखा है कि महर्षि लोगो का निवास-स्थान हिमालय पर था। इसी मे यह भी बतलाया गया है कि ग्राम्यवासकृत आत्मदोष को जानकर पुन अपने पूर्व निवास हिमवान् को गये। यहाँ पर पूर्वनिवास पद यह बतला रहा है कि आर्यों का आदि निवास

1 It has been remarked by various authors (as Kuhn and Zeitschrift IV, 94 H) that in anology with Manu or Manus as the father of mankind or of Aryas, German mythology recognises Manus as the ancestor of Tuetons The English man, and German Manu appear also to be akin to the word Manu, as the German Manesh presents a close resemblance to Manish of Sanskrit.—Ancient & Mediaval India, Vol. I. P. 118.

स्थान हिमालय पर तिब्बत ही था। वहाँ से बाद मे ये लोग अन्यत्र फैले। इस प्रकार हिमालय प्रदेशीय तिब्बत का स्थान जब आदि स्थान आर्यों का सिद्ध है तो फिर अन्य कल्पना के लिए कोई स्थान नही रह जाता।

तिब्बत की स्थली की साम्प्रतिक रूप-रेखा मे भी कुछ ऐसे चिन्ह पाये जाते हैं जो यह सिद्ध करते हैं कि यह स्थान मानव का प्रथम स्थान रहा है। तिब्बत की राजधानी 'ल्हासा' है। यह नाम इसलिए पडा कि यह देवभूमि है। 'ल्हा' का अर्थ देव और सा' का अर्थ भूमि है। तिब्बत की एक व्यापार-मण्डली का नाम 'रुद्रोक' है। इसका अर्थ है रुद्रो का घर। देवराज इन्द्र जो विशेष राजा है उसके भाई ११ रुद्र यहा पर ही रहते थे। ऐतरेय ब्राह्मण ३।३८ मे यह वर्णन मिलता है कि उत्तरकुरु और उत्तरमद्र हिमालय के पर भाग मे थे। इससे ज्ञान होता है कि ये तिब्बत मे ही थे। पश्चिमी तिब्बत मे ही कैलास पर्वत की स्थिति मानी जाती है। प्राचीन समय मे महादेव और पार्वती का यह स्थान रहा है। यही पर नन्दी आदि भी रहते थे। नन्दी ने नाभियन्त्र[1] की रचना की थी और यह रस शास्त्र तथा काम-शास्त्र का ज्ञाता था। स्वय शिव या महादेव भी आयुर्वेद के ज्ञाता थे। इनके अनेकों प्रयोग आयुर्वेद के ग्रन्थो मे मिलते है। इनके मित्र कुबेर ने भी अगद तंत्र का अध्ययन इन्ही से किया था। चरकसहिता चिकित्सास्थान २६।८१[2] मे इसका वर्णन मिलता है।

मानसरोवर के ऊपर अर्थात् उत्तर मे और मेरु के दक्षिण मे यमपुर नाम का नगर था। इसमे सूर्य का पुत्र यम रहा करता था। यह वैवस्वतयम अथर्व और ऋग्वेद के बहुत से मन्त्रो का द्रष्टा था। इसने आयुर्वेद मे ज्ञानार्णवतंत्र की रचना की थी। आज से लगभग पाँच सहस्र तीन सौ वर्ष पूर्व ऋषि पुनर्वसु[3] आत्रेय ने कैलास

---

1 (क) नाभियन्त्रमिद प्रोक्त नन्दिना सर्ववेदिना। रसरत्नसमुच्चय पू ख ९।२८

(ख) महादेवानुचरश्च नन्दी सहस्रेणाध्यायाना कामशास्त्र प्रोवाच। वात्स्यायन कामसूत्र।८१

2 अगदोऽयं वैश्रवणायाख्यातस्त्र्यम्बकेणवण्टङ्क अप्रतिहतप्रभावख्यातो महागन्ध-हस्तीति।

3 एते श्रुतवयोवृद्धा जितात्मानो महर्षय।
वने चैत्ररथे रम्ये समीयुर्विजिहीर्षव ॥ चरक सू० २६

पर्वत मानसरोवर अलकापुरी मे कुबेर के राजभवन के समीप तथा अन्य त्रिविष्टप के भूभागो मे भ्रमण करते हुए ऋषि अग्निवेश, पराशर, हारीत, भेल, क्षारपाणि और जतूकर्ण आदि अनेक शिष्यो को आयुर्वेद की शिक्षा दी थी। इसी प्रकार चैत्ररथ वन मे जो कुबेर का था, पुनर्वसु ऋषि की अध्यक्षता मे आयुर्वेदविज्ञान के वैज्ञानिको के अनेक सम्मेलन भी हुए थे। हिरण्याक्ष, मौद्गल्यादि ऋषि काशी के महाराज वामक, विदेहराज निमि, बाह्लीक, आचार्य काकायन ने उसमे भाग लिया था। कैलास पर्वत के उत्तर मे अमरावती नाम की एक नगरी थी। यह इन्द्र की नगरी थी। यहीं पर इन्द्र रहा करते थे। ये देवराज उपाधि से युक्त इसलिए थे कि विद्वानो मे भी श्रेष्ठ थे। इनकी पत्नी का नाम शची था। ये पति पत्नी ऋग्वेद के कई मन्त्रों के द्रष्टा भी है। इन्द्र आयुर्वेद के ज्ञाता थे। साथ ही व्याकरणशास्त्र के भी ये ज्ञाता थे। त्रेतायुग मे काशी के राजा दिवोदास धन्वन्तरि ने इन्द्र से आयुर्वेद का अध्ययन किया[1] था। कश्यप, वसिष्ठ और अत्रि ने भी इनमे आयुर्वेद का अध्ययन किया था।[2] पुनर्वसु के गुरु भारद्वाज ने भी यही पर आयुर्वेद की शिक्षा प्राप्त की थी। अश्विनी-कुमारो के पिता सूर्य भी यहां पर ही रहते थे और सूर्यराज के पिता ब्रह्मा का भी यही पर स्थान था। इन अश्विनी-कुमारो ने सूर्य, ब्रह्मा और दक्ष[3] प्रजापति से आयुर्वेद विज्ञान का अध्ययन करके अपने चाचा इन्द्रराज को पढाया था। इन आधारो पर यह निश्चित है कि 'त्रिविष्टप' (तिब्बत) मे ही सृष्टि के प्रारम्भ मे मानव उत्पन्न हुआ और आज तक वहाँ पर अविच्छिन्न परम्परा से उसके चिन्ह मिलते चले आ रहे है। वर्तमान तिब्बत यद्यपि बौद्धधर्म का अनुयायी है फिर भी वहाँ पर आर्यों के चिन्ह अब भी पाये जाते है। हवन के द्वारा चिकित्सा की प्रथा अब भी वहाँ पर पायी जाती है। इस हवन को तिब्बती भाषा मे **जिनसेक** कहते हे। इस प्रकार आर्यों का इतिहास और वैज्ञानिक आधार भी यही सिद्ध करते हैं कि आर्य इस सृष्टि के प्रारम्भ मे तिब्बत मे उत्पन्न हुए और बाद मे अन्यत्र फैले। आर्यावर्त्त भारत मे वे सर्वप्रथम रहने लगे। हिमालय पर बर्फ आदि के तूफान के कारण भारत मे ही उन्हें आना पडा और यही उनका आदि देश है।

---

1 (क) अश्विभ्यामिन्द्र इन्द्रादहम। सु० सूत्र० १।१८

(ख) बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्य वर्षसहस्र प्रतिपदोक्ताना शब्दाना पारायण प्रोवाच। महाभाष्य १।१।१

2 इन्द्र ऋषिभ्यश्चतुर्भ्य कश्यपवसिष्ठात्रिभृगुभ्यश्चतुर्भ्य। काश्यपसहिता पृष्ठ ४२

3 चरक चिकित्सा० १।४।६३

उपजाति-विभाग और जाति-आन्दोलन—इतिहास की विविध कल्पित मान्यतावो मे उपजातियो का भेद एव जाति प्रचार (Race Movements) भी हैं। वे सर्वथा ही कल्पित और कृत्रिम हैं। उपजातियो की कल्पना करने मे विशेष चातुरी वर्त्ती गई है और इसलिए कि इतिहास की मनमानी कल्पनावो को सिद्ध किया जा सके। वर्तमान मे निम्न प्रकार से इसका पल्लवन किया जाता है। हर्म्सवर्थलिखित विश्व-इतिहास (History of the world) पृष्ठ ३३२ पर लिखा है कि जावा द्वीप मे कलेग नामी मनुष्य बहुधा वन-मनुष्यो से मिलते हैं अत वे ही मनुष्य जाति के पूर्व पितामह है। यह कलेग जाति मनुष्यो के चार बडे प्रधान विभागो मे से निग्रो (Ethiopic) विभाग के अन्तर्गत है। इस निग्रो विभाग की विशेषता उसका काला रग और मोटा चेहरा है। इसका निवास-स्थान अफ्रीका, आस्ट्रेलिया और पूर्वी समुद्र के अनेक टापू है। पाश्चात्य विद्वानो का यह सिद्धान्त है कि इसी विभाग ने मनुष्य की समस्त शाखावो का जन्म दिया है, जिनमे से अनेक लुप्त हो गई और इस समय एक सहस्र के लगभग मौजूद है जो ससार के भिन्न-भिन्न प्रदेशो मे फैली है। ये एक सहस्र शाखाये चार महा-विभागो मे विभाजित हैं। ये चारो महा-विभाग—काकेशियन, मगोलियन अमेरिकन और इथियोपिक कहलाते है। समस्त पृथिवी पर उक्त चार ही रूप और चार ही रग के आदमी बसते है। इनका विवरण इस प्रकार है—

१ सफेद रग और लम्बी आकृति के मनुष्यो को काकेशस कहा जाता है।

२ पीले रग और चौडी आकृति के मनुष्य मगोलिक कहे जाते है।

३ काले रग और मोटी आकृति के मनुष्यो को इथियोपिक (निग्रो) कहा जाता है।

४ लाल रग और पतली आकृति के मनुष्यो को अमेरिकन (रेड इण्डियन) कहा जाता है।

वैदिक एज मे डा बी एस गुहा के हवाले से पृष्ठ १४२ पर इस विषय पर प्रकाश डालने वाला निम्न विवरण इस प्रकार मिलता है—

1 The Negrito

2 The Proto—Austroloid

3 The Mongoloid, consisting of -

I Palaeo-Mongoloid of (a) long-headed and (b) Broad-headed types

II Tibeto-mongoloids

4 The Mediterranean, comprising —

I Palaeo—Mediter anean,

II Mediterranean

III The so-called Oriental type

5 The western Brachyophals, consisting of

I The Alpinoid,

II The Dinaric, and

III The Armenoid

6 The Nordic

वैदिक एज का यह विभाग भारत और उसके आस-पास की सीमा के निवासियो को लक्ष्य मे रखकर है। परन्तु यह उस पाश्चात्य कल्पना से ही प्रसूत है जिसका पहले वर्णन किया जा चुका है।

श्री डाक्टर सपूर्णानन्द ने अपनी पुस्तक "आर्यों का आदि देश" म पृष्ठ १ से १८ तक इसका विस्तृत वणन किया है जो इस प्रकार है—पृष्ठ ७

"क्यूवियर और क्वात्रफाज ने ३, लिनियस और हक्सले ने ११, ब्लुमेन बाख ने ५, बफान ने ६ प्रिचर्ड हण्टर और पेशोल ने ७, अगासीज ने ८, देसमूलाँ और पिकरिंग ने ११, हैकेल और मुलर ने १२, सेण्ट विसेण्ट ने १५, ब्र ने १६, टोपिनार्ड ने १८, मार्टन ने २२ काफोर्ड ने ६०, बक न ६२, और ग्लिडन ने १५०, उपजातियाँ (Races) गिनायी है। आर्य, सेमिटिक, मगोल और हब्शी - पृथक् उपजातिया है – ऐसी धारणा व्यापक है।"

इस प्रकार की उपजाति-सम्बन्धी भेदभावना ने ससार के मानव को भी बाट रखा हे। परस्पर उच्च-नीच का भाव भी सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। रक्त और रग के भेद ने ससार के इतिहास मे अनेक भेदक भित्तियाँ खडी कर रखी है। इन भित्तियो पर आज राजनीति अपना प्रभाव जमा रही है। अपने को ऊँचा समझने वाले अपनो से नीच के साथ सम्बन्ध नही करना चाहते। मानव को शुद्ध मानव रखने के लिए यह आवश्यक है कि बनावटी भेदो को समाप्त कर दिया जावे। इस जाति-भेद को जो वैज्ञानिकता देने का मिथ्या प्रयत्न किया जा रहा है उसको समाप्त करना आवश्यक है। ससार मे रक्त, रग का भेद मानवता को पछाडने मे लगा है। इस भेद को सर्वदा के लिए समाप्त करना चाहिए।

समीक्षा—उपजातियो के भेद को देने के बाद इसकी सारासारता पर विचार किया जाता है। इस विषय मे जो युक्तियाँ दी जाती है उनकी भी परीक्षा की जाती है।

१ एक युक्ति यह दी जाती है कि जिन लोगो के शिर लम्बे होते हैं वे उत्कृष्ट और जिनके शिर चौडे होते है वे निकृष्ट जाति के हैं। यह तर्क इसलिए उठाया गया कि योरप के कुछ भागो के लोगो के शिर चौडाई की अपेक्षा लम्बे अधिक होते हैं। इसलिए यह सिद्धान्त बना लिया कि उन्नत उपजाति के शिर लम्बे होते है। परन्तु विचार करने पर यह तर्क ठीक नही जँचता है। कुछ उन्नत लोगो के शिर नि सदेह लम्बे होते हैं परन्तु इस आधार पर यह सिद्धान्त नही बनाया जा सकता है कि सभी लम्बे शिरो वाले उन्नत ही होते हैं। साथ ही यह भी देखा जाता है कि कई चौडे शिर वाले समुदायो का भी सभ्यता के इतिहास मे ऊँचा स्थान है। नगरो के रहने वालो का शिर प्राय लम्बा होता है—परन्तु इसके विपरीत भी देखा जाता है। दो-चार सौ वर्षों मे जलवायु के प्रभाव मे भी शिर की लम्बाई-चौडाई मे भारी अन्तर पड जाता है। यह प्रत्यक्ष दृश्य है कि गाल की उभरी हड्डी जहाँ असभ्य वा अर्धसभ्य लोगो मे पायी जाती है—वहाँ उन लोगो मे भी पाई जाती है जो कि आर्य माने जाते है। चीन का व्यक्ति यदि यूरोप मे रहे और यूरोप का चीन में तो कुछ वर्षों मे आँखो मे भी अन्तर पड जाता है। इसी प्रकार रग और आकृति पर भी जलवायु का प्रभाव पडता है। अत यह तर्क जाति भेद का साधक नही है।

२ दूसरा तर्क मस्तिष्क के आयतन और परिमाण का उठाया जाता है। इससे कम आयतन वाला अवनत और छोटी जाति का और बडे आयतन वाला बडी जाति का तथा कम परिमाण के मस्तिष्क वाला छोटी और बडे परिमाण के मस्तिष्क वाला बडी जाति का है।

परन्तु यह युक्ति भी सगत नही है।

यूरोपियन और हब्शी लोगो के मस्तिष्को के आयतन मे ६ से १०घन इ च का अन्तर होता है परन्तु इस आधार पर यह नही कहा जा सकता है कि कम आयतन वाला छोटी उपजाति का है। क्योकि यूरोपियनो मे ही पुरुष और स्त्री के मस्तिष्को के आयतन मे १२ से १३ वर्ग इ च का फरक होता है। यह तो कहना सभव नही कि यूरोप मे पुरुष एक उपजाति का और स्त्री दूसरी उपजाति की होती है। मस्तिष्क के तोल पर आधारित तर्क की भी ऐसी ही स्थिति है। लगूरो मे आराङ्ग ओटाङ्ग का मस्तिष्क सबसे भारी होता है इसका तोल ७०० से ८०० ग्राम होता है। आस्ट्रेलिया के आदिम निवासियो का मस्तिष्क इससे कुछ ही भारी ९००-१००० ग्राम होता है। इधर नार्डिक यूरोपियन वा उत्तरभारत के ब्राह्मणादि के मस्तिष्क का तोल लगभग १५०० ग्राम होता है। इससे यह अनुमान सरलता से लगाया जा सकता है कि

आस्ट्रेलिया के निवासी सबसे निकृष्ट और १५०० ग्राम वाले सबसे उत्कृष्ट हैं। परन्तु चीन का औसत मस्तिष्क तोल योरप के औसत मस्तिष्क तोल से अधिक है। ध्रुव प्रदेश के रहने वाले एस्किमो का मस्तिष्क किसी से भी कम नही है जबकि यह अर्ध-सभ्य माना जाता है। इसी प्रकार लम्बाई मे भी कोई उन्नति का चिन्ह नही। कई लम्बे भी असभ्य होते है और कई नाटे भी सभ्य होते है। इस प्रकार ये आधार का मापदण्ड ठीक नही—चाहे इन्हे कितना ही वैज्ञानिक कहने का प्रयत्न किया जावे।

३ मानव आदि मे असभ्य, बेडौल और असस्कृत एव असभ्य था अत पहले के लोग होने भी ऐसे चाहिएँ जो इस अवस्था से बाद मे इस उच्च अवस्था को प्राप्त हुए हो।

परन्तु यह उक्ति भी सर्वथा असगत है। विकासवाद पर इसका आधार है। इस वाद का खण्डन पूर्व किया जा चुका है। जब विकासवाद की ही स्थापना असिद्ध है तो फिर उसके आधार पर दूसरा वाद अथवा जाति-भेद किस प्रकार स्थापित किया जा सकता है। यह धारणा भी भ्रान्त है कि आरम्भ मे मनुष्य बेडौल और असभ्य था। न्यायाधीश श्री स्ट्रेंज ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक मे लिखा है कि "सृष्टि की आदि में अमैथुनी सृष्टि होती है और इस अमैथुनी सृष्टि में उत्तम और सुडौल शरीर बनते है।[1]" इसके अतिरिक्त यह युक्तियुक्त भी है कि अमैथुनी रचना एक प्रकार का ढाँचा है जिससे पुन मैथुनी सृष्टि चलती है। अत वह सर्वथा उत्तम और सुडौल होनी ही चाहिए। आज भी साँचा बनाते समय उत्तम ढग पर ही वह बनाया जाता है। यदि साँचा खराब होगा तो फिर ढलने वाली वस्तु तो खराब बनेगी ही। अत साँचा बनाने मे उत्तम से उत्तम परिष्कार बर्ता जाता है। जब साधारण आदमी भी ईंटों के साँचा और रुपयो आदि के साँचे को सर्वथा सुडौल उन्नत और परिष्कृत बनाने का प्रयत्न करता है तो जगन्नियन्ता सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् परमेश्वर भद्दा, कुरूप और काला साँचा क्यों बनावेगा। अत यह सर्वथा गलत है कि मानव हब्शी और कलेंग जाति से उत्पन्न होकर भिन्न-भिन्न शाखावो मे विभक्त हुआ।

ये कुछ तर्क थे जिनका यहाँ पर निराकरण किया गया। अब यह दिखलाया जाता है कि इस कल्पना के लिए कोई स्थिर भूमिका नही है। इस दिशा मे दो प्रकार की वैज्ञानिक खोजे हुई हैं—एक रग के आधार पर और दूसरी मानव-वश परम्परा शास्त्र के आधार पर। दोनो को यहाँ पर दिखलाया जाता है।

1. The Development of Creation on the Earth P 17

प्रथम वैज्ञानिक खोज के अनुसार निर्धारित सिद्धान्त यह है कि मनुष्य के पूर्व कहे गये चारो विभागो मे काकेशस विभाग सर्वश्रेष्ठ कहा जाता है। इस विभाग के लोग गौर शरीर हैं। इसी विभाग से सब रगो की उत्पत्ति हुई है। इस खोज के विद्वानो का यह विचार है कि 'हेमाइट' लोग काकेशस वश के हैं[1] और सफेद से भूरे और काले रग के हो गये हैं। इनके बाल सीधे और निग्रो जाति के घुघुरूदार होते है। हेमिटिक शाखा के लोग मिश्र में रहते हैं। विद्वानो की धारणा है कि अमेरिका के लाल रग वाले मूल निवासियो का मिलान मिश्र निवासियों अर्थात् हेमेटिको से ही होता[2] है। इस प्रकार लाल, पीत और कृष्ण एव सफेद रग के चारो समुदाय काकेशस विभाग से ही उत्पन्न है।

दूसरी खोज जो मानव-वश-परम्परा की है उसका निष्कर्ष यह है कि संसार के जितने मनुष्य है सब हेमेटिक और सेमिटिक शाखावो मे ही अन्तर्भूत हो जाते हैं। यह भी सब पर ज्ञात है कि मिश्र निवासी हेमिटिक हैं। इनके यहाँ मुर्दों को मसाला लगाकर रखने की प्रथा थी। मिश्र की मीनारें इन्ही मुर्दों को रखवाने के लिए बनायी जाती थी। अब ऐसा पता लगा है कि ये सभी बातें अमेरिका के लाल रग वाले मूल निवासियो मे भी पाई जाती हैं। पुरातत्त्व के अनुसधान-कर्त्तावों को वहाँ भी 'ममी' मिली है और मीनारें भी मिली है। इसी आधार पर यह निश्चित किया गया है कि अमेरिका निवासियो का सम्बन्ध मिश्र देशीय हेमिटिको से[3] ही है।

इस प्रकार हेमिटिक का काकेशस के अन्दर ही अन्तर्भाव होने के बाद इसकी दूसरी शाखा का विचार आता है जो सेमिटिक है। इस सेमिटिक शाखा मे अरब, बिबलन, सारिया और जुडिया के यहूदी आदि सम्मिलित है। इसी की एक शाखा हिट्टाइट (Hittite) है जो पूर्वकाल मे मेसोपोटेमिया में रहा करती थी। यहाँ पर पुरातत्त्व के अन्वेषण-कर्त्तावो को इनके ३४०० वर्ष पूर्व के ईटो पर लिखे सुलह-

1 Hemites—A family of Caucasic man belonging to the Melanochroid or dark type, ranging in colour from white to brown and even black, hair soft, straight or wavy. Harmsworth, History of the World P 330

2 सूचना—सभी विस्तार इसी पुस्तक में देखें।

3 देखें Harmsworth History of the world Page 2014 and Himyarites तथा Egyptians etc

नामे मिले है। लोगो का यह भी कहना है कि इन्ही लोगो का एक दल भारत मे रहता है जो द्राविड कहलाता है।[1]

इन विद्वानो के अनुसार भारत के द्राविडो की भाषा मगोलिक और निग्रो विभागो को सयुक्त करती है। भाषा के अतिरिक्त रूप, रग और शारीरिक गठन भी ऐसा ही है। कई विद्वानो ने यह पता लगाया है कि भारतीय द्राविडो की भाषा आस्ट्रेलिया की भाषा की भाँति है। यह भी उनका कथन है कि यह भाषा मगोलिक विभाग से भी मिलती है। आस्ट्रेलिया निवासी शुद्ध निग्रो जाति के हैं और दूसरी तरफ द्राविड जाति से भी सम्बन्ध रखते हैं। अत निष्कर्ष यह निकला कि द्राविड जाति इस प्रकार नीग्रो और मागोलिक विभागो से अपने को जोडती हुई अपना मूलोद्गम सेमिटिक शाखा मे सस्थापित करती है। इसी प्रकार हेमिटिक शाखा अमेरिका के मूल निवासियों को जोडती है। इस भाँति काकेसिक विभाग की हेमिटिक और सेमिटिक शाखावो मे ही मगोलियन और अमेरिकन तथा नीग्रो विभागो का सम्बन्ध जुडता है। अत पूर्व कथित दोनो खोजो को विचार मे रखकर यह परिणाम सहजता मे निकल आया कि समस्त विश्व के काले, पीले, लाल और सफेद रगवाले चारो विभाग काकेसिक विभाग की हेमिटिक और सेमिटिक शाखावो से ही उत्पन्न हुये है। तथा ये नूह के पुत्र हेम और शेम की ही सन्तति है। मनु की मछली अर्थात् नूह के जल-प्लावन की कथा[2] मिश्र, बेबलिन, सीरिया, चालिडया, जुडिया, फारस, अरब, ग्रीस, भारत और [illegible] आदि ससार के समस्त देशो और समस्त जातियो म पाई जाती है। इसी कथा को नूह की कथा का रूप दे दिया गया है। नूह शब्द मालूम पडता है कि 'नौका', वा 'नौ', का बिगडा रूप है। मनु मे दो मानव वश चलते है—'सूर्यवश' और चन्द्रवश जिसे ही सोमवश भी कहा जा सकता है। मनु की नौका मे नूह (Noah) की कल्पना कर उसके दो पुत्र हेम और शेम स्वीकार कर लिये गए। हेम शब्द भी सस्कृत भाषा का है। हेम के अर्थ स्वर्ण के है और जल अर्थ म भी यह प्रयुक्त होता है। परन्तु 'हेममाली'[3] पद सूर्य के लिए प्रयुक्त होता है। अत हेम से सूर्य और शेम से सोम अर्थात् चन्द्र ही नूह की कथा मे लिया गया ज्ञात होता है। इसी आधार पर हेमाइट और सेमाइट पद भी कल्पित हुये है। यह भी सभव है और बहुधा ठीक है कि 'नौस्थ' जो मनु

1 इसका विस्तार वैदिक सम्पत्ति (प० रघुनन्दन शर्माकृत) मे देखें।

2 See Encyclopaedea of Religion and Encyclopaedea of Knowledge on Deluge and Manu and also compare the Sanskrit-dictionary of Monier Williams on word Manu

3 आप्टे की डिक्शनरी तथा मोनियर विलियम्स की सस्कृत डिक्शनरी

की गाथा में मनु के लिए प्रयुक्त किया जावेगा उसका ही यह नूह (Noah) शब्द गढ़ लिया गया हो।

नूह के बडे पुत्र हेम की सन्तति मिश्र मे रहती है। वह अपना सम्बन्ध राजा मनु से बतलाती है। पहले 'मैन' आदि मनुष्य वाचक शब्दो से भी यह बात प्रकट की जा चुकी है। वह मिश्र जाति अपने को सूर्यवशी भी कहती[1] है। मनु वैवस्वत के मूल विवस्वान् को अपना इष्ट समझती है। इन्ही मिश्र वालो की सन्तानें मूल अमेरिका निवासी भी है—यह कहा जा चुका है। इस प्रकार यह ज्ञात हुआ कि समस्त मानव-जाति मनु से ही विस्तार को प्राप्त हुई है। मनु ही उसका आदि पूर्वज है। इस सिद्धान्त के निकल आने पर भिन्न जातियो के मूल का वर्गीकरण अपने आप ही गिर जाता है। इस अवस्था मे यह भेद कल्पित है—इसमे भी कोई सन्देह नही रह जाता है।

ससार म जातियो के विषय का एक सार्वभौम वैज्ञानिक और दार्शनिक नियम कार्य कर रहा है। वह है समान-प्रसव का नियम न्याय शास्त्र के कर्त्ता गौतम मुनि ने जाति का लक्षण करते हुए लिखा कि जिसका समान प्रसव हो वह जाति है। बन्दर, कुत्ता, गधा, हाथी और मनुष्य मे सर्वत्र यह नियम कार्य कर रहा है। इसका तोडा जाना असभव है। यदि कही पर एक जाति के नर वा मादे का दूसरी जाति के नर वा मादे से परस्पर सम्बन्ध कराके कोई सन्तति उत्पन्न भी की गई तो वह आगे अपने सन्तति को न चला सकेगी और उसका सन्तति‌जनन अवरुद्ध हो जावेगा। यह जाति का नियम आगे के विस्तार को रोक देगा। नकली कुत्ते और खच्चर को पैदा करने मे यह विकल्प देखा गया है। परन्तु ये दोनो ही आगे अपनी सन्तान नही चला सकते है—यह भी सिद्धान्त है। तथा प्रत्यक्षदृष्ट है। यदि मानव जाति के विभाग भी वस्तुत जाति विभाग होते तो एक दूसरे का साकर्य होने पर या तो सन्तान ही नही उत्पन्न कर सकते थे और यदि उत्पन्न कर सकते तो फिर आगे उनकी सन्तति नही चल सकती थी। परन्तु इन उप-जातियो मे यह बात पाई नही जाती है। अत यह कृत्रिम और बनावटी तथा कल्पना मात्र है। ये वस्तुत जाति नही। जाति तो केवल एक मनुष्य जाति है। श्री डाक्टर[2] सम्पूर्णानन्द ने भी इस

1. The reader will not readily forget the city of the Sun 'Helis-polis' or 'Menes' the first Egyptian king of the race of the Sun, the Manu Voivasowant or patriarch of the solar race nor his statue, that of the great Menoo' whose voice was said to salute the rising Sun India in Greece Page 174.
2. देखें—आर्यों का आदि देश।

जाति भेद को कल्पित माना है।

'हिन्दू' पत्र मद्रास के तीन फरवरी १९६४ के संस्करण मे एक विद्वान् के व्याख्यान का विवरण छपा है। ये विद्वान् डा० मिल्टन सिगर है। ये अमेरिका मे शिकागो विश्वविद्यालय मे मानववंशशास्त्र के प्राध्यापक है। विवरण मे बतलाया गया है कि उपजातिवाद (Race Movement Theory) को ये असामयिक और अवैज्ञानिक मानते है। इससे यह भली प्रकार ज्ञात होता है कि अब विद्वान् इस तथ्य को समझने लगे हैं और उपजातिवाद की कल्पना को अनुचित मानने लगे[1] हैं।

आचार्य पाणिनि ने अष्टाध्यायी मे (५।२।३१) नासिका से नत अर्थात् नत नासिका के व्यक्ति को अवटीट, अवनाट और अवभ्रट लिखा है। यहाँ पर नते नासिकाया सज्ञायाम् टीटञ् नाटज् भ्रटच, सूत्र से नतनासिक को सज्ञा में टीटञ् नाटञ् और भ्रटच् प्रत्यय किये है। इससे स्यात् यह किसी को सदेह हो कि ये उपजातियो मे घटते हैं अत पाणिनि ने भी इसी आधार पर ये शब्द बनाये हो—तो ठीक नही। यहाँ पर तो सभी नतनासिको के लिये ये शब्द हैं। किसी विशेष भेद के द्योतन के लिये नही। जो अवटीट है, वही अवनाट और अवभ्रट भी है। ये पृथक्-पृथक् नही है। पाणिनि ने ५।२।३२ सूत्र से इसी अर्थ मे निविड और निविरीस शब्द तथा ५।२।३३ सूत्र से चिकिन और चिपिट पद भी बनाये है। इन से कोई उपजाति नही सिद्ध होती है। पाणिनि ने इन आकृति की नाक वाले मनुष्य के लिए इस शब्द का प्रयोग किया है। परन्तु यह किसी भी अवस्था मे जाति-भेद का द्योतक नही है। आर्य, अनार्य, सभी मे इस नासिका वाले व्यक्ति हो सकते है। किसी जाति-विशेष की ही ऐसी नाक होती है—यह यहाँ पर पाणिनि को अभीष्ट नही है।

---

1 An American anthropologist Dr Milton Singer, and a well-known historian of India, Prof K A Nila Kantha Sastri, were unanimous in their view that the Aryan-Dravidian race controversy had no scientific basis

Dr Singer who is a profesor of anthropology, Chicago University was speaking today on "Anthropology and the study of Indian civilisation" under auspices of the Social Science Association at the Govt Museum He said that the race theory had become outmoded and unscientific in the light of modern theories Hindu, February 2 1964

द्राविड़ और आदिवासी आर्यों से पृथक् नहीं—एक बडी ही निराधार धारणा इतिहास के क्षेत्र मे यह बनाई गई कि आर्यों से पूर्व इस देश मे द्राविड और आदिवासी लोग रहते थे। आर्यों ने आकर उन पर आक्रमण किया और उन्हे पराजित कर अपनी सभ्यता और धर्म का विस्तार किया। यह बात है तो निराधार परन्तु इसका राजनैतिक प्रभाव बहुत ही कटु हो चला है। देश-विदेश के कई विद्वानो ने इन आधारो को लेकर अपने मनमाने प्रासाद खडे किये। श्री डा० कुन्हन राजा ने तो यहाँ तक लिखा कि वेदो मे दार्शनिक मूलतत्व[1] है ही नही और दाक्षिणात्य दार्शनिक तत्वो से भारत के वैदिक दर्शन का विकास हुआ। कुछ लोगो ने लिखा कि मोहन-जोदारो[2] की खोदाई से प्राप्त सामान भी यही सिद्ध करते है। वहाँ की भाषा भी प्रोटो-द्राविडियन ही थी, यहाँ तक कहने का भी साहस कई व्यक्तियो ने किया है।

परन्तु ये कल्पना के भवन हैं। इनमे कोई तत्व नही है। जैसा कि पहले सिद्ध किया जा चुका कि आर्य ही सृष्टि के प्रारम्भ से हैं। उन से पूर्व न कोई द्राविड जाति थी और न कोई दूसरे मूल आदिवासी थे। मोहन-जो-दारो मे जो वस्तुवें मिली है उनसे यह अभी तक निश्चित नही किया जा सका है कि आर्यों से पूर्व इस देश मे कोई था। अभी तक सारी स्थिति सन्देह और मन प्रसूत कल्पनावो पर चल रही है। इसके विपरीत ऐसी भी वस्तु इस खोदाई मे मिली है कि जो यह सिद्ध करती है कि इमसे पूर्व आर्य और वेद मौजूद थे। मोहन-जो-दारो की भाषा तो अभी तक पढी ही नही जा सकी है और पढने वालो मे बडा मतभेद है। फिर उसको द्राविड भाषा कहना अथवा उसके आधार पर कोई ऐतिहासिक परिणाम निकालना निलराम् त्रुटिपूर्ण है और बे सिर पैर[3] का है। आदिवासी और पालवशीय महात्मा बुद्ध की कल्पना का खडा करना भी इसी प्रकार की बात है जो आदिवासी आन्दोलन को चलाने वाले लोग किया करते है। वे ऋग्वेद ३।५३।१४ मन्त्र का हवाला देते हैं कि इसमे 'कीकट'[4] पद आया है जो वर्तमान बिहार के लिये प्रयुक्त है और 'प्रमगन्द' का वर्णन है जो पालवशीय क्षत्रिय महात्मा बुद्ध ही थे। भागवत की भी पुष्टि इस विषय मे देते हैं। परन्तु यह गलत है। कीकट का अर्थ किकृत अर्थात् कर्तव्याचार रहित मनुष्य और स्थान है। ये व्यक्तिवाचक नही। प्रमगन्द का अर्थ सूदखोर है।

---

1 History of Philosophy Eastern & Western (इसका निराकरण मेरी पुस्तक दर्शनतत्व-विवेक मे किया गया है।
2 देखें 'वैदिक एज' आदि पुस्तकें।
3 देखें आर्यों का आदिदेश।
4 देखें श्री गोपालानन्द-कृत भारत के मूल-निवासी।

उनके धन के अपहरण की बात कही गई है। इससे कोई ऐतिहासिक तथ्य नहीं सिद्ध होता है।[1]

एक तर्क यह उठाया जाता है कि वेदों में आर्यों के द्वारा आर्यवर्ण की रक्षा की प्रार्थना इन्द्र से की गई[2] है और दस्युवों अनार्यों को मारने की प्रार्थना की गई है। इससे ज्ञात होता है कि यहाँ पर जो आर्यों से पूर्व द्राविड एवं आदिवासी थे उन्हें ही इन आर्यों ने अनार्य और दस्यु शब्द से व्यवहृत किया है।

यहाँ पर यह भली प्रकार समझ लेना चाहिए कि वेद में किसी ऐतिहासिक व्यक्ति वा जाति का नाम नहीं है। इन्द्र, आर्य और दस्यु कोई व्यक्ति नहीं और न कोई इतिहास की उपजातियाँ ही है। वेद के सभी शब्द यौगिक है अत ये गुणवाचक है। इन्द्र के राजा, सूर्य और परमेश्वर आदि अनेक अर्थ है। इसी प्रकार आर्य और दस्यु शब्द भी गुणवाचक है जाति के सूचक नहीं। आर्य का उत्तम गुण कर्मों वाला और दस्यु का अर्थ है डाकू, चोर आदि। श्रेष्ठो की रक्षा, आततायियो को दण्ड देना राजा का कर्त्तव्य ही है। फिर वेद के ऐसे वर्णन से अन्यथा कल्पना करने को स्थान ही कहाँ रह जाता है। मेघ जिसे वृत्र कहा गया है उसको भी वेद मे दस्यु कहा जाता है। निरुक्तकार यास्क ने इस पर प्रकाश डाला है। दस्यु डाकू और बुरे कर्मों को करने वाले है। जो आर्य इस प्रकार के कर्म करने लगेगा उसे भी दस्यु कहा जावेगा और जो दस्यु आर्यो का कर्म करने लगेगा वह आर्य कहा जावेगा।

दस्यु क्या है? इसकी परिभाषा भी वेद ही कर देता है। ऋग्वेद ८।७०।११ और १०।२२।८ मे लिखा है कि कर्महीन, यज्ञहीन, अविचारी, अनीश्वरवादी, अमानुष मनुष्य दस्यु[3] है। रही बात दस्युवो के मारने की प्रार्थना की। वह भी कोई ऐसा निर्णय करने की प्रेरणा नहीं देती कि ये दोनो भिन्न-भिन्न जातियाँ हैं, वेद मे केवल दस्युवों का ही दण्ड देने का नहीं लिखा है—वहाँ पर आर्यों को भी दण्ड देने का लिखा है। ऋग्वेद ६।३३।३ मन्त्र[4] कहता है कि "हे पराक्रमी इन्द्र-नेता! तू उन दोनों

1 इसका निराकरण मेरी पुस्तक वैदिक-इतिहास-विमर्श मे देखें। मेरी पुस्तक दर्शनतत्व-विवेक मे भी इस पर विचार किया गया है।

2 हत्वी दस्यून् प्रार्य वर्णमावत्। ऋ ३।३४।९

3 अन्यव्रतममानुषमयज्वानमदेवयुम्। ऋ० ८।७०।११
अकर्मा दस्युरभि नो अमन्तुरन्यव्रतो अमानुष। ऋ० १०।२२।८

4 त्वा तान् इन्द्र! उभयान् अमित्रान् दासा वृत्राणि आर्या च शूर। वधी.
वन इव सुधितेभि अत्कै आपृत्सुदर्षि नृणां नृतम॥ ऋग्वेद ६।३३।३

पापात्मा अमित्रों, दस्युओं और आर्यों को मार जिस प्रकार कुल्हाडे से वन काटे जाते हैं। इसका तात्पर्य है कि यहां युद्ध मे क्या करना चाहिए इसकी शिक्षा दी गई है। अत इस वर्णन से यह सिद्ध है कि वेद मे जो आर्य और दस्यु का वर्णन है उससे द्राविड और आदिवासियो की आर्यों से पृथकता नही सिद्ध होती और न यही सिद्ध होता है कि आर्यों से पूर्व ये यहाँ पर रहते थे।

महाभारत-कालिक यास्क के भी कुछ उदाहरण मिलते है जिनसे यह सिद्ध होता है कि द्राविड आर्यों से पृथक् नही आर्यों मे ही थे। ऋग्वेद १।१२४।७ मत्र मे आये हुए 'गर्तारुग्' पद की व्याख्या करते हुए यास्क ने 'दाक्षिणाजी' शब्द का प्रयोग प्रसिद्ध प्रथा के आधार पर अर्थ समझाने के लिए किया है। पुन ६।२।१० पर ऋग्वेदीय १।१०६।२ मत्रस्थ 'विजामाता' पद के अर्थ को समझाने के लिए दक्षिण की प्रथा का दिग्दर्शन कराते हुए 'दाक्षिणाजा' शब्द का प्रयोग किया है। इन दोनो शब्दो की व्याकृति करते हुये स्कन्द स्वामी क्रमश दोनो स्थलो पर लिखते है। "दक्षिणापथ[1] मे किसी प्रदेश मे अपुत्रा, अपतिका स्त्री पति के धन को प्राप्त करने के लिए न्यायालय को जाती है। दक्षिण दिशा वा देश को अजिता=गता अथवा तत्र जाता दक्षिणाजी है। उसके अपत्य स्त्री को दाक्षिणाजी कहा जाता है। तथा दाक्षिणाज[2] —दक्षिणदिशा वा देश मे पैदा हुए दक्षिणाज है और वे ही पुन दाक्षिणाज है।" यहाँ पर यास्क ने मत्रस्थ पद के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए वहाँ के प्रचलनो का उदाहरण दिया है। इससे ज्ञात होता है कि यास्क के समय तक कोई भेद-भाव आर्य और द्राविड का था नही। यदि द्राविड अनार्य होते तो यास्क वेद के शब्द के अर्थ को बताने के लिए उनकी प्रथा का उदाहरण क्यो देता। जबकि विदेशियो और एतद्देशीय विद्वानो का कहना है कि वेद मे इनको मारकर इनके धन आदि के हरण की प्रार्थना आर्य लोगो ने की है। आर्येतर होने से यह वैदिक प्रथा भी फिर इन दाक्षिणात्यो मे क्यो थी। कहना पडेगा कि यह आर्य और द्राविड का भेद सर्वथा कल्पित है। जो आर्य दक्षिण मे बसे वे दाक्षिणाज कहलाये और वे ही द्राविड हैं। आर्यों से इतर द्राविड नाम की कोई जाति नही।

---

1 दाक्षिणाजी दक्षिणां दिश देश वा अजिता गता जाता वा तत्र दक्षिणाजी, तस्या अपत्यं स्त्री दाक्षिणाजी। नि० स्कन्दभाष्य।

2. दाक्षिणाजा दक्षिणस्यां दिशि देशे वा अजायन्त इत्याङ् पूर्वस्य जनेर्ड प्रत्यय, दक्षिणजा एव दाक्षिणाजा। स्कन्द भा०

लौकिक भाषा मे विपरीतार्थ मे प्रयुक्त व्रात्य पद को वेद के व्रात्य से समता लेकर कई लोगो ने यह विचार व्यक्त किया है कि व्रात्य लोग घुमक्कड जाति के थे। ये चारो तरफ घूमा करते थे। पूर्वी भारत में रहते थे और इनकी मस्कृति आर्यों से भिन्न थी। परन्तु यह वैदिक-साहित्य को न जानने से भ्रम पैदा हुआ है। यहाँ पर थोडा-सा विचार इस विषय मे किया जाता है। यह ज्ञात रहे कि वेद मे किमी प्रकार का इतिहास नहीं है। अत उससे इतिहास निकालना सर्वथा ही विपरीत और अनर्गल बात है। वेद मे व्रात्य पद कई स्थलो पर आया है। यजुर्वेद मे व्रातपति, व्रात व्रातसाह, व्रात शब्द आये है। इनका अर्थ क्रमश मनुष्यपालक, मनुष्य, मनुष्यो का सहन करने वाले वा वीरो का सामना करने वाले, सदाचारी, समूह और असस्कृत अर्थ है। अथर्ववेद मे कई स्थलो पर यह पद विभिन्न विभक्तियो मे आया है। परन्तु वहाँ पर परमात्मा, विद्वान् और सदाचारी, व्रती आदि अर्थ है। व्रात्यब्रुवपद भी अथर्व मे आया है। परन्तु यहाँ पर भी व्रात्य का अर्थ उत्तम ही है। ऋग्वेद मे भी व्रात, व्रातसहा, पद आये हैं। 'व्रातास' पद भी बहुवचन मे आया है। यहाँ भी पूर्ववत् अर्थ है। अथर्व १५।१८।१— ५ मन्त्रो मे तो व्रात्य की दायी आँख को आदित्य, बायी आँख को चन्द्रमा दाहिने कान को अग्नि और बाये कान को पवमान, आदि कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि यहाँ पर व्रात्य का अर्थ परमात्मा है। निघण्टु २।३ मे 'व्रात्य' पद मनुष्य नाम मे पढा गया है जिससे इसका सामान्य अर्थ मनुष्य है। कोई भी मनुष्य व्रात्य कहा जा सकता है। मनुष्य का अर्थ है समझकर कर्म करने वाला और 'व्रात्य' का अर्थ है व्रतकर्म मे रहने वाला। अत दोनो का अर्थ एक ही है। निरुक्त ५।१।४ मे यास्क ने 'व्रा" पद का अर्थ 'व्रात्या' किया है और कहा है कि व्रात्या का अर्थ 'प्रैषा = भृत्यवर्ग है। ऋग्वेद ८।२।६ मे यही अर्थ 'व्रा' का यास्क ने लिया है। निघण्टु मे 'व्रा' पद-नाम मे पठित है। इसी प्रकार प्रश्नोपनिषद् २।११ मे प्राण को व्रात्य कहा गया है क्योंकि वह अन्न का पचाने वाला और नियम मे रहने वाला है। व्रात पद भी मनुष्यार्थ मे निघण्टु मे पढा गया है। पचविंश, ताण्ड्य, ब्राह्मणो के अनुसार व्रात्य सदाचारी विद्वान् है। ऐतरेय और शतपथ मे व्रात्य का अर्थ सस्कारहीन लिया गया है। इस प्रकार दोनो प्रकार का अर्थ ब्राह्मणग्रथो मे मिलता है। यजु ३०।८ मे व्रात्य का अर्थ असस्कृत है। उसी अर्थ को इन दोनो ब्राह्मण-ग्रन्थो ने दिखला दिया।

महाभाष्यकार पतजलि ने ५।२।२१ पर व्रात्य, व्रातीन और व्रातम् आदि स्वरूप बतलाते हुए लिखा है—नाना[1] जातीय अनियत वृत्ति, उत्सेध-जीवी सघ व्रात

1 नाना जातीया अनियतवृत्तय उत्सेधजीविन सघा व्राता तेषां कर्म व्रातम् व्रातेन कर्मणा जीवति व्रातीन। ५।२।२१

है। उनका कर्म व्रात है और व्रात-कर्म से जो जीवित है वह व्रातीन है। भाष्यकार यहाँ पर 'व्रात' के समूह अर्थ को लेकर व्याख्यान कर रहा है। 'व्रात' समूह अर्थ मे भी तो प्रयुक्त होता है। इस प्रकार व्रात्य के अनेक अर्थ हैं। परन्तु इन अनेक अर्थों के होते हुए भी यह नही सिद्ध होता है कि ये आर्यों से पृथक् जाति है और उनसे पूर्व कहीं पर उपस्थित थे। यदि ये इसी अर्थ मे लिए जाते है तब भी तो यही भाव निकलता है कि आर्यों मे जो सस्कारहीन हुये वे व्रात्य कहलाये। फिर भी तो वे आर्यों से ही निकले। लौकिक व्रात्य शब्द को लेकर वेद को भी घसीटना ठीक नही है। सस्कार हीन व्रात्य है तो भी वह आर्य मे ही आता है। यह तो गुणवाचक पद है न कि जाति-वाचक। नेसफीड ने लिखा है कि "भारतीयो मे आर्य विजेता और मूल निवासी जैसे कोई विभाग नही है[1]। इस प्रकार द्राविड और आदिवासी आर्यों से पृथक् कोई जाति नहीं। ऐतरेय ब्राह्मण ७।१९ मे लिखा है कि दस्युवो, अध्र, पुण्ड्र, शबर, पुलिन्द, मूर्त्तव, और उदन्त्य आदि विश्वामित्र की सन्तान है। इसी प्रकार मनुस्मृति मे (१०।४३४४) कहा गया है कि धर्मोपदेश के न मिलने से ये क्षत्रिय जातियाँ धर्म-भ्रष्ट हो गई और पृथक् हो गई। ये पौण्ड्र, चौण्ड्र, द्राविड, कम्बोज, यवन, शक, पारद, पह्लव, चीन, दरद और खश जातियाँ इसी प्रकार से हुई है।[2] महाभारत शान्ति-पर्व अध्याय ६५ के १३-१४ श्लोको मे भी इसी प्रकार का मिलता-जुलता वर्णन मिलता है। इस प्रकार यह सुतराम् सिद्ध है कि सभी जातियाँ एक मूल आर्य जाति मे निकली हैं। आर्यों से पूर्व किसी जाति का कोई अस्तित्व धरा पर नही था। यह उरजाति कल्पना सर्वथा ही भ्रान्तधारणा है। आदि-वासी और द्राविड आदि आर्यों मे पृथक् नही। ये सभी आर्यों मे ही हैं।

1. Brief View of the caste system of the North Western Province. Page 27.
2 देखें विस्तार से मेरी पुस्तक 'वैदिक ज्योति' का वर्ण-विभाग प्रकरण

अध्याय ७

अवेस्ता—वेद और ईरान-भारत सम्बन्ध

इतिहास-सम्बन्धी विविध मान्यतावो पर पूर्व प्रकरणो मे विचार किया गया है। यहाँ पर विषय के अधिक स्पष्टीकरण के लिए यह अपेक्षित है कि जन्दभाषा के आधार पर वेद की समकालिकता वा पाश्चात्कालिकता तथा ईरान और भारतीय आर्यों के सम्बन्ध को आधार बनाकर कई ऐतिहासिक विद्वान् वेद के काल और आर्येतिहास का समय निर्धारण करने तथा इतिहास की समस्यावो के सुलझाने को जो प्रयत्न करते है उस पर भी ऊहापोह विचार किया जावे। एतदर्थ यह प्रकरण प्रारम्भ किया गया है। इस विषय मे पाश्चात्य और एतद्देशीय विद्वान् 'गाथा' और उसकी भाषा तथा वैदिक भाषा की समता पर भी अधिक बल देते है। इन सब बातो का निराकरण यहाँ पर किया जावेगा। 'आर्य-समस्या' (The Aryan Problem) शीर्षक से पृष्ठ २०३ पर वैदिक एज मे लिखा गया है—"भाषा-विज्ञान के विशुद्ध दृष्टिकोण से वर्तमान रूप मे प्रस्तुत ऋग्वेद के समय को एक सहस्र वर्ष ईसा से अधिक पूर्व का नही कहा जा सकता है। ऋग्वेद की भाषा उसी प्रकार अवेस्ता की गाथा की भाषा मे अनति भिन्न है जिस प्रकार पुरानी अंग्रेजी पुरानी उच्च जर्मन से। अत इनका लगभग एक ही समय निर्धारित किया जा सकता है। अत यह अवेस्ता की गाथावो का लगभग समय होगा जिसका कि वर्तमान ऋग्वेद न्यूनत अथवा अधिकत समकालिक होगा। इसलिए भाषा-विज्ञान सम्बन्धी सामान्य विचारो से हम अपने पर ज्ञात ऋग्वेद की भाषा का समय ईसा से एक सहस्र वर्ष पूर्व कह सकते है।[1]

---

1 From a purely linguistic point of view the Rigveda in its present form cannot be dated much earlier than 1000 B C The language of the Rigveda is certainly no more different from that of the Avestan Gathas than is old English from old High German, and therefore they must be assigned to approximately the same age, This then would be the approximate date of the Gathas of Avesta— with which the Rigveda in its present form must have been more or less contemporaneous. Thus from general linguistic considerations we get for the Rigveda language as known to us, an approximate of 1000 B C P 203-204

इस बात को यहीं पर समाप्त नहीं समझना चाहिए। एक झूठी कल्पना अपने खड़े होने के लिए दूसरी झूठी कल्पना का स्वतः आश्रय चाहती है। कल्पना करने वाला तत्काल दूसरी झूठी कल्पना का प्रसव करता है। ससार मे यह देखा गया है कि गर्व और चर्बी (Arrogance & Fat) जिसमे अपना स्थान बनाते हैं उसे परिज्ञात नही होता है कि ये वृद्धि पर हैं। परन्तु ये बढ़ते रहते हैं। यही अवस्था झूठी कल्पनाओ की भी है। कल्पना करने वाले को यह नही ज्ञात होता है कि वह क्या कर रहा है—परन्तु ये बराबर बढती ही जाती है। वैदिक एज मे सभाव्यता और सभव शब्दो की आड़ मे ऐसी असत्य कल्पनाओ का बाहुल्य है। वैदिक एज का पृष्ठ २१८ इस विषय मे द्रष्टव्य है। वहाँ पर जो पक्तियाँ लिखी गई हैं उनका विस्तारभय से उल्लेख नही किया जा रहा है। परन्तु भाव को अवश्य प्रकट किया जा रहा है। जिस प्रकार एक इण्डोयारुपियन भाषा की कल्पना की गई है उसी प्रकार एक इण्डोयूरोपियन आर्य जाति की भी कल्पना खड़ी की गई है। जिस प्रकार इण्डोईरानियन भाषा जो कि इण्डोयूरोपियन भाषा का एक परिवार कल्पित की गई है। उसी प्रकार एक इण्डोईरानियन आर्य-जाति भी मान ली गई है। जिस प्रकार इण्डोयोरुपीय आर्यों के एक इण्डोयूरोपीय आवास की कल्पना की गई है उसी प्रकार इण्डोईरानी आवास की कल्पना की गई है। यह स्थान 'ईरानवेज' को समझा गया है तथा इण्डोयोरुपीय आर्यों का स्थान उत्तर पश्चिमी 'किरगीज' माना गया है। यह 'उरल्स' के दक्षिण मे है। इसी प्रकार एक और कल्पना वैदिक एज ने की है कि इण्डोईरानियन आर्यों से पूर्व ईरान मे उसी प्रकार एक जाति और सभ्यता विराजमान थी जिस प्रकार भारत मे आर्यों से पूर्व द्रविड आदि थे। उसी प्रकार ईरान मे भी जातियाँ थी और उनके परस्पर सम्बन्ध थे।[1]

यहाँ पर एक प्रश्न यह उठता है कि यदि भारतीय आर्य ईरान से आये और ऋग्वेद की रचना भारत मे की तो फिर इन्हे 'ईरानवेज' की घटना सर्वथा ही क्यों

1. The undivided Indo-Iranian must have passed a long time in their Central Asian home, for here grew up a specific Indo-Iranian culture and religion that may be reconstructed, at least partially, by comparing the Veda with the Avesta It is very probable, therefore, that the Pre-Aryan cultures of North-West India and Iran were of the same spirit and origin. Page. 218

भूल गई ? ऋग्वेद मे अपने उस प्यारे देश प्रथम स्थान को क्यों नही स्मरण किया। जबकि ईरानी आर्यों ने उसे अपने स्मृतिपथ से पृथक् नही होने दिया। इसका उत्तर देने का वैदिक एज मे व्यर्थ प्रयास किया गया है। वैदिक एज का कथन है कि भारतीय आर्यों ने जान बूझकर उसका स्मरण नही किया। कारण यह है कि वे सर्वथा विरुद्ध हो गये थे। यद्यपि जान-बूझकर इस घटना को भारतीय आर्यों ने दबा दिया और स्मरण नही किया फिर भी वे 'रसा', सरस्वती और 'बाह्लीक' पदो को ईरान से लाये और दो भारतीय नदियो और एक प्रान्त पर प्रयुक्त किया। यद्यपि अज्ञात अपने ईरान सम्बन्धी सस्मरण को दबाना जान बूझकर था नही तो ऋग्वेद के बाद मे रचे गये भागों मे, जिनमे सभवत अथवा सभावनात ईरानी नाम पाये जाते हैं, वे पहले ही ईरान मे रचे गये[1] होगे।

पुराने ईरानी आर्य और पुराने भारतीय आर्य लोगो मे असमजस क्यो बढा जो बाद मे वैमनस्य बन गया ? इसका विचार करते हुए वैदिक एज पृष्ठ २१६ पर लिखा गया है कि आदिम भारत-योरोपीय धर्म ने केवल प्राकृतिक देवो—अन्तरिक्ष, सूर्य और वायु आदि को स्वीकार किया था तथा अग्नि के सिद्धान्त को माना था। अविभाजित भारत-ईरानियन लोग अग्नि सिद्धान्त के अतिरिक्त सोम-सिद्धान्त तथा 'ऋत' के सिद्धान्त को भी इन प्राकृतिक देवतावो के अतिरिक्त स्वीकार करते थे। इसलिए यह भारतीय-ईरानी समाज आपस मे साम्यमय नही रहा। ईरानी और भारतीय आर्यों के पूर्वज परस्पर पृथक् हो गये और उनका सांस्कृतिक मतभेद इसका

---

1. The Iranians had retained a distinct memory of the Indo-Iranian common home (Earanvej) in their mythology, but the Indo-Aryans, who must have developed their distinctively Indian Rigvedic culture about 1500 B C, at the latest have nothing to say on this point. It is indeed difficult to get away from the idea that the silence maintained by the earliest Vedic Indians on Iran and Iranians was at least partly intentional, Thus the names Rasa, Saraswati and Bahlika must have been brought to India from Iran by Aryans and applied to two Indian rivers and one Indian Province P 219

कारण बना।[1]

पुन लिखा है कि 'प्राचीन भारतीय-यौरोपीय परिभाषा दीवो (Deivo)-(भारतीय-ईरानी दैव) नये नैतिक एव सन्निकृष्ट देवों के लिए अनुपयुक्त समझी जाने लगी और शब्द असुर' स्यात् उच्च सभ्यता से उधार लिया गया। तथा उनकी उपाधि के रूप मे प्रयुक्त हुआ। वरुण इन नैतिक देवो मे मुख्य था जैसा कि इन्द्र प्राकृतिक देवो मे मुख्य माना जाता था।[2]

इसी प्रकार यह भी दिखलाया गया है कि यह भेद इसलिए खड़ा हुआ कि असुर देवो, और दैव देवो के आधार पर आसुर धर्म और दैव धर्म का भेद खड़ा हो गया। यह भेद एव विरोध जरथुष्ट्र से बहुत पूर्व बहुत बहाव पर था। जरथुष्ट्र की गाथावो का समय १००० बी सी है जो कि भाषा-विज्ञान से दिखाया गया है।[3]

पुन लिखा है कि "आसुर धर्म" भारतीय ईरानी समाज के बहुत सभ्य और स्थिर कृषक और पशुपालक तत्वो के द्वारा व्यवहार मे लाया जाता था जबकि उससे पुराना देव धम बहुत शक्तिशाली था परन्तु न्यून सभ्य लोगों से व्यवहार में लाया जाता

---

1 The primitive Indo-European religion recognized only nature-g ds (Sky Sun Wind etc) and a fire-cult But already the undivided Indo-Iranians knew a soma-cult, beside the older firecult and abst a t deities, beside the older nature gods. Indo-Iranian society had therefore ceased to be homoge-neous even before the forefathers of the Indian and Iranian Aryans parted company and it is hardly to be doubted that their parting was more the effect than the cause of the cultural contrast revealed in religion **Vedic Age P. 219.**

2 The old Indo-European term deivo (-Indo-Iranian daiva) was apparently cosidered in appropriate for the new abstract and ethical deities, and a new term, Asura, perhaps borrowed from a higher civilisation came to be used as their designation. Varuna was the chief of these ethical deities just as Indra was the chief of the older nature-gods Page 219-220

3 But it was in full blast long before the advent of Zarthustra whose Gathas should be dated about 1000 B C on linguistic grounds as shown in the preceeding chapter Page 220

था ।"[1]

यह मसला पैदा करते हुए कि "आर्यों ने जब अपने भारतीय ईरानी दर के सस्मरण को दबा दिया और नही लिखा तो क्या वे आसुर पूजको की स्मृति को भी उसी प्रकार नही दबा दे सकते थे ?" लेखक ने लिखा है कि 'वे ऐसा नही कर सकते थे—क्योकि कुछ असुर-पूजक भी उनमे मौजूद थे[2] ।"

वह पुन लिखता है कि "अति प्राचीन भारतीय-ईरानी समाज की भाँति ही अति प्राचीन भारतीय-आर्य-समाज भी सास्कृतिक दृष्टि से सर्वथा एक नही था । यह बाहुल्य से दैविक था परन्तु केवल मात्र रूप से नही । समकालिक ईरानी समाज मुख्यतः से आसुरी था । थोडे समय के चढा-उपरी और अभ्यस्तता के उपरान्त सधि स्थापित हुई और इस सीमा तक कामयाब हुई कि प्राचीन ऋग्वेदीय भाग मे देव इन्द्र भी एक असुर समझा जाने लगा और माया जो कि असुर की सपत्ति है और जादू की शक्ति है उसे इन्द्र के साथ सम्बद्ध कर दिया गया ।"[3]

वैदिक एज के लेखक का पुन कथन है कि "एक बडी सख्या मे समान सिद्धान्त-पद होम=सोम, जौवोतर=होता, अथवन्=अथर्वन्, मथ्=मत्र, यजत=यजत,

---

1 Christensen has suggested that the Asura religion was practised by the more cultured and steadier elements of the primitive Indo-Iranian society whose chief occupation was agriculture and cattle-breeding, while the older daiva religion continued to find favour with the more vigorous but less civilised portions of the people Page 220

2 But this they could not, because some Asura-worshipers were physically present among them

3 The earliest Indo-Aryan Society too, like the earliest Indo-Iranian Society, was therefore not quite homogeneous culturally It was predominently—but not exclusively—Davic while the contemporary Iranian society was predominently Asuric After a period of conflict and adaptation there was peace which proved successful to the extent that even the foremost of the Daiva-gods, namely Indra, not only came to be regarded as an Asura in the oldest parts of the Rigveda, but was also credited with possessing Maya which was a special property of the Asuras and probably signified "Magical power" Page 221

यश्न=यज्ञ, आजुति=आहुति आदि के रूप में, तथा सपूर्ण यज्ञ-सिद्धान्त तनिक भी सन्देह को अवसर नहीं देते (यह स्वीकार करने मे) कि वेद और अवेस्ता का कर्म-काण्ड एक ही और एक मूल के हैं। प्रमाणत जरथुष्ट्र का सुधार उस वैदिक सोम-सिद्धान्त को वास्तविक रूप में परिवर्तित करने मे समर्थ नहीं हो सका जो ईरान में उसके समय से युगो पूर्व प्रतिपालित था।"[1]

श्री प्राणनाथ विद्यालकार और अन्य कई विद्वानों का विचार है कि वेदो में ऐसे शब्द है जिनका कुछ ठीक अर्थ नही लगता है। जर्भरी, तुर्फरी इसके उदाहरण हैं। उनके अनुसार ये शब्द ईराक की प्रसिद्ध नदियों, पहाड़ों और नगरो के विशेष नाम है। इनका यह भी कथन है कि यदि आर्यों की एक शाखा भारत मे थी तो उसी समय दूसरी शाखा ईराक मे थी, दोनो मे सपर्क था, इसलिए वेदो मे दोनो का इतिहास है।[2]

वेदो मे इस प्रकार के विदेशी भाषा के शब्दो का होना बतलाते हुए लोकमान्य आदि ने आलिगी, विलिगी, ताबुव आदि शब्द बताये है। इनका उत्तर पूर्व प्रकरणो मे दिया जा चुका है फिर भी पुन यहाँ पर निराकरण कर दिया जावेगा।

समीक्षा—अवेस्ता और वेद न समकाल के है और न वेद अवेस्ता से बाद का है। वेद अवेस्ता से बहुत प्राचीन सृष्टि के आदि मे प्रकट किए गए ईश्वरीय ज्ञान है। भाषा-विज्ञान का वर्णन करते हुए इस विषय पर पर्याप्त विचार किया गया है। विपक्षीय प्रमाणो के आधार पर ही वेदो का समय अति प्राचीन सिद्ध किया गया है। फिर भी यहाँ कुछ विचार और प्रस्तुत किये जाते है।

(१) यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि आफताब का पौत्र और तुर्फा का पुत्र 'लावी' नामक अरबी कवि मुहम्मद साहब के जन्म के लगभग २४०० वष पूर्व विद्यमान था। उसने वदो का गुणगान अरबी भाषा की कविता म किया है। इस प्रमाण से यह पृष्ठभूमि भी बन जाती है कि ईस्वी सन् से लगभग १७०० वर्ष पूर्व भी

---

1 A large number of common cult-words such as haoma (—soma) Zaotar (—hota), athavan (—atharvan), manthra (—mantra), yazata (—yajata), yasna (—yajna), azuti (—Ahuti) etc and also the whole sacrificial cult leave no doubt that the Vedic and Avestan ritual are of one and same origin Evidently, the Zorathustrian reform could not materially alter the essentially Vedic character of the soma-cult cherished in Iran from ages before his time P 221

2 देखें 'आर्यों का आदि देश, पृष्ठ २२२

से मिटिक लोगों में वेदो के प्रति उत्तम विचार मौजूद थे। लाबी की कविता हारून रशीद के दरबार के कवि अस्माई मलेकुस शरा के द्वारा सगृहीत 'सीरुल उकूल'[1] नामक पुस्तक मे पाई जाती है। इस पुस्तक मे पृष्ठ ११८ पर लाबी के शब्द इस प्रकार हैं—

१ अया मुबारकल अर्जे योशैय्ये नुहामिनल् हिंदे फारादकल्लाहो मैय्योनज्जेला जिकतुन्।

२ वहल तजल्लेयतुन् ऐनाने सहवी अरबातुन् हाजही मुनज्जेल रसूलो जिकतान मिनल् हिन्दतुन्।

३ यकूलुनल्लाह या अहलल् अर्जे आलमीन कुल्लहुम् फत्तबिऊ जिकतुल् वेद हक्कन् मालम् युनज्जेलहुन्।

४ वहोवालम् उम् साम वल यजुर मिनल्लेह तनूजीलन् फ ऐनमा या अखेयो मुत्तबे अन् यो बशरेयो नजातुन्।

५ व अस्नैने हुमा ऋक् व अतर नासहीन क अखूवतुन् व अस्नात अला ऊदन् वहोव मशअरतुन्।

इन कवितावो मे वेद को ईश्वरीय ज्ञान कहा गया है। साथ ही ऋक्, यजुर, साम और अतर=अथर्व वेद के नाम भी आये है। इसके अतिरिक्त यह भी प्रकट है कि चारो वेद उस समय भी एक समय मे ही विद्यमान थे। कोई आगे पीछे बना हो इस बात का और मानव की कृति होने का सन्देह ही नही रह जाता है। इस ज्वलन्त प्रमाण को देखिए और वैदिक एज की इस कल्पना को कि वद ईसा के जन्म से एक सहस्त्र वर्ष पूर्व के है। दोनो को देखने से सत्य का पता अपने आप लग जावेगा।

(२) श्री दीनानाथ शास्त्री चुलैट ने 'वेदकाल-निर्णय' नामक ग्रन्थ मे ज्योतिष के प्रमाणो के आधार पर वेदो का समय तीन लाख वर्ष पुराना स्वीकार किया है।[1]

(३) महाभारत का काल वैदिक एज पृष्ठ ३०० पर १४०० बी सी लिखा है। महाभारत मे भी चारो वेदो का वर्णन है। इससे भी वेद के काल और महाभारत के काल के निर्णय मे वैदिक एज का निश्चय ठीक नही जँचता। वस्तुतः महाभारत का काल जैसा पूर्व दिखलाया जा चुका है ३१०० वर्ष ईस्वी पूर्व है। इस प्रकार वेदो का महाभारत मे वर्णन होने से वेद उससे प्राचीन हुए है। जब पाँच सहस्र वर्ष पूर्व महाभारत हो हुआ तो वेद का काल आज

1 यह पुस्तक अब बेरूत् परिर्नाशग कम्पनी बेरूत् पेलेस्टाइन द्वारा प्रकाशित है,
2 देख आर्यों का आदिदेश परिशिष्ट (घ)

से २८०० वर्ष पुराना मानना और एवेस्ता का समकालिक मानना ठीक नहीं है।

(४) वैदिक एज पृष्ठ २८८ पर रामचन्द्र एव रामायण का समय ईसा से २३००-१९०० वर्ष पूर्व का माना गया है । रामायण[1] में भी वेदों का स्पष्ट वर्णन है। व्याकरण एव अन्य वेदागो[2] का भी वर्णन है। जब रामायण काल में वेदाग भी बन चुके थे तो वेद की प्राचीनता का तो कहना ही क्या। धनुर्वेद जो कि वेद का उपवेद है वह भी बन चुका था। इससे वैदकाल इस रामायण से भी पुराना सिद्ध है और १००० ईस्वी पूर्व की कल्पना गलत सिद्ध होती है।

(५) वैवस्वत मनु का समय वैदिक एज पृ० २७० पर ३१०२ ईस्वी पूर्व माना गया है जो सर्वथा गलत है। वैदिक एज के लेखक की धारणा है कि मेसोपोटामियाँ मे जल-प्लावन ३१०२ वर्ष ईस्वी पूव हुआ था, अत यही समय मनु का होगा। परन्तु उसे यह ज्ञात नही कि स्वायभव मनु की स्मृति इससे भी ६ मनु पूर्व विद्यमान थी। यदि दुर्जनतोषन्याय से इसी मनु की यह मनु-स्मृति मानी जावे तो भी वैदिक एज का मत ठीक नही पडता है। मनुस्मृति मे वेद और वैदिक कर्मकाण्डो आदि का वणन है। स्मृति श्रुति के अर्थ को स्मरण करने वाली होती है। वैवस्वत मनु भी है और ववस्वत यम भी था। जब वेद मनु से भी पुराने सिद्ध होते हैं तो फिर १००० वर्ष ईस्वी पूर्व का उनका काल आकूतना अपने आप समाप्त हो जाता है।

मनु जहाँ ऐतिहासिक व्यक्ति हैं वहाँ वेद मे ये यौगिक पद है। वेद मे ये ऐतिहासिक व्यक्ति नही। परन्तु भारतीय ज्योतिष-विद्या-विशारदो ने मनु के साथ काल की गणना का प्रकार भी जोड रखा है। सारी सृष्टि के समय को १४ मनुवो मे बाँट रखा है। इन्ही को मन्वन्तर कहा जाता है। एक मन्वन्तर मे ७१ चतुयुगी का काल परिगणित माना जाता है। एक चतुर्युगी जो चारो युगो का जोड है तैतालीस लाख बीस सहस्र वर्षों की होती है। वैवस्वत मनु सातवाँ मनु है। इससे पूर्व स्वायम्भव, स्वारोचिष, औत्तमि, तामस, रैवत और चाक्षुष ये छ मनु

1 नानृग्वेदविनीतस्य नायजुर्वेदधारिण । नासामवेदविदुष शक्य ऐव विभाषितुम् ॥२८॥ नून व्याकरण कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम् । ... रामायण किष्किन्धा० ३।२ २८

2 वेदवेदांगतत्त्वज्ञ धनुर्वेदे च निष्ठित । रा०बालकाण्ड १।१४

बीत चुके हैं। अभी सावर्णि, दक्षसावर्णि, ब्रह्मसावर्णि, धर्मसावर्णि, रुद्रसावर्णि, रौच्यदेवसावर्णि और इन्द्रसावर्णि बीतने को शेष है। प्रत्येक मनु के अन्त मे एक जलप्रलय होता है—यही सधि का काल है। यह सूर्यसिद्धान्त आदि ज्योति शास्त्रो का मत है। ऐसी अवस्था मे ३१०२ वर्ष ईस्वी पूर्व जल-प्लावन का मानना कोई निश्चित सत्य नही है। व्यतीत हुए छ मनुवो और सातवें मनु के बीते काल को जोडने पर वेदो का समय एक अरब ६७ करोड से अधिक समय पुराना सिद्ध हो जाता है।

ये पाश्चात्य और पूर्वीय इतिहासज्ञ मनु का वर्णन वेद मे भी मानते है। परन्तु मनु की मनुस्मृति वेद का गुणगान करती नही थकती। दोनो का समय एक मानना ठीक नही। क्योकि मानव धर्मशास्त्र मानव धर्म-सूत्र के आधार पर है। धर्म सूत्र वेद के कल्प अग मे माने जाते हैं। अगो की रचना और वेद की रचना एक ही काल मे किस प्रकार हो गई – यह भी बतलाना पडेगा। जो किसी प्रकार इन इतिहासज्ञो से विकासवाद की प्रक्रिया को लेकर बताया जाना सभव नही। अत यह सब कोरी कल्पना है—इसमे कोई तत्व नही। वेद का समय मनुस्मृति और मनु से भी पूर्व का है और वह मानव की कृति नही। मनु का समय भी वैदिक एज द्वारा जो बताया गया है, प्रामाणिक नही है।

मनु के वेन, धृष्णु नरिष्यन्त नाभाग, इक्ष्वाकु, कारूष शर्याति, पृषध्र, और नाभानेदिष्ठ पुत्र तथा इला नाम की पुत्री थी ऐसा बतलाते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण ५।१४ और तैत्तिरीय शाखा ३।१।९ तथा मैत्रायणी शाखा १।५।८ मे लिखा है कि मनु के इन पुत्रो ने मनु की सम्पत्ति का बँटवारा किया। परन्तु नाभा-नेदिष्ठ उस समय गुरुकुल मे था। उसने आकर पिता से कहा कि दाय भाग मे उसे भी भाग मिलना चाहिए। सपत्ति तो पहले ही बँट चुकी थी, अत मनु ने नाभानेदिष्ठ को दाय मे 'इदमित्था' से प्रारम्भ होने वाले ऋग्वेद के दशम मण्डल के ६१ वे और ६२ वे सूक्त तथा इस ब्राह्मण को दिया। यह नाभानेदिष्ठ वैवस्वत मनु का पुत्र है। वर्तमान मे इन सूक्तो का ऋषि नाभानेदिष्ठ है परन्तु ये सूक्त प्राप्त हुए उसे उसके पिता मनु से। सूक्त ही नही ब्राह्मण भी। इसी स्थिति मे यह स्पष्ट है कि मनु के पूर्व और उसके समय मे भी वेद ही नही ब्राह्मण भी उपलब्ध थे। ब्राह्मण वेद के व्याख्यान हैं। जब ब्राह्मण भी उपलब्ध थे तो वेद की प्राचीनता तो उससे और प्राचीन अपने आप ही सिद्ध है। इस प्रकार वैदिक एज मे जो वेदो का काल बताया गया है वह सर्वथा ही भ्रान्त और गलत सिद्ध होता है।

८) उपनिषदो की प्राचीनता और महत्ता सर्वविदित है। मुण्डक उपनिषद् १।२।१ मे लिखा है कि मत्रो (वेदमत्रो) मे जिन कर्मों को क्रान्तदर्शी ऋषियो ने देखा था उन कर्मों का त्रेतायुग मे बहुत प्रचार था। वाल्मीकि ने रामायण मे दशरथ के पुत्रेष्टि यज्ञ और महाराज जनक के वप कामेष्टि यज्ञ का वर्णन किया है। अत इस आधार पर रामायण का और वाल्मीकि का समय १२ लाख ९६ सहस्र वर्ष से अधिक पुराना सिद्ध होता है। उपनिषदो म वेद का वर्णन है और रामायण मे भी। अत वेद की अति प्राचीनता ही सिद्ध होती है।

(७) सूर्यसिद्धान्त ज्योतिष का ग्रन्थ है। सूर्यसिद्धान्त का पुराना ग्रन्थ जो वसिष्ठ आदि का था और जिसके ही आधार पर यह नया सूर्यसिद्धान्त सकलित है सत्ययुग के अन्त मे बना था। "अल्पावशिष्टे[1] तु कृते" अर्थात् सत्ययुग (कृतयुग) के थोडे शेष रह जाने पर यह सूर्यसिद्धान्त बना। पुन एक ज्योतिष की घटना का वर्णन करते हुये लिखा गया है कि इस कृतयुग के अन्त मे सारे ग्रह एक युति मे[2] थे। इससे यह प्रकट है कि जिस समय सूर्यसिद्धान्त बना उस समय यह घटना प्रत्यक्ष-दृश्य थी। अत बारह लाख छानवें हजार त्रेता के, आठ लाख चौंसठ हजार वर्ष द्वापर के और पाँच सहस्र से कुछ अधिक वर्ष कलियुग के मिलाकर २१ लाख ६५ सहस्र से अधिक वर्ष इस सूर्य-सिद्धान्त को बने हुए होते है। वेद का वर्णन सूर्यसिद्धान्त मे भी है क्योकि यह वेदाग है। सूर्यसिद्धात मे इसे वेद का प्रमुख अग कहा गया है। इस प्रकार वेद उससे भी बहुत पूर्व का सिद्ध होता है।

(८) इसके अतिरिक्त गोपथ ब्राह्मण ६।१ मे लिखा है कि ऋग्वेद ४।१९ मडल की जिन सपात ऋचावो को विश्वामित्र ने देखा था उनको वामदेव ने देखा। इससे यह सिद्ध है कि वामदेव से पूर्व इन ऋचावो को वसिष्ठ ने देखा था। वामदेव का वर्णन साख्यदर्शन मे आया है। साख्य महर्षि कपिल की कृति है जो देवहूति और कर्दम महाराज के पुत्र थे। इनका समय सत्ययुग है। वसिष्ठ का समय भी सत्ययुग है। वह वामदेव से कुछ पूर्व वा समकाल वा ही समय हो सकता है। अत वेदो का समय इस आधार पर २२ से २५ लाख वर्ष पुराना सिद्ध होता है।

(९) शतपथ ब्राह्मण २।१।२।१ मे कृत्तिका नक्षत्र की घटना का प्रत्यक्ष-दृश्य वर्णन है—ऐसा ऐतिहासिक लोग स्वीकार करते हैं। इसका गणित करके आज तक

1 सूर्यसिद्धान्त १।२

2. सूर्यसिद्धान्त १।५७

का समय चार सहस्र नव सौ ६३ वर्ष होता है। यह काल इनके अनुसार शतपथ ब्राह्मण का है जो यजुर्वेद का व्याख्यान है।

श्री वी० वी० केतकर ने तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।१।१५ का एक प्रमाण बृहस्पति नक्षत्र की घटना का निकाला है। इसके आधार पर निकाला गया समय इस तैत्तिरीय ब्राह्मण का ही आज तक ५९६४ वर्ष सिद्ध होता है। यह ब्राह्मण मूल यजुर्वेद का नहीं बल्कि उसकी तैत्तिरीय शाखा का है।

१०—इन्ही इतिहासविदो की सरणि को अपनाकर यहाँ पर एक और भी कुतूहल दिखलाना अनुचित न होगा। वह इस प्रकार है कि शतपथ ब्राह्मण ६।२।२।१८ मे (एषाह सवत्सरस्य प्रथमा रात्रिर्यत्फाल्गुनी पौर्णमासी) कहा गया है कि फाल्गुनी पौर्णमासी सवत्सर की प्रथम रात्रि है। इसके अनुसार वसन्तसपात फाल्गुनी पूर्णिमा के दिन होता था। इसका गणित करने पर यह समय आज तक २२००० वर्ष से भी अधिक होता है। इस प्रकार शतपथ ब्राह्मण का समय ही बाईस सहस्र वर्ष ठहरता है तो फिर वेद का समय एक सहस्र वर्ष ईस्वी पूर्व कहना कितना अन्धेर है। फिर तो ब्राह्मण वेदो से भी प्राचीन हो जावेगे।

इस प्रकार देखा गया कि इन प्रमाणो और तर्कों से वेदो का समय बहुत ही पुराना सिद्ध होता है। अन्त मे वह लगभग दो अरब वर्ष से कुछ कम पुराना जा पहुँचता है। अथर्ववेद ८।२।२१ मे (शत ते अयुत) सृष्टि का समय चार अरब बत्तीस करोड वर्ष बतलाया गया है। यह समय एक सहस्र चतुर्युगियो का है। एक चतुर्युगी तैतालीस लाख बीस हजार वर्षों की होती है।

इस प्रकार सृष्टि की आयु परिज्ञान हो जाने पर वैज्ञानिक दृष्टि से इसमे से मनुष्योत्पत्ति का काल निकालना आवश्यक है। यद्यपि पूर्व यह दिखलाया जा चुका है फिर भी यहा पर पुन दिखला दिया जाता है। इससे पक्ष की विशेष परिपुष्टि हो जावगी। वेद जहाँ सारी सृष्टि की आयु बतलाता है वहाँ यह भी बतलाता है कि जो ओषधि और बनस्पति आदि है वे भोक्ता के उत्पन्न होने से तीन चतुर्युगी पूर्व उत्पन्न हो जाते[1] हैं। इस प्रकार चेतन मानवादि की उत्पत्ति तीन चतुर्युगी पश्चात् होती है—यह इतिहास नही वैज्ञानिक तथ्य है। पुन वेद बतलाते हैं कि परमेश्वर इस वैज्ञानिक आधार से मनुष्य, ऋषि, आदि को उत्पन्न करता है और

1. या ओषधी पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुग पुरा। ऋग्वेद १०।९७।१

वही इन्हे उत्पन्न करने के साथ ऋक्, यजु, साम और छन्द=अथर्ववेद को उत्पन्न करता है।[1] इस प्रकार मानव की उत्पत्ति के साथ ही वेद का उस पर प्रकाश होता है और वह मनुष्य की रचना नहीं—परमेश्वर का ज्ञान है। अगर अब तक सृष्टि के बीते हुये समय मे से इन तीन चतुर्युगियो का समय निकाल दिया जावे तब भी वेद का समय एक अरब ९७ करोड वर्ष के लगभग पुराना ठहरता है। अत. वैदिक एज की वेद-काल सम्बन्धी कल्पना सर्वथा ही निराधार है।

भाषा-विज्ञान का आधार भी ठीक नहीं —वैदिक एज ने अथवा अन्य विद्वानो ने जो भाषा-विज्ञान का आधार लेकर वेद को अवेस्ता का समकालिक अथवा तत्पश्चाद्वर्त्ती बनाने का साहस किया है वह भी सर्वथा निराधार है। अवेस्ता की भाषा पर और वेद की भाषा पर यदि विचार किया जावे तो पता चलेगा कि वेद के शब्दो के आधार पर अपभ्रंश करके अवेस्ता की भाषा बनी है—अवेस्ता के आधार पर वेद के शब्द नही बने हैं। भाषा-विज्ञान के पक्षपाती भाषा को विकास के आधार पर विकसित मानते है। परन्तु वास्तविकता यह है कि भाषा विकास का नही सकोच और अपभ्रंश आदि का फल है जो वैदिकी वाक् से इसी आधार पर ससार मे विस्तार को प्राप्त हुई है। इस विषय मे विस्तृत रूप से भाषा-विज्ञान के प्रकरण मे पूर्व कहा जा चुका है। वास्तविकता यह है कि वैदिकी वाक् और लौकिक सस्कृत के म्लेच्छीकरण, अपभ्रंश और सकोच के विविध क्रमो से ही जन्द भाषा अस्तित्व मे आई है। जन्द से वैदिक शब्दो का विकास नही हुआ है। जब भाषा के सकोच-क्रम से एक भाषा से दूसरी भाषा के बनने मे बहुत लम्बा समय लगता है तो विकास-क्रम से तो उससे कई गुना लम्बा समय लगना चाहिए। अत वैदिक शब्द जन्द के विकास भी हो और उसी काल मे हो गये हो—यह सर्वथा ही असभव है। भाषा-विज्ञान के नियम जो कल्पित किये गये है उनसे भी यही सिद्ध होता है कि वैदिकी वाक् जन्द से पूर्व होगी। 'स' को 'ह' होने का नियम तो भाषा-विज्ञान मानता है परन्तु 'ह' से 'स' का विकास नही। ऐसे ही नियम वर्ग के द्वितीय चतुर्थ अक्षरो के विषय मे भी हैं। नीचे दिये गये पदो पर ये नियम यदि लागू किये जावें तो यह निश्चित है कि सस्कृत के रूप जन्द के रूपो के पूर्ववर्त्ती रूप सिद्ध होगे। परन्तु जन्द के रूप सस्कृत से पूर्ववर्त्ती किसी भी अवस्था मे नही सिद्ध किये जासकेंगे। फिर जन्द से सस्कृत

1. देखें पुरुषसूक्त।

वा वैदिकी वाक् का विकास हुआ हो —यह सभव नही हो सकता है —

सस्कृत रूप	जन्द रूप
असुर महत्, वा असुरमेधा	आहुरमजदा
सोम	होम
सेना	हेना
अस्मि	अह्मि
सन्ति	हेन्ति
असु	अहु
वैवस्वत	विवन्हत
हृदय	जरदय
हिम	जिम
ह्वे	ज्वे
आहुति	आजुति
छन्द	जन्द
अवस्था	अवेस्ता
सुमतम्	हुमतम्
सूक्तम्	हूक्तम्
सुकृतम्	हूर्स्तम्

जन्द वस्तुत भाषा का नाम है अथवा यह कोई व्याख्या है इस विषय पर कई विद्वानो ने विचार किया है। श्रीमती एनीबिसेण्ट ने एक लेक्चर[1] दिया था जो थियोसिफकल पब्लिशिंग हाउस अड्यार मद्रास से सन् १९३५ मे छपा था। इसमें उन्होने इस विषय पर विचार किया है। उनका कथन है कि अवेस्ता की भाषा तो अवेस्ता की भाषा है। जन्द अवेस्ता की भाषा मे एक पुरानी व्याख्या (Commentary) थी जो कि पह्लवी भाषा के अनुवादकर्त्तावो से पूर्व इस अवेस्ता पर विद्यमान थी। मूलत जन्द का अर्थ व्याख्या है। सासान काल मे पह्लवी ईरान की भाषा थी और नई जेन्द का उसी समय अनुवाद हुआ था। इस प्रकार जन्द भाषा नही—बल्कि प्राचीन व्याख्या का नाम है। डाक्टर हुगा और ब्लेवेट्स्की का भी इसी प्रकार का विचार श्रीमती एनीबिसेण्ट ने दिखलाया है।

1 Zrsaratıanısm

अवेस्ता की भाषा के विषय मे श्री बाबू सपूर्णानन्द जी लिखते है[1] कि "जिस भाषा में अवेस्ता की पोथी लिखी गई है वह ईरान की पह्लवी भाषा नही है। जेन्द पहलवी से मिलती-जुलती है परन्तु उससे भिन्न है। ऐसी परम्परागत कथा है कि मज्द धर्म के सस्कृत अर्थात् शुद्ध रूप को ईरान मे मग लोगो ने फैलाया। यह लोग मीडिया प्रदेश मे रहते थे जो ईरान के उत्तर-पश्चिम मे है। मग लोग ही उपासना के समय आथ्रवन (अथर्वन्) हो सकते थे। अवेस्ता की प्रतियाँ इस्कन्दर रूमी (सिकन्दर) के आक्रमण के समय जल गई। फिर जिसको जो कुछ याद था वा जो कुछ इधर उधर लिखा पडा था वह सब जोड-जाडकर सग्रह किया गया। इस वृत्तान्त से यह तो निकलता है कि प्राचीन अवेस्ता का बहुत-सा अश खो गया है।"

यहाँ पर श्री बाबू सपूर्णानन्द जी के लेख से भी यही ध्वनित हो रहा है कि जन्द भाषा है। परन्तु इतना तो स्पष्ट है कि अवेस्ता के बहुत से अश जो प्राचीन थे और सस्कृत के अधिक निकट थे—उपलब्ध नही है। यदि वे उपलब्ध होते तो स्यात् इस बात की पुष्टि का और भी प्रमाण मिल जाता कि अवेस्ता की भाषा सस्कृत का ही सकुचित रूपान्तर है।

यहाँ यह विशेष स्मरण रखने की आवश्यकता है कि ईरानी जाति प्राचीन आर्य जाति से निकली हुई एक शाखा है। ईरान की प्रधान भाषा फारसी भी आर्य-भाषा सस्कृत से निकली हुई उसके सकुचित रूपो की एक भाषा है। इस भाषा के अपने पुराने रूपो का सस्कृत से घनिष्ठ सम्बन्ध है। ईरानी भाषा के प्राचीन साहित्य मे कुछ तो प्राचीन साहित्यिक शिला-लेख है और दूसरी धार्मिक पुस्तक अवेस्ता है। अवेस्ता पूर्णत पूर्वरूप मे उपलब्ध नही है। परन्तु उपलब्ध भाग से पुरानी फारसी के रूपो का कुछ पता लगाया जा सकता है। ईरान के प्राचीन साहित्य की भाषा एक होती हुई भी प्रान्तीय भेद से परस्पर विभिन्न है। शिला-लेखो की भाषा पश्चिमीय ईरान की भाषा है। इसी को पुरानी फारसी कहते है। इससे पहलवी और पहलवी से वर्तमान फारसी निकली है। अवेस्ता की भाषा का जन्द नाम प्रसिद्ध है। परन्तु यह भूल है। यह भूल सबसे पूर्व एक पश्चिमी विद्वान् से हुई, और प्रचार पा गई। इसी आधार को लेकर अवेस्ता को भी जन्द अवेस्ता के नाम से लोग प्रसिद्ध कर दिये हैं। जन्द अवेस्ता की एक व्याख्या का नाम है। जन्द पद वस्तुत छन्द का विकृत रूप है। अवेस्ता की भाषा मीडिक भाषा है। परन्तु समुचित यह है कि अवेस्तिक भाषा ही कहा जावे।

---

1 आर्यों का आदिदेश पृ० ७१

पुरानी फारसी के साहित्य मे वे शिला-लेख हैं जो एकोमीनिद राजवश के खुदवाये हुये है। इनमे बेहिस्तन पहाडी मे खुदे लेख मुख्य है। इनमे भी पहले लेखो की अपेक्षा बाद वालो की भाषा का स्वरूप कुछ परिवर्तित है। ये लेख कीलाक्षरो से खुदे है। लिपि अवेस्ता की अपेक्षा बडी सादी है। यह बाये से दायें को चलती है। वर्णमाला भी इसकी अवेस्ता की वर्णमाला की अपेक्षा सरल है। इसमे ह्रस्व 'ए' और ह्रस्व 'ओ' का अभाव है। उनके स्थान मे सस्कृत के सदृश ही पाया जाता है।

पुरानी फारसी समय पाकर पहलवी के रूप मे परिणत हुई। इसमे पुरानी फारसी की अपेक्षा अनेक परिवर्तन हो गये। इसका काल सासानी राजवश का काल है। अवेस्ता का पहलवी अनुवाद भी है और स्वतत्र लेख भी है।

ऐकोमीनिद राजावो के समय की प्राचीन फारसी से इस मध्यकालिक फारसी मे प्रधान परिवर्तन ये हुए हैं कि शब्दो के रूपो का उतना बाहुल्य नही है और भिन्न-भिन्न कारको के द्योतन के लिए विभक्तियो के स्थान मे अलग अलग (हिन्दी के 'को', 'से' आदि की तरह) सहायक शब्दो से काम लिया गया है। वर्तमान फारसी पहलवी के रूप मे से होकर वर्तमान रूप मे आई है। इसके उच्च साहित्य का आरम्भ महाकवि फिरदौसी के शाहनामा से होता है। इस काव्य मे अरबी के शब्दो का प्रभाव नाममात्र का है। इसके पीछे धीरे-धीरे वर्तमान फारसी मे अरबी शब्दो का प्रयोग बढता गया है।

यह थोडा-सा विवरण 'जन्द' को लेकर यहाँ पर दिया गया। परन्तु जैसा ऊपर कहा गया है, प्राचीन फारसी और अवेस्ता की भाषा सस्कृत के बहुत समीप हैं। कहना चाहिए कि वे सस्कृत की ही सकुचित रूप हैं—सस्कृत से पूववर्त्ती स्वतत्र भाषा नही जिनका सस्कृत के विकास मे स्थान हो। वैदिक और सस्कृत शब्दो का ही सकोच होकर अवेस्ता की भाषा बनी है और न वह वेद की समकालिक और न पूर्ववर्तिनी ही भाषा है। जैकोलियट ने "बाइबिल इन इण्डिया" मे लिखा है कि "इस प्रकार स्रोत की ओर मुडते हुए हम निश्चय ही पाते है भारत मे प्राचीन और वर्तमान लोगो की काव्यकला, धार्मिक रीति को। जरथुष्ट्र की पूजा, मिस्र के चिन्ह, इलेसिस के रहस्यो, वेस्टा के पुरोहित देवियो, बाइबिल के सिद्धान्त और भविष्य-कथनो, सामी सन्तो के आचार, तथा बैतुलहम के दार्शनिक की उत्तम पवित्र शिक्षाओं

का स्रोत हम भारत में पाते[1] हैं।" इससे यह सिद्ध है कि जरथुष्ट्र की शिक्षायें भारत से गई है। जैकोलियट ने प्रथम प्रकरण मे प्रसिद्ध नामो को भी सस्कृत से गया हुआ सिद्ध किया है। वह पुन कहता है कि विज्ञान ने पुन किसी प्रमाण की अपेक्षा न रखने वाले तथ्य के रूप मे यह स्वीकार कर लिया है कि प्राचीन सभी वाक्धारायें और मुहावरे सुदूरपूर्व से प्राप्त किये गये है और भारत के भाषाविदो के प्रयत्न को धन्यवाद है कि हमारी वर्तमान भाषावो को उनसे तत्सम शब्द मिले और धातुवे मिली।[2]

इस प्रकार यह तथ्य है कि समस्त ससार ने भारत से ही इन विविध विषयो की प्रेरणा प्राप्त की है। भारत की इन सभी प्रवृत्तियो का प्रेरणास्रोत वेद रहा है। जैसा भाषा-विज्ञान के प्रकरण मे दिखला दिया है, समस्त भाषावो का मूल वैदिकी वाक् है। इसी से भाषाये निकली हैं और अवेस्ता की भाषा भी वेद की वाणी से सकोच को प्राप्त होकर बनी है। वेद के विविध शब्द अवेस्ता मे पाए जाते है।

अवेस्ता और वेद के शब्द तथा मन्त्रभाग—अवेस्ता मे वैदिक शब्दो का ही विकृत रूप पाया जाता है जो प्रकट करता है कि वेद से ही ये अवेस्ता मे गये। वेद का प्रयोग भी अवेस्ता मे कई वार आया है। यहाँ पर कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है—वेद शब्द विद् धातु से बना है। इसमे लाभ भी एक अर्थ है। यस्न २३ मे क्रमश ४, ५, १० गाथावो मे—वींदुश, वइदम्नो, वइदा पद आए हैं। यस्न २९ गाथा १० मे पवोउर्वीम् मे वएदम पद आया है। यस्न २९/१० की सस्कृत रचना इस प्रकार होगी जो इस विषय पर अधिक प्रकाश डालेगी—यूयम् एभ्यो अहुर ! ओजो दातृ

1 So in returning to the fountain-head, do we find in India all the poetic and religious traditions of ancient and modern peoples The worship of Zoroaster, the symbals of Egypt, the mysteries of Eleusis and the priestesses of Vesta the Genesis and prophecies of the Bible, the morals of the Samian sages and the sublime teaching of the philosopher of Bethlehum Page 9, 1916 edition

2 Science now admits, as a truth needing no further demonstration, that all the idioms of the antiquity were derived from the far East and thanks to the labours of Indian philologists our modern languages have there found their derivation and their roots P. 8

अष । क्षत्रम् च एतावत् वसु मनसा य सुशयतिश रामाम् च देयात् अहम् अमसि त्वाम् महद् अस्या पौर्व्य वेदम् ।। यहाँ पर पवोउर्वीम् वेदम्, पौर्व्य वेदम् का अर्थ पूर्व वेद है ।

दूसरा उदाहरण अहुनावती गाथा हा—३२।२ का दिया जा सकता है । इस मे भी 'वएदम्' पद है । इस यस्न २९।१० मे आया 'अहुर' पद भी संस्कृत भाषा का ही है । असुर और अहुर दोनो का संस्कृत मे प्रयोग होता है । सामवेद के मत्र-ब्राह्मण १।६।२१ मे अहुर पद का भी प्रयोग है और गोभिलगृह्यसूत्र २।१०।२९ मे 'अहुर' पद का प्रयोग है । वेद पद का प्रयोग भिन्न-भिन्न गाथावो मे पाया जाता है—

अवेस्ता	संस्कृत	अर्थ
यस्न ३४।७ वएरदंना	वेदेन	वेद के द्वारा
उशनवैति ४५।४।१-२ वएरदा	वेदा	वेद
,, ४५।५।१-२		
वच सूइयाइ ह्यत् मरेतए	यथेमा वाच	जैसे इस कल्याणी
२ इव्यो २ वहिश्तम्	कल्याणी माव-	वाणी को जनो
	दानि जनेभ्य	को देता हूँ ।
	(भाव यहाँ पर यही है)	
गाथा १।१।१० वएदा	वेदा	वेद
वएद मनो	वेदमना	वेद मे मन वाला
वए २ द मनाइ	वेद मनो अाय	वेद मन वाला
वएदो २ दम्	वेदोक्तम्	वेदोक्त
वए २ दिश्नो २	वेदिष्ट	परमेश्वर

वएदा' पद जानने अर्थ मे भी कही-कही पर प्रयुक्त है परन्तु विद् धातु का भाव सर्वत्र पाया जाता है । इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे मत्रखण्ड भी हैं जिनका वैसा ही प्रकार वा भाव गाथावो मे मिलता है —

अवेस्ता	वेद
अह्या यासा नमङ्हा उस्तानजस्तो रफॅध्रह्या गाथा १।१।१	मर्तोदुवस्येदग्नि मी लीत उत्तानहस्तो नमसा विवासेत् ।। ऋग्वेद ६।१६।४६

पइरिजसाइ-मज्दा उस्तानजस्तो'' नमँङ्हा । गाथा ३।४।८	उत्तानहस्तो नमसोपसद्य अग्ने । ऋ ३।१४।५ यजु १८।७५
नमङ्हो आ यथा तम् रब्मावतो २ मज्दा । नममा आ ॥ गाथा २।२।१	नमोभि —आ नमे महो ऋ ६।५१।८
अमँरताइती दएवाइश्चा मश्क-याइश्चा । गाथा ३।२।१	देवेभ्यो अमृतत्व मानु-षेभ्य । ऋग्वेद ४।५४।२
वीस्पे हज ओषाओ । अवेस्ता	विश्वे सजोषस । ऋ १।१३।४
नमो २ व वीस्प हज़ओषाओ-रवी० नी० १	नमोभि विश्वान्व आ नमे विश्वे सजोषा ऋ ६।५१।८, ५
आ अइर्यमा जन्तू नरव्यस्चा नाइरिव्यस्चा यस्न ५४।१।१	अयमायात्यर्यमा पतिमुनजायाम् । अथर्व ६।६०।१
मिथ् अहर यजमइदे । मिहिरयश्त् ३५।१४५।१-२	यजामहे-मित्रावरुणा ऋ० १।१५३।१
अइर्यमनम् यजमइदे यस्न ५४।२।१	अथमण यजामहे । अथर्व १४।१।१७
नँमो २ हओ माइ-हओम यश्त १।३।१६	सोमाय नम अथर्व १८।४।७२
नँमो २ मिथ्राइ खोर० न्याइश ५	मित्राय नम ऋ १०।८५।१७ नमो मित्राय ऋ० १।१३६।८
यिम हे · यजमइदे ।	यमस्य यजामहे

फ्रवर्दिन यश्त २६।१३०।१ — अथर्व २०।२५।५

उर्वथो वराता पता वा मज्दा अहुरा । — उत वात पितासि न उत

गाथा २।३।११ — आतोत नः सखा ।

ऋ १०।१८६।२

यहाँ पर एक दो गाथायें दी जाती है और उनका अंग्रेजी मे अर्थ भी दिया जाता है जिससे यह सिद्ध होगा कि अवेस्ता वेद को याद करती है—वेद अवेस्ता के समकालिक और पोषक एव उससे शब्दो को ग्रहण करने वाले नही हैं—

"कुआ तोर इ अँरद्रा मज्दा योरइ बड हुउश् वए २ दैंना मनड् हो २ ।
सन्गहूश् रप २ खैंना श्रो अस्पैंन्चीत् चरत्रयो २ उष उरू ।
नए २ चीम् तम् अन्यम् यूष्मत् वए२दा अषा अथानाओ थ्राज्दूम् ।

अहुनवइति गाथा यस्न ४।७

Translation—

Where (are) (those) Thy devotees, Mazda ! who through the Veda of Vohumana, do produce doctrinal treasures, even in misfortune being in love (themselves) (as also) Him (i e at least one out of those devotees) other than you do do bring (near us) O Vedas ! True peace (शम्) now do save and protect us

अत् फवरव्या अड् हुउश् अह्या पओउर्वीम् ।।१।।
या मोरइ वीद्वाओ मज्दाओ व ओचत् अहुरो २ ।।२।।
यो २ ईम् माथ्रम् • ।।३।।

उश्तवइति गाथा यस्न ४५।३।१, २, ३

Translation .—

Now shall I describe the Primaeval (word) of this world, which the wise Mazda Ahura did speak unto me who this Manthra (Mantra i e Veda)

अत फवरव्पया अड् हुउश् अह्या वहिश्तम् ।
अपात हचा यज्दा वए२दा यँ इम् दात् ।

उश्त० गा० य० ४५।४।१, २

Translation

O[illegible] shall I speak about the finest essence in this world these Vedas which Mazda connected with Asha did impart (to His human subjects)

यहाँ पर वेद और मन्त्र का प्रभाव गाथाओं पर स्पष्ट ही दिखाई पड़ रहा है।

नीचे कई ऐसे शब्द दिये जाते हैं जो वेद के हैं और अवेस्तन भाषा में भी सामान्यत उसी अर्थ मे पाये जाते हैं—

पद	अर्थ
पितु	भोजन
यातु	मायावी
मातर	माता
वस्त्र	वस्त्र
दूत	दूत
अस्ति	है
उत	भी
आयु	वय

इसी प्रकार के अन्य भी बहुत से शब्द है। यहाँ पर केवल सक्षेप से ही कुछ शब्दो को दिखलाया गया। इसके अतिरिक्त बहुत से ऐसे वैदिक शब्द है जिनका अवेस्तन भाषा मे एक वा दो अक्षर परिवर्त्तन हो गया है परन्तु अर्थ एक ही है।

एक और समानता शब्दो की यहाँ पर दिखाई जाती है—

वेद	अवेस्तन
असुरमेध, असुरमहत्	आहुरमज्दा
अर्य्यमन्	एर्यमन
मित्र	मिथ्
नाराशस	नार्योसह
वृत्रहन्	वृत्रघ्न
भग	वघ
वैवस्वत यम	विवह्वन्त यिम

इस तालिका मे स्पष्ट सिद्ध है कि वेद से ही ये शब्द अवेस्ता मे गये हैं।

कुछ अन्य तथ्य—१—जन्दावस्ता के हरमजद यष्ट मे आहुरमज्दा ने अपने २० नामो की गणना की है। इन मे प्रथम नाम 'अह्मि' है। यह वैदिक 'अस्मि'

का परिवर्तित रूप है। पिछला नाम अह्मि यद अह्मि' बतलाया गया है। यह सस्कृत 'अस्मि यद् अस्मि' के अतिरिक्त कुछ नही है।

२—सर विलियम जोन्स का कथन है कि "जब मैंने जन्द भाषा के शब्दकोष का अनुशीलन किया तो यह ज्ञात करके कि उसके १० शब्दो मे ६ या सात शब्द शुद्ध सस्कृत के है, अकथनीय आश्चय हुआ। यहाँ तक कि उनकी कुछ एक विभक्तियाँ भी (सस्कृत) व्याकरण के नियमानुसार ही बनाई गई है, जैसे युष्मद् का षष्ठी बहुवचन 'युष्माकम्' है।[1]

३—डाक्टर हॉग का यह मत है कि "अवेस्ता" की भाषा का प्राचीन सस्कृत से जो आजकल वैदिक सस्कृत कही जाती है, इतना ही घनिष्ठ सम्बन्ध है जितना यूनानी भाषा की विविध बोलियो (Aeolic, Conic, Ionic or attic) का एक दूसरे से। ब्राह्मणो के पवित्र मत्रो की भाषा और पारसियो की भाषा एक ही जाति के दो पृथक् पृथक भेदो की बोलियाँ है जैसे आयोनियन, दोरियन, और आयोलियन[2] आदि।

४—मैक्समुलर की स्पष्टोक्ति यह है कि युजिन बर्नफ के ग्रथो और बॉप साहब के मूल्यवान् लेख से जो उन्होने अपनी कम्परेटिव ग्रामर नामक पुस्तक मे दिया है यह बात स्पष्ट है कि जन्द भाषा अपने व्याकरण और शब्दकोष के विचार से किसी अन्य आर्य (Indo European) भाषा की अपेक्षा सस्कृत से अधिक सामीप्य रखती[3] है। जन्द भाषा और सस्कृत मे भेद विशेषकर ऊष्म, अनुनासिक और विसर्ग का है। गणना के शब्द भी दोनो मे १०० तक एक से ही है। हजार का नाम 'सहस्र' केवल सस्कृत मे ही पाया जाता है। जन्द के अतिरिक्त जिसमे वह 'हजार' हो जाता है अन्य किसी इण्डोयोरोपियन बोली मे नही मिलता है।' यहा पर इन विद्वानो की सम्मति कितनी स्पष्ट है। इतना ही नही शब्दो का भण्डार पड़ा है जो वेद से ही इसमे गया है। आतश यश्त मे "नमस्ते आतर्श मजदा अहुरह्य" पद आये है, इनमे 'नमस्ते' पद ज्यो का त्यो पड़ा है।

एक विशेष बात यह है कि वैदिक साहित्य मे "छन्द" पद अनेक अर्थों मे प्रयुक्त है। यह छन्द' गायत्री आदि छन्दो के अर्थ मे भी है और वेद के अर्थ मे भी।

---

1 Asiatic Researches II & III quoted by Professor Darmesteter in Zand Avesta Part I, Intro P XX

2 Haug's Essays P 69

3 Chips Vol I, P 82—83

इसी भाव को लेकर 'जन्द' का भी व्यवहार निश्चित किया गया है। जैसा पूर्व कहा गया है, यह एक प्राचीन व्याख्या है। जन्द छन्द का ही अपभ्रंश है। इसी प्रकार मित्र, अतान और मंत्र क्रमश मिथ्र, थ्रैतान और मन्थ्र बन गये हैं। इष्टि, अपानपात्, देव और इन्द्र— ज्यों के त्यों देखे जाते है। देव और इन्द्र के अर्थों मे जन्द में अन्तर पड गया है। सिरोजह, १।६, १।२२, २।६, यश्त ८।६, यश्त ८।८, मे 'आर्य' का वर्णन आया है।

५—कम-से-कम जन्द भाषा संस्कृत की एक शाखा थी। यह कदाचित् उसके उतनी ही निकट थी जितनी प्राकृत अथवा अन्य प्रचलित भाषायें जो भारतवर्ष मे दो सहस्र वर्ष पूर्व बोली जाती थी। डारमेस्टेटर फादर पोलो डी सेण्ट बारथे लेमी (Paulo de Saint Barthelemy) का उल्लेख करते हुए लिखते हैं कि 'वह इस परिणाम पर पहुँचे कि अति प्राचीनकाल मे संस्कृत भाषा फारस और भारतवर्ष मे बोली जाती थी। उससे ही जन्द भाषा का जन्म हुआ। डारमेस्टेटर पुन कहते हैं कि '१८०८ ई० में जॉनलिडिन (John Lydon) जन्द को पाली भाषा के समान एक प्राकृत की शाखा समझते थे। एर्सकीन (Erskine) की दृष्टि मे जन्द संस्कृत भाषा की शाखा थी जिसे पारसी धर्म के संस्थापक ने भारतवर्ष से लिया। परन्तु यह भाषा फारस मे कभी नही बोली गई।" डारमेस्टेटर पुन कहते हैं कि पीटर वोन बोह्लन (Peter Von Bohlen) के अनुसार (जन्द भाषा) प्राकृत भाषा की शाखा है। जैसा कि जोन्स, लीडन और एर्सकीन का कथन है।[2]

६ न्दावस्ता के अनुवाद-कर्त्ता पादरी एल० एच० मिल्स लिखते हैं कि "मिथ्र और उसके उन सहयोगियो की अनुपस्थिति जिनका वर्णन पिछली अवेस्ता मे है हमे इस बात को स्वीकार करने की आज्ञा देते हैं कि गाथावो का काल (जो जन्दावस्था के प्राचीनतम भाग हैं) ऋचावो से बहुत पीछे का है[3]। वे फिर कहते है, "हमको इस परिवर्त्तन के लिए समय की आवश्यकता है और यह भी थोडे समय की नही अतएव हम गाथावो का समय, ऋचायें— जो प्राचीनतम है— से बहुत पीछे का रख सकते[4] हैं।

1 Asiatic Researches II 3 William Jones

2 Zend Avesta Part I Introdiction PXXL.

3 Zend Avesta English Translation, Part III Intro P XXXVI (S B E Series)

4 Same book Page 37

७—संस्कृत अ, आ, इ, ई, और उ, ऊ के उच्चारण में अवेस्ता में भी कोई भेद नहीं। इनका उच्चारण संस्कृत के ही समान उसमें भी होता है। ग्रं अवेस्ता में एक अविस्पष्ट विशेष स्वर है। इसकी ध्वनि बहुधा "अ" और 'ए' से मिलती सी है। वैदिक "ऋ" अवेस्तामें में 'अंर् अं' इस प्रकार अविस्पष्ट उच्चरित होता है। 'ए', 'ओ' का उच्चारण अवेस्ता में दो प्रकार का है। यह ह्रस्व और दीर्घ दोनों उच्चरित होता है। दीर्घ उच्चारण संस्कृत के समान ही है। ह्रस्व का उच्चारण संकुचित-सा है। जैसा कि प्राकृत में एव्व, जोव्वण और पजाबी — में एँत्थे, ऑत्थे में यह ह्रस्व उच्चारण देखा जाता है। कई लोग इस आधार पर वेद की भाषा का और इसका भेद दिखलाते है। परन्तु यह सर्वथा भ्रम है। 'ए', 'ओ' का यह ह्रस्व उच्चारण भी अवेस्ता में वैदिकों के सप्रदाय से ही आया है। 'ए' 'ओ' का ह्रस्वोच्चारण वैदिकों का एक सप्रदाय भी किया करता था। 'सुजाते ए अश्वसूनृते। अध्वर्यो ओ अद्रिभि सुतम्—यह सात्यमुग्रिराणायनीय उच्चारण है। अष्टाध्यायी १।१।४८ के वार्तिक तीन पर महाभाष्य से यह स्पष्ट है। इस प्रकार इन सभी तर्कों और प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध है कि वेद अवेस्ता से बहुत-बहुत प्राचीन हैं और वैदिक शब्दों तथा संस्कृत भाषा से ही अवेस्ता की भाषा बनी है। अवेस्ता की भाषा से वेद की वाक् नहीं बनी है।

८—**वेद से ही पारसी धर्म ने अपनी शिक्षायें, भाषा आदि की प्रेरणा ली—** अवेस्ता को देखने से यह पता चलता है कि उसमें स्थान-स्थान पर वेद का नाम लिया गया है। पहले यह भली प्रकार दिखाया जा चुका है। यहाँ पर यह भली प्रकार दिखाया जावेगा कि अथर्ववेद की पैप्पलाद शाखा से इस पारसी धर्म ने अपने मूल सिद्धान्त की प्रेरणा ली और अनेक परिवर्त्तन परिवर्धन कर अपने कलेवर का विस्तार किया। कुछ पंक्तियों में यह स्फुट किया जाता है।

हाग का कथन है कि 'गाथाओं में (जो जन्दावस्था का सबसे पुराना भाग है) एक प्राचीन ईश्वरीय ज्ञान की ओर संकेत किया गया है। तथा सोश्यन्त, अथर्व तथा अग्नि के पुरोहितों की बुद्धि की प्रशंसा की गई है। वह अपनी मण्डली को अङ्गिरा की प्रतिष्ठा और सम्मान करने की ओर प्रेरित करता है अर्थात् वैदिक मन्त्रों के अङ्गिरा जो प्राचीन आर्य लोगों के पूर्वज थे और अन्य पिछले ब्राह्मण परिवारों की अपेक्षा जरदुश्त से पूर्ववर्ती पारसी धर्म से घनिष्ठ सम्बन्ध रखते थे। इन अङ्गिरावों का वर्णन अथर्वण अथवा अग्नि पुरोहितों के साथ प्रायः कई स्थलों पर किया

गया है और दोनो वैदिक साहित्य मे अथर्ववेद से सम्बद्ध हैं। यह वेद अथर्वाङ्गिरा अथवा अथर्वाङ्गिरावो का वेद कहलाता[1] है।"

डाक्टर हाग पुन कहते है "स्वय अपने ही पुस्तक मे जरदुश्त अपने को आहुर-मजदा का प्रेरित किया मथन अर्थात् मत्रद्रष्टा दूत कहते हैं"।[2]

इसके अतिरिक्त 'होमयश्त' मे सोम-यज्ञ करने वाले चार मनुष्यों की गणना की गई है जो जरदुश्त से पूर्व वैदिक कृत्य सोमेष्टि वा सोमयाग को किया करते थे। जरदुश्त के पिता पौरुपास्प[3] के नाम के अतिरिक्त शेष सब नामों के शब्द वैदिक साहित्य मे आते है।

"पहला पुरुष जिसने सोमयज्ञ रचा विवह्वन था। उसके एक यम लड़का पैदा हुआ जो तेजोयुक्त सुशील और परम प्रतापी था तथा जो मनुष्यो मे सूर्य को सबसे अधिक देख सकता था। दूसरा 'आथ्व्य' था जिससे थ्रैतान उत्पन्न हुआ और जिसने अजिदाहक सर्प को मार डाला। तीसरा थ्रित था, जिसके दो बेटे हुए। चौथा स्वय जरथुश्त का पिता पौरुपास्प था। होम जरदुश्त से कहता है—हे पवित्र जरदुश्त! तू उसके घर शैतान के विरुद्ध लडने के लिए उत्पन्न हुआ था। तेरा अहुर पर पूरा विश्वास है और तू आर्यान बीज अर्थात् आर्यदेश मे प्रसिद्ध है।[4] यहाँ पर देखने से ज्ञात है कि यहाँ पर कहा गया विवह्वत और उसका पुत्र यम—वैदिक साहित्य मे 'वैवस्वत यम" के रूप मे प्रसिद्ध है। इसे राजा कहा गया है। इसका नाम यमखशैत यमक्षत्र है। यही फरदौसी के शाहनामे मे जमशेद हो गया है। डाक्टर हाग का कहना[5] है कि यम, खशैत, जमशेद और यमराज एक ही नाम और पद है। यिम और यम एक ही है। 'खशैत्' क्षत्र का रूप है। फगर्द २।२ के अनुसार यम पहला नबी भी है। यह सबसे पहला मनुष्य कहा गया है। यह प्रथम मनुष्य है। यह धारणा भी वैदिक-साहित्य से ही ली गई है। आथ्व्य और थ्रैतान वैदिक

---

1 Haug's Essays, Page 294 (यद्यपि हाग के शब्दो मे ये अङ्गिरा वेद के कर्ता कहे गये हैं परन्तु हम इन्हे द्रष्टा ही मानते हैं। वेदकर्त्ता नही। वेद किसी ऋषि की कृति नही।

2 Haug's Essays, P 297

3 यह सस्कृत मे पुरु+अश्व=पुर्वश्व है।

4 होमयश्त।

5. Haug's Essays, P 278

साहित्य के आप्त्य और थ्रैतान से मिलते-जुलते हैं। थ्रित त्रित का सूचक है। आथ्व्य आप्त्य का सूचक है। आथ्व्य थ्रित का ही आप्त्य त्रित है।

इसके अतिरिक्त डाक्टर हाग ने एक और भी तथ्य का उद्घाटन किया है। वह कहते है कि "जन्दावस्था के साम परिवार का (जिसमे महावीर रुस्तम पैदा हुए) थ्रित सबसे पहिला हकीम है जो अहरिमन द्वारा पैदा किए रोगो की चिकित्सा करता है। यह विचार भी वेदो मे त्रित के सम्बन्ध मे पाया जाता है। अथर्ववेद ६।११३।१ मे कहा गया है कि वह मनुष्यो के रोगो को दूर करता है। · · · जन्दावस्ता मे उसके इस गुण का सकेत साम अर्थात् शान्तिदाता के नाम से किया गया है।[1]

यहाँ पर यह विशेष स्मरण रहे कि वेद मे आए वैवस्वत यम, त्रित आदि किन्ही व्यक्तियो के नाम नही है फिर भी इनके आधार पर ही जन्दावस्ता मे ये नाम रखे गए है—यह सर्वथा स्पष्ट है।

जन्दावस्ता मे अथर्ववेद की स्पष्ट और अचूक प्रतीक भी है। डाक्टर हाग ने भी उसे उद्धृत किया है। उस प्रतीक को पूरी गाथा के साथ यहाँ पर उद्धृत किया जाता है।

हओमो तेम् चित् केरेसानीम् अपक्षथ्रेम्
निषाधयत्, योरओस्ते क्षथ्रो काम्य या द्रत
नोइत मे अपाम् आथ्रव अइवि- तिश वरेथ्ये
दध्रद्व चरात् हो वीस्पे वरध नाम् जनात्
नी वीस्पे वरेधेनामज नात् ॥ हओमयश्त १/२४

इसकी सस्कृत छाया निम्न प्रकार है—

सोम तचित् य कृशानिम् अप क्षत्र निपादयत्
यो अरुद्ध क्षत्रकाम्यया यो धवत् इत मे अपाम्
अथर्वा अभीष्टि वृद्धये देशेष्वा चरात्
स विश्ववृद्धीना वनात् नि विश्ववृद्धीना हनात्

भावार्थ—होम ने किसानी को राजसिंहासन से उतार दिया, उसकी अधिकार-लिप्सा इतनी बढ गई कि उसने कहा कि मेरे साम्राज्य की समृद्धि के लिए अथर्व लोग (अग्नि-पुरोहित) अपाम् अविष्टिश (पानी के समीप) का जाप न करने

---

1 Haug's Essays, P 278

पावेंगे । वह सब समृद्धि-शालियों को नष्टभ्रष्ट करता तथा उनका नाश करके उन्हे पद दलित करता था।

डाक्टर हाग का कथन है कि वैदिक कृशानु ही यहाँ पर किरसानी मालूम पड़ता है। यद्यपि वेद मे कृशानु सोम का विरोधी नही है परन्तु यहाँ पर इसे विरोधी दिखलाया गया है। यहाँ पर 'अपाम् अविष्टिश' प्रतीक पद वस्तुत अथर्ववेदीय मन्त्र "शन्नोदेवी भिष्टये आपो भवन्तु पीतये" से लिया गया स्पष्ट प्रतीत होता है। अत यह स्पष्ट ही "अभीष्टये आप" की प्रतीक है। यह मन्त्र पैप्पलाद शाखा मे प्रारम्भ मन्त्र है। आंगिरसवेद अथर्ववेद है। अङ्गिरा का वर्णन और उसके ज्ञान का वर्णन जैसा पहले कहा गया है गाथा यश्त १८।१२ मे आया है। अत इस 'अभीष्टये आत' प्रतीक से यह बात सुतराम सिद्ध है कि अथर्ववेद की पैप्पलाद शाखा को लेकर यह पारसी धर्म चला। अथर्व-संहिता तो अत्यन्त प्राचीन ठहरती ही हैं। यहाँ पर यह भी समझना चाहिए कि पाश्चात्य और उनके अनुयायी प्राच्य विद्वान् अथर्ववेद को सबसे नवीन कहते हैं। जरथुश्त की गाथा पैप्पलाद शाखा को लेकर अपने रूप मे प्रचलित हुई। जब जन्द अवेस्ता इस शाखा से नवीन है तो अथर्व-संहिता की तो बात ही क्या। वह पैप्पलाद से भी अति प्राचीन—नही-नही—सृष्टि की आदि मे परमात्मा से मिला ज्ञान है। परन्तु जब अवेस्ता अथर्व से बाद की सिद्ध होती है तो अन्य वेद तो इससे बहुत पूर्व के इन पाश्चात्यो की मानी दृष्टि को लिया जावे तब भी ठहरेंगे। अस्तु ! यहाँ पर प्रस्तुत विषय स्पष्ट है कि अवेस्ता का संकलन पैप्पलाद शाखा के बाद उसके आधार को लेकर किया गया।

एक और प्रमाण— प्राध्यापक मैक्समुलर ने लिखा है कि "अब यह बात भौगोलिक साक्षी द्वारा भी सिद्ध हो सकती है कि फारिस मे बसने से पूर्व पारसी लोग भारतवर्ष मे रहते थे। जरदुश्त और उनके पूर्वजो का वैदिक काल मे भारतवर्ष से जाना उसी प्रकार स्पष्ट रूप से सिद्ध हो सकता है जिस प्रकार मसीलिया निवासियो का यूनान से जाना।"[1] इस प्रमाण से भारतीय आर्यों और ईरान लोगो के सम्बन्ध का मार्ग बहुत स्पष्ट है।

'नामे जरदुश्त" एक पुस्तक है। यह जरदुश्त की ही रचना है—ऐसा माना जाता है। भले ही यह जन्द-अवेस्ता से पिछली हो परन्तु जरदुश्त की रचना बताई

1. Chips from a German Worksnop Vol I P 235

जाती है। इस पुस्तक मे लिखा है कि व्यास जी फारिस को गए। वहाँ पर जरदुश्त से शास्त्रार्थ किया। ईश्वर जरदुश्त से कहता है "व्यास नामक एक बहुत बुद्धिमान् ब्राह्मण जिसके समान पृथिवी पर कोई न होगा, भारतवर्ष से आवेगा। यह तुझसे यह प्रश्न करना चाहेउा कि विश्व का रचयिता केवल ईश्वर क्यो नही ?" (६५-६६)

उससे कहना कि ईश्वर ने बिना किसी की सहायता के प्रथम मन वा बुद्धि उत्पन्न की और ईस बुद्धि द्वारा ही भौतिक ससार पैदा किया। (६७)

प्रथम उत्पन्न हुई बुद्धि की सहायता लेने के कारण परमेश्वर के विश्वकर्तृत्व पर किसी प्रकार का दोष नही आ सकता। (६८)

दूसरा प्रश्न होगा कि अग्नि आकाश के नीचे, वायु अग्नि के नीचे, जल वायु के नीचे, और पृथिवी जल के नीचे क्यो है ?। (७१)

इसके आगे व्यास के उपर्युक्त प्रश्न का वह उत्तर है जिसके देने के लिए परमेश्वर जरदुश्त को शिक्षा देता है। पाँचवाँ सामान अपनी व्याख्या मे लिखता है—"बलख मे व्यास जी और गुस्तास्प की भेट हुई। राजा ने समस्त बुद्धिमान् पुरुषो को निमन्त्रित किया। जरदुश्त भी अपने उपासना-मन्दिर से बाहर आये और व्यासजी न उनका मत स्वीकार किया।"

गुस्तास्प नाम इस राजा का बाद मे पड़ा होगा। वास्तविक नाम विश्तास्प है जो सस्कृत विष्टाश्व से लिया गया है। यूनानी पुस्तको मे वह हिस्टास्पीज (Hystaspes) के नाम स प्रसिद्ध है। श्री डा० एस० ए० खापडिया[1] एम० डी० एल० आर०, सी० पी० के अनुसार विश्तास्प वा गुस्तास्प का समय अब से लगभग ३५०० वर्ष पुराना है। यहाँ पर यद्यपि यह बात ठीक नही जँचती कि व्यास जी ने जरदुश्ती मत स्वीकार किया फिर भी यह वर्णन ऐतिहासिक दृष्टि से एक महत्व का है। इससे जहाँ भारतीय आर्यों और ईरानियो का सम्बन्ध सिद्ध होता है वहाँ यह भी सिद्ध होता है कि यह घटना लगभग महाभारत काल की होगी। महाभारत का समय [illegible]न से ३५०० वर्ष पूर्व का समय लगभग एक ही समय है। मन वा बुद्धि की कल्पना भी नासदीय-सूक्त (ऋग्वेद १०।१२९ सूक्त) मे आये 'मानसो रेत और साख्यो के महत्तत्व का स्मरण दिलाती है। व्यास-कृत योगसूत्रो के भाष्य और वेदान्त के भी यह अनुकूल ही ज्ञात होती है। व्यास और उनके शिष्य शाखावो के भी

1 Teaching of Zoroaster and the Philosophy of the Parsi Religion, Wisdom of the East series, Page 15-11

वक्ता एवं विभागवर्त्ता थे। अत यह सिद्ध है कि पारसी धर्म जहाँ पैप्पलाद शाखा के आधार पर अपना अस्तित्व रखता है वहाँ महाभारत काल के व्यास की भी उस पर छाप है। ऐसी स्थिति में वह बहुत ही अत्यन्त बाद का ठहरता है। उसका किसी प्रकार का वेद पर प्रभाव अथवा उसका वेद का समकालिक होना आदि सर्वथा ही असगत है। इस प्रकार भाषा-विज्ञान के आधार पर निर्धारित वेदकाल का वैदिक-एज प्रतिपादित सिद्धान्त स्वय गिर जाता है।

ईरानी लोग भी भारत से ही ईरान गये—यह कहना कि ईरानी और भारतीय आर्य एक स्थान से दो दिशावो मे फैले, कुछ भारत मे आकर बसे और कुछ ईरान से उधर दूसरी तरफ गये—आदि बातें सर्वथा ही निराधार हो जाती है जब यह सिद्ध कर दिया जावे कि ईराती लोग भी पहले भारत के ही निवासी थे और यहाँ से ही वे ईरान मे जाकर बसे। पूर्व यह लिखा जा चुका है कि सृष्टि त्रिविष्टप मे हुई और वहाँ से बाद मे लोग भारत आये। भारत से ही ईरानियो के पूर्वज ईरान गए। आर्य किसी बाहर देश से भारत नही आये वल्कि भारत से ही अन्य देशो मे फैले। मानव त्रिविष्टप (तिब्बत) में उत्पन्न हुआ इस बात को बतलाते समय यह भी दर्शाया जा चुका है कि मानसरोवर के उत्तर मे यमपुर नाम की नगरी थी। यहाँ पर वैवस्वत यम राज्य किया करता था। यह ऋग्वेद और अथर्ववेद के कुछ मत्रो का द्रष्टा है। यह आयुर्वेद के कुछ विषयो का विशेषज्ञ था। इस वैवस्वत यम को पारसी धर्म के लोग विवह्वतयिम कहकर वर्णन करते हैं और इसे स्वर्ग का राजा बताते है। वस्तुत यही ईरान का राजा था और इसी से ईरानी लोगो की जाति का विस्तार हुआ। यहाँ इस प्रकरण मे इस विषय पर कुछ विशेष प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जाता है।

अवेस्ता की प्रथम पुस्तक वेन्दिदाद के प्रथम फर्गर्द मे जिन देशो की गणना की गई है उनमे १५वें का नाम 'हफ्ताहिंदु''–सप्तसिन्धु है। इस सप्तसिधु का वर्णन करने से यह स्पष्ट है कि अपने पुराने स्थान की यहाँ पर वे ईरानी आर्य स्मरण कर रहे है। यह स्मृति भी इस बात का प्रमाण है कि वे भारत मे ही अन्यत्र को गए थे।

श्री बा० सम्पूर्णानन्द जी ने अपनी पुस्तक "आर्यों का आदि देश" मे लिखा है कि "कुछ लोगो का ऐसा ख्याल है कि इस फर्गर्द मे उन देशो का उल्लेख है जिनमे

ईरानी आर्यों ने अपने आदिम स्थान से चलकर यात्रा की। यह बात ठीक नहीं जँचती। यदि यह मान लिया जाय कि ऐय्यर्न बेइजो उनका मूलस्थान था तो रघ (ईराक) उनका अन्तिम स्थान हुआ। पर उनका अन्तिम घर तो ईरान था, उसका जिक्र ही नही है। आदि मे ऐय्यर्न बेइजो और अन्त मे रघ देने का एक कारण तह प्रतीत होता है कि उन लोगो की एक कथा है कि स्वर्ग से दो नदियाँ, वगुही और रघ निकली है, जिन्होने सारी पृथिवी का वेष्ठन कर लिया था। इसलिए इस सूची मे वगुही के किनारे के एक नगर से आरंभ किया और रघ के किनारे आकर समाप्त किया। फिर इन देशो मे कोई क्रम नही है ' ' यह विचित्र ढग से मारे-मारे फिरना हुआ। इन देशो को छोडने के कारण भी असाधारण है। जहाँ अँग्रमैन्यु ने गर्मी या सर्दी या कोई दुःखदायी जीव-जन्तु उत्पन्न कहे दिया वहाँ से चले जाना तो समझ मे आता है परन्तु अभिमान या मुर्दों का गाढा जाना कैसे देश-त्याग का कारण हुआ, यह ठीक-ठीक समझ मे नही आता। अस्तु। इस फर्गद से आर्यों के निवास के सम्बन्ध मे विद्वानो को कुछ सकेत मिलता है।[1]

यहाँ पर श्री बाबू जी की सम्मति बहुत ही स्पष्ट है। इससे यह सिद्ध है कि आर्यों का मूलस्थान ईरान इसमे वर्णित नही। साथ ही यह भी सिद्ध है कि इस फर्गद मे दिए गए विवरण से विदेश से आर्यों का इस देश मे आना भी नही सिद्ध होता है। जो कारण देश छोडने के बताये जा रहे है वे भी ठीक नही है। परन्तु यह तो सिद्ध हो ही जाता है कि श्री बाबू सपूर्णानन्द जी के अनुसार आर्य बाहर से भारत मे नही आए। हप्तहिन्दु=सप्तसिन्धु की स्मृति उसमे प्रमाण है।

भारतीय वाङ्मय मे अदिति और दिति का वर्णन पाया जाता है। यह प्रसिद्ध है कि अदिति से आदित्य लोग और दिति से दैत्य लोग उत्पन्न हुये। वेद मे आए अदिति पद को किसी का नाम नही कहा जा सकता है। वह सामान्य शब्द है। वेद के शब्दो से इतिहास निकालना वैदिक प्रक्रिया से सुतराम् अनभिज्ञता प्रकट करना है। इसी प्रकार 'दनु' पद भी प्रसिद्ध है। वृत्र को शतप-ब्राह्मण १।६।३।९ मे दानव कहा गया है[2]। वृत्र का अपि और दानव भी नाम है। यह मेघ का वाचक है। साथ ही इसे असुर भी कहा जाता है। वृत्र नाम पर शतपथ-ब्राह्मण १।६।३।९ भाग

1. आर्यों का आदिदेश। पृष्ठ ५३
2. अथ (वृत्र) यदपात्समभवत्तस्मादहिस्तं दनुश्च दनायुश्च मातेव च पितेव च परिजगृहतुस्तस्माद्दानव इत्याहु। श० १।६।३।९

कहता है कि वर्तमान होता हुआ उत्पन्न हुआ अत वह वृत्र है। बिना पाद के उत्पन्न हुआ अत वह 'अहि' है और उसको 'दनु' ने माता के रूप मे और 'दनायू' ने पिता के रूप मे पुत्र मान कर ग्रहण किया अत वह 'दानव' है। यह वृत्र त्वष्टा का पुत्र है अत 'त्वाष्ट्र' भी कहलाता है। त्वष्टा नाम सूर्य का है। इससे ज्ञात है कि वृत्र जहाँ अहि, दानव आदि होने से असुर की कोटि मे है वहाँ त्वष्टा का पुत्र होने से देव-कोटि मे भी है। अत यह ठीक है कि इस आलकारिक वर्णन के आधार पर देव और असुरो का मूल भी एक ही बन जाता है। प्रजापति की सन्ताने ही देव हैं और उसी के सन्ताने असुर भी है। देव और असुर हैं एक स्रोत से परन्तु कर्मो और गुणों के अनुसार देव और असुर भेद बन गया। देव भी जब आसुर वृत्त पर चलने लगता है तब असुर ही बन जाता है यह भेद भाषा के आसुरीकरण का भी होता है। व्यवहार और उपासना का भी होता है। देवभाषा के आसुरीकरण और व्यवहार एव उपासना के आसुरी कर देने से देव-असुर और आर्य-म्लेच्छ आदि भेद बन जाते हैं। त्वष्टा पद और उसके व्यवहारो के आधार पर देवो से अथवा आर्यों से पृथक् हुए लोगो ने अपना व्यवहार आदि बनाया। पहले आर्यो के आदिस्थान त्रिविष्टप का वर्णन करते हुए यह दिखाया जा चुका है कि धर्म का लोप होने से आर्यों से ही दूसरी जातियाँ बन गई। इसी आधार पर ईरानी लोगो की भी स्थिति हुई। आर्य धर्म इन्द्र को महत्व देता है। इन्द्र त्वाष्ट्र का विरोधी है। अत इस अलकार को लेकर इन्होने अपनी पृथक् जाति बनानी आरम्भ की। परन्तु अपने को आर्य कहना नही छोडा। ये ईरान से अन्य दिशावो मे भी फैले और अपने को आर्य ही कहते रहे। "ऐर्य्यन वइज" पद भी "आर्याणा व्रज" का अपभ्र श ज्ञात होता है। अस्तु—जहाँ तक वेद मे वृत्र आदि नामो का सम्बन्ध है वहाँ तक तो यह निश्चित है कि ये व्यक्ति-वाचक नाम नही। परन्तु शाखा और ब्राह्मण-ग्रथो मे मानव के दो विभाग के रूप में भी ये पाये जाते है। इनका इतिहास के रूप मे वर्णन भी पाया जाता है। जरथुष्ट्र नाम 'जरत्-वाष्टर' का विकृत रूप ज्ञात होता है। यवन नाम दायोनीसियस (Dionysius) दानवासुर वा दानवेश का विकृत रूप है। कवि उशना दानवो से सम्बन्ध रखते थे। पारसी लोगों के धर्मग्रथ अवेस्ता मे कवि-उषा शब्द देखा जाता है। फिरदौसी के शाहनामे मे यह कैकऊस बन गया[1] है। अफरासियाब जो अवेस्ता मे फ्रान-ह्रासयान (Fran-hrasyan) हो गया है, यह वस्तुत वृषपर्वा का रूपान्तर है।

1 आ० प० भगवद्दत्तकृत भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, पृ० २२६

गौतम धर्मसूत्र ६।१७ पर मस्करीभाष्य के टीकाकार ने लिखा है कि पारसीक आदि म्लेच्छ[1] है। पह्लवीभाषा का भी सस्कृत से पर्याप्त सान्निकट्य रहा है। आर्यों से ही ये लोग गए और इनकी भाषायें भी सस्कृत भाषा से ही म्लेच्छित होकर गई। चरक चिकित्सास्थान ३०।१३६ मे बाह्लीक, पह्लव, चीन, सुलोक, यवन और शक लोगों का वर्णन[2] है। सुलोक लोग ही सीरिया मे बसे थे। अहिदानव ही पारसियो की जबान यश्त मे अजिदहाक मालूम पडता है। इसी प्रकार विश्वरूप जो वृत्र का भाई और त्वष्टा का ज्येष्ठ पुत्र है वह पारसी ग्रन्थो मे विवरप्प के रूप मे मिलता है। विश्वरूप के पिता त्वष्टा के तीन भ्राता थे। वे थे वरुत्री, शण्ड और मर्क। काठक शाखा २७।२२ मे त्वष्टावरूत्री को असुरो का ब्रह्मा कहा गया है। यह समस्त पद है। पारसी वाङ्मय मे यह विकृत रूप मे 'खरुत्वतास्प' के प्रकार मे पाया जाता है। काठक शाखा २७।२२[3] मे लिखा है कि बृहस्पति देवो का पुरोहित था और शण्ड और मर्क असुरो के। शण्ड और मर्क के असुर पुरोहित होने का वर्णन मैत्रायणी शाखा ४।६।३ मे भी पाया जाता है। पारसी धर्म की पुस्तक अवेस्ता मे इन शण्ड और मक का वर्णन है। ऋग्वेद १।३३।१२ मे 'इलीबिश' पद मिलता है। यह मेघ का अर्थ देता है क्योंकि इला=जल के बिल मे शयन करने वाला है। यह इस प्रकार मेघ होने मे असुर भी है। इसी आधार पर यहूदी और अरबी ग्रन्थो मे यह इब्लीस (शैतान) बन गया है। इन ऊपर के प्रमाणो के आधार पर प्रकारान्तर से भी यह सिद्ध है कि पारसी धर्म की पुस्तक अवेस्ता आदि मे जो ये वर्णन मिलते है—ये भी वैदिक धर्म से ही गये और आसुर-वश-वृक्ष का ही फैलाव ईरान आदि मे हुआ। किसी भी अवस्था मे ये आर्यों वा वेदो से पूर्व के नही ठहरते और न समकालिक वा इनसे पृथक् भिन्न जाति वा भिन्न धर्ममूल वाले ही ठहरते है। आर्यों से पृथक् हुई आसुर शाखा से ही इनका उद्गम सिद्ध होता है।

देव और असुर पूजा—देव और असुर पूजा का भेद खडा करके भी अनेक कल्पनाये वैदिक एज आदि के लेखको ने जो कर रखी हैं वे भी उटपटाँग है। प्राकृतिक देवो की उपासना का वेद मे कही पर भी विधान नही है। वैदिक देवता क्या हैं—

---

1 म्लेच्छा पारसीकाद्य । गौतम धर्मसूत्र मस्करीभाष्य ६।१७

2 बाह्लीका पह्लवाश्चीना सुलोका यवना शका । चरक चिकि० ३०।१३६

3. बृहस्पतिर्देवाना षण्डा मर्का असुराणाम् ॥ काठक २७।२२

इस प्रक्रिया को जो नहीं समझता है वही ऐसी उल्टी बातें कर सकता है। वेद में एक परमात्मा की ही उपासना का वर्णन है अन्य प्राकृतिक देवों की उपासना का नहीं। इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य, सुपर्ण और गरुत्मान् आदि एक ही परमेश्वर के नाम[1] हैं। देव-पूजक आर्यों से पूर्व भी ईरान मे असुर पूजक लोग मौजूद थे—यह कल्पना भी कल्पनान्तर की भित्ति पर आधारित है। इसकी सिद्धि के लिए कोई प्रमाण नही है। भाषा-विज्ञान का सहारा गलत है—यह पूर्व ही सिद्ध किया जा चुका है। जब भाषा-विज्ञान की भित्ति ही नही ठहर पाती तो फिर उसके आधार पर की गई अन्य कल्पनायें किस प्रकार ठहर सकती हैं। असुर-पूजक जाति देव-पूजकों से पूर्व रही हो—यह ठीक नही। देव जिस प्रकार देव-गुणो के न्यून वा क्षीण हो जाने पर असुर हो जाते हैं वैसे ही देव पूजक ही बुद्धि-दोष और मिथ्याविश्वासों से असुर-पूजक भी हो सकते हैं। यह भेद कोई ऐसा प्राकृतिक भेद नही कि जिसको लाँघा न जा सके। पहले दिखलाया जा चुका है कि अवेस्ता में भी वे ही देवता वर्णित है जो वैदिक हैं। परन्तु वास्तविक आधार से कुछ यदि कही पर उल्टा वा विपरीत हो गया तो वह बुद्धि-दोष आदि कारणो से हुआ। भारत मे आर्यों से पूर्व आदिवासी और द्राविडो का अस्तित्व दिखलाना और इसी प्रकार ईरान आदि में आसुरी सभ्यता को आर्यों से पूर्व दिखाना कोई अर्थ नही रखता है। इसका खण्डन पूर्व किया जा चुका है। पृथिवी पर आर्यों से पूर्व कोई मानव-जाति थी ही नही।

ऋत का वर्णन भी वेद मे विकास-क्रम मे नही आया। देव और परमदेव के साथ ही ऋत का भी वर्णन है। जिन्हे देव कहा जाता है। इनमे बहुत से भौतिक पदार्थ है जो सृष्टि के अन्तराल मे कार्य कर रहे है। जिस नियम पर ये कार्य कर रहे है वह ऋत (Laws eternal) है जो सृष्टि मे विद्यमान है। ऋग्वेद १०।१९०।१ मत्र मे ऋत के इस वास्तविक रूप का वर्णन है। ऋत का रक्षक होने से परमेश्वर को वेदो मे 'ऋतस्य गोपा'[2] (Upholder of laws eternal) कहा गया है। इन्द्र को असुर कहा जाना असुर पूजको और देव, पूजको की सधि का परिणाम बताना वेद के आन्तरिक मर्म के समझने से अपनी अनभिज्ञता का प्रकटीकरण करना है। माया जादू नही है जो इन्द्र के साथ जुडी है। वेद मे माया प्रज्ञा वा बुद्धि के अर्थ मे है।

1 देखें ऋग्वेद १।१६४।४६

2 ऋग्वेद ६।७३।८

पाँच सहस्र वर्ष पूर्व विद्यमान महर्षि यास्क माया को प्रज्ञा नाम मे (निघण्टु ३।९) बतलाते है। उनके अनुसार वेद मे माया का अर्थ प्रज्ञा है। परन्तु आप वेद को तीन सहस्र वर्ष पुराना मानकर माया का अर्थ जादू कर रहे है। यह कितनी विचित्र वंचिती है। इस इन्द्र के साथ ही माया का वर्णन वेद मे नही है। ऋग्वेद (१।४४।१) मे अग्नि के साथ माया का वर्णन है, (१।१६०।३) मे वन्हि के साथ माया का वर्णन है। ऋग्वेद ५।६३।३ मे मित्रावरुण के साथ माया का सम्बन्ध, ।८।४१। मे वरुण के साथ माया का उल्लेख है। ऋग्वेद ६।७३।५ मे साम, ८।८५।१८ मे सोम और अक, के साथ भी माया का सबन्ध माना गया है। क्या यह मत भी सन्धि के फलस्वरूप है ? अत ऐसी अनर्गल बातो का अनुमान निकालना ठीक नही। माया के अर्थ को समझने के लिए ऋग्वेद ६।७३।६ स्थल को भी देखना चाहिए। वहाँ पर लिखा है कि 'सृष्टि[1] के शाश्वत नियम (ऋतका) का सूत्र ससार मे फैला हुआ है और वह वरुण=वरणीय परमेश्वर की माया से=प्रज्ञा चातुरी से लोगो की जिह्वा के अग्रभाग मे रख दिया गया है कि वाणी उसी ऋत के आधार पर ही बोले"। यह माया जादू का अर्थ देने वाली यहाँ पर नहीं है। साथ ही यहाँ पर इसका सम्बन्ध वरुण के साथ दिखलाया जा रहा है। अत वेद के शब्दो को वेद के ढग पर ही समझने का प्रयत्न करना चाहिए। उनसे उल्टे अटकलपच्चू अनुमान लगाने की चेष्टा करना ठीक नही।

असुर शब्द का अर्थ—इस पद को लेकर ही विविध कल्पनायें की गई हैं। अत यहा पर इसका अर्थ दिखा देना समुचित प्रतीत होता है। निरुक्त वेदाग के कर्त्ता यास्क का समय आज से पाँच सहस्र वर्ष पूर्व का है। उस समय तक वेद के असुर शब्द की व्याख्या किस प्रकार होती आई है उसका भी उल्लेख यहाँ पर किया जाता है। यास्क ने निरुक्त ३।७ पर असुर पद को "स्थानो मे असुरत", उत्तम स्थानो से प्रक्षिप्त, असु=प्राणवाले, असुष्टु भाव वाले, अर्थों मे दिखलाया है। इससे यह प्रकट है कि असुर पद अ+सु+रम धातु से, असु क्षेपणार्थक धातु से, असु=प्राण+मतुप् और अ+सु=दुष्ट भाव आदि प्रकार से बनता है। इस प्रकार क्रमश अर्थ भी चपल, स्थान से च्युत, प्राणवाला, और असुष्टु स्वभाव वाला मनुष्य होगा। निरुक्त १०।३४ पर पुन यास्क असुर का प्रज्ञावान्, प्राणवान्, और वसुवान् अर्थ

---

1 ऋतस्य तन्तुर्विततः पवित्र आ जिह्वाया अग्रे वरुणस्य मायया। ६।७३।६'

करते है। यह अर्थ—असु=प्रज्ञा+र, असु+प्राण+र, और वसु के वकार का लोप करके असु=धन+र— प्रकारों मे बनता है। असु का प्राण अर्थ प्रसिद्ध है। 'असु' पद निघण्टु ३।९ मे प्रज्ञा अर्थ में पठित है। इसी प्रकार असुर पद निघण्टु १।१० में मेघ नाम मे पठित है। इसके अतिरिक्त न सुरा अस्यास्तीति असुर अर्थात् बिना सुरावाला भी असुर है। इस प्रकार वैदिक साहित्य में असुर पद उत्तम और उससे भिन्न दोनो अर्थों मे प्रयुक्त है। उसके धात्वर्थ ही इन दोनो प्रकार के प्रयोगो पर प्रकाश डालते है। जब असु के प्राण प्रज्ञा आदि अनेक अर्थ हैं तो उनसे युक्त मे प्रवृत्त असुर पद भी उन्ही के अनुरूप उनसे युक्त अर्थों वाला होगा। अस क्षेपणे धातु और अ+सु तथा नञ् समास पूर्वक अ+सु+रम् धातु, तथा अ+सुरा—आदि प्रकारो से सुसम्पन्न करने पर तदनुरूप अन्य अर्थों वाला होगा। इस प्रकार असुर पद के वेद मे भिन्न-भिन्न अर्थ मूलतया शब्द के स्वरूप से ही हैं। वह देवार्थक और अदेवार्थक दोनो ही प्रकार का है। इसका इस प्रकार के अर्थ वाला होना किसी प्रकार की दो जातियो की सधि के कारण अथवा परस्पर की सौदेबाजी से नही हुआ है। 'वत्र' पद का वेद मे मेघ और धन दोनो ही अर्थ है। अक्षर का व्यापक परमेश्वर, अविनाशी भगवान्, और जल तीनो ही अर्थ है। जब व्यापक अर्थ होगा तब यह 'अश्' व्याप्त्यर्थक धातु से सपन्न, जब अविनाशी अर्थ होगा तब नञ्+क्षर धातु से सपन्न, और जब जल अर्थ होगा तब 'अश्' भक्षणार्थक धातु से सम्पन्न होगा। इसी प्रकार इन्द्र शब्द के वेद मे अनेकार्थ है और यह शब्द लगभग १३ प्रकार से निष्पन्न होता है। परन्तु इससे यह अनुमान लगा लिया जावे कि यह अर्थ किसी सन्धि, सुलह वा सौदेबाजी अथवा बाहर मे लाने से हुये हैं—नितराम् दोषपूर्ण है। यह वस्तुत वेदवाणी के प्रति उस व्यक्ति की कोरी अनभिज्ञता का प्रकटीकरण करता है जो इस प्रकार का अनुमान लगाता है।

असुर पद वेदो मे अनेको देवो के साथ लगा हुआ है। केवल इन्द्र के साथ ही यह लगा हो—ऐसा कहना ठीक नहीं। ऋग्वेद १।२४।१४, १।१७४।१, २।२७।१०, २।२८।७, ४।२।५, ८।९०।६, १०।९९।१२ और १०।१३२।४ मे क्रमश वरुण, इन्द्र, वरुण, वरुण, अग्नि, इन्द्र, हरि, इन्द्र, वरुण, के साथ सबोधनान्त लगा हुआ है।' इसी प्रकार ऋग्वेद १।३५।७, १।३५।१०, १।५४।३, ५।१५।१, ५।२७।१, ५।५१।११, ५।८३।६, ७।३०।३, ७।५६।२४, ८।४२।१, ९।७३।१, ९।७४।७, १०।१२।६, १०।७४।२, मे क्रमश सविता, सविता, इन्द्र, अग्नि, अग्नि, मेघ, पूषा, मेघ, मरुत्, वरुण,

पवमान, सोम, अग्नि और इन्द्र को असुर कहा गया है। ऋग्वेद १।१३१।१ में कहा गया है कि इन्द्र के लिए द्युलोक को असुर ने बनाया, २।१।६ मे कहा गया है कि वह अग्नि ही रुद्र और असुर तथा द्युलोक का तेज है। ऋग्वेद ३।३।४ मे वैश्वानर अग्नि को असुर कहा गया है। ऋग्वेद ३-५५।१-२२ मन्त्रो के देवता विश्वेदेव हैं। इन सभी के कार्यों को बताते हुए इनका एक मात्र असुरत्व प्रकट किया गया है। ऋग्वेद १०।५५।४ मे इन्द्र के असुरत्व का वर्णन है। यह असुरत्व क्या है?—प्रज्ञा-वत्व—ऐसा यास्क का विचार है। अर्थात् इन देवो के जो महान् कार्य है वे ही इनके असुरत्व—प्रज्ञावत्व कहे गए है। ऋग्वेद १०।९९।२ मे असुरत्व का अर्थ बल है। ऋग्वेद १०।५४।४ मे (चत्वारि ते असुर्याणी नामादाभ्यानि महिषस्य सन्ति) इन्द्र के चार असुर्य=असुरसबधी नाम कहे गये है। उन चारो नामो=कर्मो का वर्णन १०।५५। १-५ मन्त्रो में पाया जाता है। प्रथम कर्म मेघ के जलो को जमाकर पृथिवी और द्युलोक का उत्तम्भन। दूसरा भूत, भव्य का उत्पन्न करना और जल का प्रकट करना और पचतत्वो का विभाग करना है। तीसरा आसुर कर्म द्यावा-पृथिवी का तेज से पूरा करना, ऋतुवो के अनुसार पच देवो, ४९ मरुतो का चलाना, तथा ३४ देवो के सरूप, ज्योति और विविध कर्म से होने वाले व्यवहारो का जानना। चौथा असुरकर्म सूर्य के व्यवहार का चलाना और उषा का प्रकाश करना। इनमे कोई भी ऐसी वस्तु नही मिलती जिससे असुर अथ की विपरीत कल्पना की जावे। यहाँ पर तो सृष्टि के सचालन-सम्बन्धी कार्य को ही इन्द्र का आसुर कर्म कहा गया है। फिर इन्द्र को असुर कहने से इन्द्र का देवत्-वविपरीत कोई कार्य देखा नही जाता है। ऋग्वेद ५।४२।११ मे रुद्र को असुर कहा गया है। इस प्रकार के विवेचन से यह परिणाम सहजतया निकल आता है कि असुर और देव के विचार को लेकर जो वेद के काल का निर्णय किया जाता है, सुतराम् अनुचित और व्यर्थ है। असुरपद के वेद मे विभिन्न अर्थ है और उन्ही के अनुसार उनका प्रयोग विविधार्थों मे पाया जाता हे। इसके आधार पर किसी ऐतिहासिक अटकलबाज़ी को खडा करना सनुचित और प्रशस्त नही। जब सर्भ देव असुर है तो फिर इन्द्र को असुर कहना ईरानी लोगो और आर्यों की सन्धि के कारण प्रारम्भ हुआ कोई अर्थ नही रखता। यह कोरी कल्पना का प्रासाद खडा किया गया है जो तर्क के बल को नही सहन कर सकता है।

रसा, सरस्वती और वाह्लीक—रसा, सरस्वती, और वाह्लीक शब्दो को आर्य लोग ईरान से लाये और दो नदियो तथा एक प्रान्त के नाम के रूप मे प्रयुक्त

किया—यह कथन भी बे-शिर-पैर का है। 'रस' पद जल के अर्थ मे वेद में प्रयुक्त है। इसीलिए निघण्टु १।१२ मे वह उदक नाम मे पठित है। निघण्टु २।७ में अन्न अर्थ मे भी इसका पाठ है। शत-पथ ३।३।३।१८ मे (रसो वाऽऽप) रस का अर्थ जल है—ऐसा स्वीकार किया गया है। जब रस शब्द जो पुलिग है वह वेद का ही है तो उसका स्त्रीलिंग रूप 'रसा' पद ईरान से लाने की आवश्यकता ही क्या पड़ी। क्या 'रस' का ज्ञान रखने वाले 'रसा' पद को नही निष्पन्न कर सकते थे। 'रसा' पद नदी-सामान्य का वाचक है -किसी नदी विशेष के नाम (Proper name) का वाचक नही। निरुक्त ११।२२ पर यास्क कहते है कि रसा नदी है। शब्द करती हुई बहती है अत यह रसा है। रस शब्दार्थक धातु से इसकी निष्पन्नता है। यह कोई नाम नहीं बल्कि नदी का समानार्थक शब्द है। ऋग्वेद १०।१०८।१ मे रसा का यही अर्थ है। इसी प्रकार ऋग्वेद ५।५३।९ मे रसा का पृथिवी अर्थ है। ऋग्वेद १०।७५।६ ने जो नदियों के प्रकार-वर्णन मे 'रसा' पद आया है वह किसी विशेष नदी का वाचक नही अन्यथा १०।१०८।१ मे सरमा के वणन मे 'रसा' नदी सामान्य अर्थ मे क्यों माना जाता। १०।७५ सूक्त म तो नदियो का पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक मे होना वर्णित है। यदि 'रसा' नाम ईरान से लेकर किसी नदी का यहाँ रखा गया होता तो फिर पृथिवी पर रहता। शेष लोको मे भी रसा कहाँ से पहुँच जाती। अत यह निश्चित है कि 'रसा' पद वद का है और किसी नदी-विशेष का नाम नही। वह नदी-सामान्य अर्थ का देने वाला है और ईरान से नही आया है।

सरस्वती शब्द के विषय मे भी यहाँ पर विचार किया जाता है। 'सर' पद वेद मे वाणी (निघण्टु १।११) के अर्थ मे आया है। यह वेद मे जल अर्थ मे भी प्रयुक्त है (घिण्टु १।१२)। इसी प्रकार सरस्वती का अर्थ वाणी वा माध्यामिका वाक् भी है और सरस्वती का अर्थ नदी-सामान्य भी है। यह दोनो प्रकार का प्रयोग वेदो मे पाया जाता है। शतपथ का समय पाश्चात्य ढग और पौरस्त्य ढग से निकालने पर जैसा पूर्व प्रकरणो मे दिखलाया जा चुका है बहुत प्राचीन हैं। उसमें भी सरस्वती वाणी और नदी दोनो अर्थों मे है। ऐसी स्थिति मे यह कहना कि सरस्वती शब्द ईरान से लाकर नदी नाम रख दिया गया है—व्यय का तुक मारने के अतिरिक्त और कुछ नही। वेद से सरस्वती और रसा आदि पद ईरान आदि की भाषाओं मे गये—यह तो हो सकता है। ईरान से यह यहा लाकर प्रयुक्त किये गये नितरा प्रमाणशून्य है।

बह्लीक पद अथर्व ५।२२।५,७,९ मन्त्रो मे आया है। यहाँ पर ज्वर के स्थानो का वर्णन है। महावृषा=अधिक वर्षा वाले और मूजवान् घास फूस वाले प्रदेशो में ज्वर उत्पन्न होता है। बह्लीक भी इसी प्रकार के स्थानो का नाम है। यह कोई स्थान-विशेष नही—बल्कि स्थान-सामान्य है। यह व्यक्तिवाचक (Proper noun) नही है। 'बल्ह' धातु का अर्थ हिंसा, परिभाषण और आच्छादन है। इसी से 'बह्लीक' पद बना है। इसका अर्थ वह सामान्य स्थान है जहा पर धूप न मिलती हो अथवा बहुत से हिंसक कृमि, कीट, मशक, दश आदि रहते हो। ऐसे प्रदेशों मे ज्वर का होना स्वाभाविक है। यह कोई ऐसा प्रदेश वेद के अनुसार नही जो स्थानवाची व्यक्तिगत नाम हो। यह तो ऐसे सभी स्थानो के लिए प्रयुक्त होता है। इसको किसी स्थान-विशेष का नाम बताना सर्वथा ही अनुचित और अनभिज्ञतापूर्ण है। किसी स्थान का नाम रखने मे यह शब्द वेद से लिया गया है न कि ईरान से लाकर रखा गया है। केवल कल्पना से कोई कार्य नही चल सकता है। उसके लिए प्रमाण की भी आवश्यकता है।

विदेशी भाषा के शब्द—श्री प्राणनाथ जी विद्यालकार का विचार है कि वेदों मे कई ऐसे पद हैं जिनका कुछ ठीक अर्थ नही लगता। बहुत से अन्य विद्वानो के भी ऐसे विचार है। इसका निराकरण यहाँ पर किया जाता है। इन लोगो के अनुसार ये पद ईराक की प्रसिद्ध नदियो और पहाडो के है। 'जर्भरी,' 'तुर्फरी' को उदाहरण के रूप मे प्रस्तुत किया जाता है। परन्तु इनका यह कथन सर्वथा ही त्रुटिपूर्ण है कि इन शब्दो का अर्थ नही लगता। निरुक्त मे कौत्स के नाम से ऐसा पूर्वपक्ष उठाकर यही बात कहलाई गई है। परन्तु यास्क ने उत्तर मे बतलाया कि सबका अर्थ है और स्पष्ट अर्थ है। जैमिनि ने मीमासा मे भी पूर्वपक्ष उठा कर इसका समाधान किया है। परन्तु इन समाधानो के होते हुये भी अपनी रट लगाते रहना कुछ अर्थ नही रखता है। यास्क ने निरुक्त परिशिष्ट १३ अध्याय तीसरे खण्ड मे इन शब्दो का अर्थ दे दिया है। जर्भरी का अर्थ पालक और तुर्फरी का अर्थ हिंसक किया है। ये द्विवचन हैं और 'अश्विनौ' के विशेषण हैं। नदी और पहाडो के नाम नही। जर्भरी भृञ्-भरणे का यङ्लुङन्त प्रयोग है और तुर्फरी तृफ हिंसायाम् का वैसा ही प्रयोग है। ये दोनो कृदन्त प्रयोग है। ऋग्वेद १०।१०६।६ मे ये पद आये हैं और इन्ही के साथ जेमना, मदेरू, नैतोशौ और पर्फरी–पद भी विद्यमान है। इन्हे भी किसी देश के नदी पहाडो से टकरा देना चाहिए था। क्या सारा भूगोल

बर्बरी और तुर्करी तक ही समाप्त हो गया। 'पर्फरी' के लिए तो मस्तिष्क लगाया था। ऐसी व्यर्थ की कल्पनायें कब तक चलती रहेंगी ?

वैदिक एज के कर्त्ता तथा कई अन्य इतिहासज्ञ कहते हैं कि वेद मे चाल्डियन भाषा के शब्द हैं। यहाँ पर विचार किया जाता है और एक तालिका प्रथम ही दे दी जाती है —

संस्कृत		चाल्डियन		अर्थ
सिनीवालि	—	सिनवुब्बुल	—	अमावस्या
अप्सु	—	अब्जु (जु अब)	—	पानी
यह्व	—	यह्वे	—	महान्
ऋतु	—	इतु	—	मौसम
परसु	—	पिलक्कु, बलगु	—	शस्त्र
अलिगी विलगी	—	विलगी	—	सर्पदेव
तैमात	—	तिआमत	—	देवता
उरुगुला	—	उरुगुल	—	देवता
ताबुव	—	तपु	—	सर्प

इन शब्दो के अर्थों मे थोडा अन्तर कई मे है। साथ ही शब्द यह स्पष्ट बतला रहे है कि वेद से चाल्डियन भाषा मे गए होगे। चाल्डियन भाषा से वेद मे आए हो यह अनुमान सर्वथा ही गलत है। इन शब्दो की संस्कृत मे धातुवे (Roots) हैं परन्तु यह भी बतलाना चाहिए कि चाल्डियन मे इनके मूल क्या है ? आलिगी, विलगी आदि का पहले भी भाषा-विज्ञान के प्रकरण मे समाधान कर दिया है। बाइबिल मे एक तथ्य की तरफ सकेत किया गया है जिससे इस पक्ष का समाधान स्वय हो जाता है। लिखा है कि पश्चिम मे आने वालो की एक ही भाषा थी और वे सब पूर्व ही मे आए है[1]। इस प्रकार यह प्रकट है कि ये शब्द वेदो से ही उन देशो मे गए। उन देशो से वेद मे नही आए।

वेदो मे इराक वासियो का इतिहास है—यह भी कथन ऊटपटॉग ही है। वेद मे किसी व्यक्ति का इतिहास है ही नही[2]। कुछ दिन पूर्व श्री प्राणनाथ जी विद्यालकार वेदो को सुमेरियन डाकूमेण्ट (प्रमाणपत्र) कहते थे। परन्तु यह ज्ञात हो कि तथ्य उसके विपरीत है। सुमरु के लोगो पर भारत के राजावो का राज्य

1 And the whole was of one language, and of one speech And it came to pass as they journeyed from the East—Genesis, chapter XI

2 देखे मेरी पुस्तक — वैदिक-इतिहास-विमर्श

था। वेद मे तो राजावों का वर्णन आ ही नही सकता । हाँ ! इन राजावो के वहाँ पर राज्य करते हुए वहाँ के साहित्य पर इनकी छाप का होना ठीक है। सुमेरु देश के मृत्तिका की मुद्रावो पर लिखे अनेक राजावो के नाम मिले हैं । इनमे कुछ एक यहाँ पर दिखाए जाते हैं —

Issaku	—	इक्ष्वाकु
Shar— ıtiash—		शर्यात्
Shur—Sın	—	शूरसेन
Shar-ar—gun—		सहस्राजु न
Shar—gar	—	सगर
Purash—Sın	—	पुरुषसेन, परशुसेन
Man	—	मनु

इन नामो का कितना बिगडा रूप सुमेरियन मे ऊपर देखा जा रहा है। अत: सस्कृत भाषा के शब्द जो भारतीय राजावो के नाम के रूप में प्रयुक्त थे वेही उस भाषा मे म्लेच्छित हो गए। इस प्रकार इस प्रकरण को यहाँ पर समाप्त किया जाता है इस निश्चय पर पहुँचते हुए कि वेद ईश्वरीय ज्ञान है। वैदिक सस्कृत और लौकिक सस्कृत को म्लेच्छित करके ही ईरान की भाषा बनी। अवेस्ता के शब्द वा किसी दूसरे देश की भाषा के शब्द वेद मे नही आए है बल्कि वेद के शब्द इन भाषावो वा देशो मे गए हैं। जिनको ईरानी कहा जाता है—ये भी भारत के आर्यों की ही शाखा है। भारत से जाकर ही धर्म के उपदेश न मिलने से ये जातियाँ जो पहले क्षत्रिय थी इन रूपो मे परिणत हो गई। आर्य लोग ईरान मे आए हो अथवा बाहर से यहाँ आए हो—यह सर्वथा ही भ्रान्त धारणा है। पूर्व इसका पर्याप्त वर्णन किया जा चुका है।

अध्याय ८

मोहेन्जो—दारो तथा हरप्पा

पहले यथास्थान यह दिखलाया जा चुका है कि म्लेच्छ और असुर जातिया आदि किस प्रकार धर्म से भ्रष्ट होकर अस्तित्व मे आई। आर्यों से पूर्व ससार मे कोई भी मानव-जाति नही थी और उपजातियो की अथवा आदि मूलवासियो आदि की जो कल्पना की गई है वह सर्वथा ही निराधार और युक्ति तथा प्रमाण से हीन है।

मोहेन्जो दारो और हरप्पा की खोदाइयो से जो सामग्री प्राप्त हुई है उसको-लेकर बडा बखेडा किया जाता है। वैदिक एज मे भी इसका एक प्रकरण ही है। सिन्धु घाटी की सभ्यता के नाम से इस पर इस पुस्तक मे विचार किया गया है। कोई ठोस प्रमाण तो दिया नही जाता फिर भी कहा जाता है कि यह वैदिक सभ्यता से पूर्व की है। कई लोग कहते है कि द्राविड भाषा और उसकी सभ्यता के प्रमाण इसमे मिलते है। जो जैसा चाहता है वैसी कल्पना कर लेता है। मैने अपनी पुस्तक दर्शनतत्त्व-विवेक[1] मे इस पर पर्याप्त विचार किया है। मोहेन्जो-दारो के विषय मे अभी तक निश्चित मत कोई नही। केवल अटकलबाजिया चल रही है। अभी तक उसकी मुद्रावो की भाषा पढी नही जा सकी है। यहा पर इस विषय मे सर्वप्रथम श्री बा० सम्पूर्णानन्द[2] जी का विचार प्रस्तुत किया जाता है। "इतना ही कहना पर्याप्त है कि मोहेन्जो दारो की कला बडे ऊँचे कोटि की है। इस विषय के विशेषज्ञो का कहना है कि यह चीजे ४५०० से ५५०० वर्ष पुरानी है।" पृ० २१८। "इस प्रकार मौर्य काल और उनके बाद की कला का पितृत्व खोजने हमको ईरान जाने की आवश्यकता नही है, वह भारत मे ही मिल जाते है।" पृ०२१६।

"मोहेन्जो-दारो मे जिस सभ्यता का परिचय मिलता है वह उसी ढग की है जैसी कि सुमेर की सभ्यता थी। मकानो की बनावट का ढग वही है, मूर्तिया वैसी ही है, मुहरो पर तथा दूसरी जगह उसी प्रकार के अक्षर खुदे है, दोनो जगहो की

---

1. यह पुस्तक अभी प्रकाशित नहीं हुई है।
2. आर्यों का आदिदेश, पृ० २१७।

भाषा एक ही है। और कई व्यक्तियो के नाम भी दोनो जगहो मे मिलते है। ...
मूर्तियो के आकार से यह लोग तूरानी, अथवा मगोल उपजाति की शाखा के प्रतीत होते है। इनकी भाषा का ठीक-ठीक स्वरूप क्या था यह नही कहा जा सकता। कुछ लोगो का अनुमान है कि यह द्राविड थी। परन्तु कुछ दूसरे विद्वान् उसे सस्कृत से मिलती जुलती मानते है।" पृ० २२०।

डाक्टर वडेल के मत का उल्लेख करने के बाद उक्त बाबू जी पुन लिखते है। "इतने सकेत ही पर्याप्त है। इतना और कह देना आवश्यक है कि वैडेल का यह मत विशेषज्ञो मे सर्वमान्य नही है। कई लोग इन मुहरो पर खुदे नामो को दूसरे प्रकार मे पढते है। उदाहरण के लिए पहली ही तालिका को लीजिए--

वैडेल के अनुसार	दूसरे विशेषज्ञो के अनुसार
उरु अश्	उर निना
मद्गल	अकुग्गल
वि अशनदि	इअसतुम
एने तर्षि	एनलि तजि

वैदिक सभ्यता और मोहेन्जो-दारो की सभ्यता का क्या सम्बन्ध है यह भी अनिश्चित है।" पृ० २२५।

"इससे यह कहा जा सकता है कि वैदिक सभ्यता प्राचीन है और मोहेन्जो-दारो काल से कम-से-कम चार पाच हजार वर्ष पुरानी है।" पृ० २२५।

पुन "पर अभी तक जो सामग्री मिला है वह अपर्याप्त है। जो खुदे हुए लेख मिले है उनका क्या अर्थ है, इस सम्बन्ध मे सब विद्वानो का मत एक नही है। अत उनके सहारे अटकल लगाना भ्रामक होगा।" पृ० २२६।

यहा पर उपर्युक्त वर्णनो मे कुछ बाते अवश्य ही स्पष्ट हो जाती है —

१—मोहेन्जो-दारो की सभ्यता ४००० से ४५०० वर्ष पुरानी है।

२—वैदिक सभ्यता मोहेन्जो-दारो की सभ्यता से कम-से-कम चार-पाँच हजार वर्ष प्राचीन है। (यह उनके अपने विचार से)।

३—जो खुदे लेख मिले है उनका क्या अर्थ है इस विषय मे विद्वानो का मत एक नही है—अत उनके सहारे अटकल लगाना भ्रामक होगा।

श्री बाबू सम्पूर्णानन्द के अनुसार वेदो का समय १८००० वर्ष पुराना है। मोहेन्जो-दारो की सभ्यता ४००० से ४५०० वर्ष पुरानी है अत वैदिक सभ्यता का उससे प्राचीन होना उनके अपने दृष्टिकोण और विचारधारा के अनुसार ठीक ही है। यद्यपि यह उनका अपना विचार है। हमारे विचार से यह सगत नही है फिर भी वैदिक एज के विचारो का इससे पूर्णतया खण्डन हो जाता है, इसमे सन्देह नही।

महाभारत-काल आज से पाच सहस्र वर्ष से कुछ पुराना है। ऐसी स्थिति में मोहेन्जो-दारो की सभ्यता महाभारत से कुछ शताब्दो पीछे की अथवा बहुत खीच-तान किया जावे तो आस-पास की ठहरेगी। दोनो अवस्थाओ मे वैदिक एज की मान्यता का खण्डन हो जाता है।

यदि उक्त बाबू जी की तीसरी बात को माना जावे तो फिर सब कुछ सफाचट ही है और कहना पडेगा कि मोहेन्जो-दारो की सामग्री के आधार पर कोई ऐतिहासिक परिणाम निकालना और वेदो के विषय मे निकालना सर्वथा ही भ्रान्त होगा। ऐसी स्थिति मे वैदिक एज की बनाई धारणा सर्वथा ही भ्रान्त ठहरती है।

अस्तु! एक बात यहा पर और विचारणीय है और वह यह है कि मनुस्मृति[1] के अनुसार जैसा पूर्व भी लिखा जा चुका है ब्राह्मणो का उपदेश न मिलने और वैदिक क्रियावो का उनमे लोप हो जाने मे आर्यों की क्षत्रिय जातिया ही धर्मच्युत होकर, पौण्ड्रक, चौण्ड्, द्राविड, कम्बोज, यवन, शक, पारद, पह्लव, चीन, किरात, दरद, खश—के रूप मे परिवर्तित हो गईं। ये म्लेच्छवाक् और कई इनमे सस्कार शेष से आर्यवाक् भी रही—परन्तु दस्यु हो गईं। इस प्रकार इन असुर एव म्लेच्छ जातियों का अक्काद, सुमेरु, ईरान, चाल्डिया, बैबलन, मेसोपोटामिया आदि मे विस्तार हुआ। इनका व्यवहार परस्पर भारतीय आर्यों से चलता रहा। इनकी भाषायें आसुरी हो चुकी थी। किसी समय मे ये बाहर से लौट कर पुन भारत मे आ कर बसीं। अनेको परिवर्तन होते रहे। शक, हूण, यवन आदि भी समय-समय पर इस देश में आए और यहा के निवासी हो गए।

---

1. मनु १०।४३-४५

पहले यह भी बतलाया जा चुका है कि दिति और दनु के वंश का विस्तार भी बहुत लम्बा-चौडा हुआ। दैत्य और दानव भी इस देश में रहे। परन्तु ये आर्यों से पूर्व नही बल्कि आर्यों मे से ही निकल कर गए, बढे और आते-जाते, रहते-सहते रहे। इन्ही की सन्तानो का एक भाग बाहर से आकर सिन्ध प्रदेश मे भी बस गया। यही मोहेन्जो-दारो आदि के निवासी हुए और उन्ही का यह सब अवशिष्ट प्रपञ्च है।

श्री प० भगवद्दत्त जी ने एक और ही विचार मोहेन्जो-दारो के विषय में प्रकट किया है। उनका कथन है कि मोहेन्जो-दारो और हरप्पा की सस्कृतिया[1] आसुर सस्कृतिया है। विस्तार और विवरण के विषय मे मतभेद किसी का होना स्वाभाविक है—परन्तु भारतीय वाड्मय का पक्षपात छोड कर अध्ययन करने वालो को किसी सीमा तक इसी निर्णय पर पहुँचना पडेगा। जैसा पहले और ऊपर की पक्तियो मे भी लिख चुका हूँ कि म्लेच्छ आदि जातिया धर्मभ्रष्ट होकर बनी और ससार मे फैली। दानवासुर (Dionysus) और दनु तथा दिति की बात पहले कही जा चुकी है। जैकोलियट ने बाइबिल इन इण्डिया (Bible in India) मे हरक्यूल्स से लेकर मेसोपोटामिया और जोरास्टर तथा स्टारा तक समस्त नामो को सस्कृत मूल[2] से सिद्ध किया है। इस आधार को लेकर विचार करने पर उक्त पडित जी का निकाला परिणाम जो उन्होने हरक्यूलस और स्कडे नेविया आदि नामो के सम्बन्ध मे दिया है—कल्पना की बात नही रह जाते। मनुस्मृति, बौधायन धर्मसूत्र, बौधायन श्रौत और गह्यसूत्रो, महाभारत और अभिधान-चिन्तामणि कोष के अनुसार यह सिद्ध है कि भारत के उत्तर-पश्चिम मे म्लेच्छ रहते थे। शान्तिपर्व १८६।१८ के अनुसार इन्ही की प्रेत, पिशाच और राक्षस सज्ञा भी थी। वर्तमान युग के महान् आचार्य महर्षि दयानन्द सरस्वती ने भी मनु के—म्लेच्छदेशस्त्वत पर पर लिखते हुए लगभग इसी प्रकार के मिलते-जुलते विचार लिखे है। यह भी वर्णन महाभारत के सभापर्व २७।२३,२५ मे मिलता है कि म्लेच्छ और असुरो ने सग्राम मे भाग लिया। सभापर्व २८।४४ मे इन्हे 'म्लेच्छयोनिज' नाम से भी कहा गया है। वाहीको का भी वर्णन पश्चाद्वर्ती सस्कृत साहित्य मे मिलता है। ये लोग ज्ञात होता है कि पजाब के आस-पास रहते थे। साहित्यदर्पण मे इन्हे इनकी बुद्धि-मान्द्य की दृष्टि से 'गौर्वाहीक' बाहीक बैल वा गौ कहा गया है। परन्तु इतना ज्ञात रहना चाहिए

1 भारतवर्ष का बृहद् इतिहास और उसका ट्रैक्ट मोहेन्जो-दारो एण्ड हरप्पा — An Asura Culture

2 Page 25-28.

कि आर्यों से पृथक् होने के बाद भी इनमे बहुत लम्बे काल तक आर्यों की सारी परम्परायें नष्ट नही हुई थी। ये म्लेच्छवाक् होते हुए भी सस्कृत बोलते थे और कुछ व्यवहारो को भी वैसा ही वर्तते थे। अग्नि के ९ नामो का रुद्र नाम से वर्णन करते हुये शतपथ ब्राह्मण मे कहा गया है 'शर्व' नाम पूर्व के लोग प्रयुक्त करते है और 'भव' नाम वाहीक लोग बोलते है। वस्तुत पशुपति रुद्र यह अग्नि[1] ही है। शतपथ-ब्राह्मण जिस अवस्था का वर्णन कर रहा है उस अवस्था मे ये वाहीक लोग आर्य ही थे। ये बाद मे म्लेच्छवाक् और धर्मभ्रष्ट कालान्तर से हो गये। ये म्लेच्छ, असुर वा दानव जो भी कहिये भारत के उत्तर पश्चिम देशो मे रहते थे और मध्य एशिया के साथ भी अपना सम्बन्ध रखते थे।

मैगस्थनीज के लेखो के आधार पर भी कुछ सकेत इन असुरो की सभ्यता का मिलता है। वह कहता है कि बहुत पुराने काल मे जब लोग ग्रामो मे रहते थे दानवासुर (Dionysus) पश्चिम से आया और बडी फौजे लाया। उसने समस्त भारत पर लूटपाट[2] की। इसी आधार पर वे विशेष जाति के लोग नाइसेयन्स (Nyssaians) कहे जाते है और इनका नगर नाइसा (Nyssa) था जिसको दानवासुर ने बसाया था। य आगे चल कर दानवासुर (Dionysus) के आक्सीड्काई वशज कहे जाते है[3]। ये नाइसोई भारतीय जाति के नहीं है बल्कि उनके वशज है जो दानवासुर (Dionysus) के साथ भारत मे[4] आये। उन आक्सीड्काइस लोगो की कबरे सादी होती है और मुर्दे पर नीचे से ढेर बने होते है[5]। महाभाष्य मे एक नैश जनपद का वर्णन मिलता है। नैश और निशाचर का अर्थ समान ही है। यह 'नैइस' पद भी इस नैश का ही रूपान्तर ज्ञात होता है। इसी प्रकार आक्सीड्काई क्षुद्रका का भ्रष्टरूप है। हरप्पा नगरी रावी के किनारे पर थी। यह इन क्षुद्रको के निवास की जगह थी।

ज्ञात होता है कि 'दर' पद सस्कृत के पुराने साहित्य मे विशेष जनो के अर्थ मे प्रयुक्त होता था। पुराण जो बहुत नवीन काल के (वायुपुराण) है—इनमे इस शब्द क।

1. शतपथ १।७।३।८
2. Fragment 1, 38
3 Fragment 1, 38
4 Fragment 46, 8
5. Fragment 27

प्रयोग पहले के किसी ग्रन्थ से आया होगा। महाभारत सभापर्व ४८।३ में 'प्रदरा: दीर्घवेणव' शब्दो का प्रयोग इस दिशा मे विचार करने का अवसर प्रदान करता है। पूर्व उद्धृत मानव धर्मशास्त्र के श्लोक मे भी दरदा मे दर पद पडा ही है। अब भी पुराने स्थानो के लिये 'दरी' पद का प्रयोग देखा जाता है। बारहदरी तो बहुत प्रसिद्ध शब्द उर्दू भाषा का है। बहुधा यह विशेष पुराने खडहरातो और मकानो के लिये ही प्रयुक्त होता है। पजाबी मे भी यह 'दरी' शब्द इस उर्दू से ही लिया गया होगा। अस्तु! जो भी हो इतना तो कहना पडेगा कि 'दर' पद का विशेष अर्थ है। वह अर्थ है लोग वा जन।

"बाह्यतो दरा" जो वायुपुराण का प्रयोग है वह 'प्रदरा दरा दरदा.' आदि आधारो पर लिया गया होगा। मैं पुराणो को कपोल-कल्पित और अनर्गल मानता हूँ। परन्तु अन्यत्र मूल मिलने से ही यहा पर विचार कर रहा हूँ। बाहर से आये लोग बाह्यतो दर और जो अपने यहा से इधर-उधर बस गए होगे वे 'अन्तर्दरा' कहलाते रहे होगे। मोहेन्जो-दारो मे जो दारो' पद पडा है वह इस 'दरा' का ही बिगड़ा हुआ रूप मालूम पड़ता है। सिन्धी भाषा मे स्यात् इस 'दरा' का दारो बन गया है।

यह भी कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं कि म्लेच्छ लोग नगरो मे ही रहते थे। वे जगलो मे भी रहा करते थे। महाभारत वनपर्व के देखने से यह ज्ञात होता है कि म्लेच्छ लोग जगलो मे भी रहते थे। सलिए आसुर सभ्यता नगर की ही सभ्यता है —यह कोई सिद्धान्तभूत बात नही।

म्लेच्छो की एक सील के ऊपर एक मनुष्य की आकृति पाई जाती है। इसमे उसके वसन पर सीग लगे हुए है। यह कोई आश्चर्य की बात नही। नाटक आदि में ऐसे परिधान अब भी लोग पहन लेते है किसी विशेष कार्य को दिखलाने के लिए। यह प्रथा कुछ पिशाच जातियो मे थी। महाभारत सभापर्व ६८।२६ मे इन्हे 'लोमशा शृङ्गिणो नरा' कहा गया है। इन्हें दीर्घकेश नर भी कहा गया है। भरत नाट्य शास्त्र मे लिखा है कि पिशाच 'जाति का भाग अदा करने वाले को 'लम्ब केश' दिखलाया जाना चाहिये। यह प्रथा कुछ सीमा तक बैबिलोनिया के लोगो मे भी पाई जाती थी।

'शृङ्गिण' का अर्थ करते हुये मोनियर विलियम्स ने लिखा है कि ये लोग सींगो का परिधान सिर पर रखते थे। ये शिव के पूजक थे। वे बैल को चाहते थे। शृङ्गी

मछली का भी नाम है। विष्णु के शरीर को आधा नर और आधा मछली का ये लोग रखते हैं। अत मत्स्यावतार जो पुराणो मे वर्णित है उसके ही रूपान्तर इनकी मूर्तियाँ हैं। इससे पौराणिक छाप भी है। यह शृङ्ग धारण करने के प्रकार और शृङ्गो के भेद तो है परन्तु इनका भी प्रचलन किसी वैदिक प्रक्रिया का ही बिगडा रूप है। कला के कार्यों मे ये लोग शिर पर शृङ्ग धारण करते है। परन्तु वैदिक यज्ञो मे ऋत्विज् लोग मृगशृङ्ग धारण करते थे। शरीर में खुजली आदि के समय इन मृगशृङ्गो का प्रयोग होता था। ऋग्वेद ७।१८।७ मन्त्रो मे ऋत्विजो का वर्णन है और वहां पर ,विषाणिन ' पद भी पडा हुआ है। ये किसी व्यक्ति या उपजाति के सूचक नही है। यहां पर केवल विषाणधारी ऋत्विज् अभिप्रेत है। यह प्रथा बाद मे भ्रष्ट होकर कहा-कहां किस रूप मे गई कहा नही जा सकता है। परन्तु मोहेन्जो-दारो की सभ्यता को इन आधारों के होते हुये वेद से पूर्व की सिद्ध करना केवल साहस-मात्र है। यह तो आकर पौराणिक काल की बन बैठेगी।

इनकी वर्णमाला अभी तक ठीक पढी नहीं जा सकी। केवल कल्पना को लेकर बखान भरी जा रही है। यह पहले दिखलाया जा चुका है। इस आसुरी भाषा वा लिपि का लोग जानते न रहे हो-ऐसी बात नही। बौद्धग्रन्थ ललित-विस्तर-माला मे ब्राह्मी, खरोष्ठी और आसुरी लिपि का वर्णन है। यावनी भाषा का भी वर्णन किन्ही-किन्ही ग्रन्थो मे मिलता है।

अत विस्तर मे न जाते हुये यह कहा जा सकता है कि मोहेन्जो-दारो और हरप्पा की सभ्यता आसुरी सभ्यता है और भारत के लोगों को वह परिज्ञात थी। ऐसी स्थिति मे उसका समय जो ४००० वर्ष ईसा से पूर्व का कूता जाता है— वह भी इस बात का प्रमाण है कि यदि इस काल को दुर्जनतोषन्याय से स्वीकार भी कर लिया जावे तो यह महाभारत काल के आसपास का ही समय ठहरेगा। पौराणिक धारणा से आगे उसका जाना सम्भव नही है। महाभारत का काल पूर्व सिद्ध करके बतलाया जा चुका है कि ईसा से लगभग ३१०२ वर्ष पूर्व का है। महाभारत का काल ज्योतिष के आधार पर निर्णीत है जबकि मोहेन्जो-दारो का समय पुरातत्व की अटकल-बाजियो पर आधारित है। पुरातत्व की कोई भी वस्तु अपना निश्चित समय किसी भी अवस्था मे बतला ही नही सकती है। साथ ही विकासवाद का पुट उसकी थोडी-बहुत उपादेयता को भी समाप्त कर देता है। अत महाभारत काल के आस-पास की ही यह सभ्यता यदि सिद्ध हो जावे तब भी वेद से प्राचीन न होकर अर्वाचीन

ही, नही नही, अति ही अर्वाचीन ठहरेगी । यहा पर दो विचारधाराओ को दिखला कर यह बतला दिया गया कि मोहेन्जो-दारो और हरप्पा की सभ्यता के आधार पर वेद का काल निर्धारित करना ठीक नही । यदि यह दुस्साहस किया ही जावे तो यह सभ्यतायें वेद से प्राचीन अथवा समकालिक नही हो सकती है ।

आगे इस दिशा में की जाने वाली खोजें, हो सकता है, आनुमानिक कल्पनाओ का भेदन कर वास्तविक रूप सामने ला दें । अत पूर्व से ही इन पर बडे-बडे आधार खडे करना ठीक नही जँचता है । कुछ विद्वानो ने तो इस सभ्यता को द्राविड सभ्यता ही लिख डाला । पुस्तकें छप गईं । परन्तु वास्तविकता अभी खोज का विषय बनी हुई है । मैने अपनी पुस्तक दर्शन-तत्व-विवेक मे इस पर विचार किया है जो कुछ काल बाद समय पर प्रकाश मे आवेगा ।

अध्याय ९

वेद की अन्तःस्थिति की खोज

युगों के विषय मे—वेद के काल के विषय मे पूर्व के सम्बद्ध प्रकरण मे पर्याप्त लिखा जा चुका है। इस प्रकरण मे वेद की कुछ आन्तरिक बातो पर विचार किया जावेगा। वैदिक एज आदि मे वेद के कुछ आन्तरिक विषयो पर आक्षेप किये गए हैं। उनका उत्तर भी यहाँ इस प्रकरण मे दिया जावेगा। मुख्य विषय को उठाने से पूर्व एक विचार युगो के विषय मे प्रस्तुत किया जाता है। लोग यह आक्षेप करते है कि कलियुग, द्वापर, त्रेता और कृतयुग की इतनी लम्बी वर्ष सख्या ठीक नही। बहुधा लोगो का आक्षेप इस विषय पर हुआ करता है। कई लोग उनकी इस चोट को न सहारकर अपना मार्ग भी बदल बैठे है। परन्तु यहाँ पर यह कहना आवश्यक है कि युगो की यह सख्या ज्योतिष के सिद्धान्तो के आधार पर है और पूर्ण वैज्ञानिक है। जिनकी दुनिया कुछ सहस्र वर्षो की ही परिधि मे चक्कर काटती है उनके लिए यह समय अवश्य बडा प्रतीत होता है। जहा ससार की आयु चार अरब बत्तीस करोड वर्ष की मानी गई हो उसके हिसाब से ये युग ठीक ही है। अथर्ववेद का एक मत्र पूर्व भी वेद के काल का निर्णय करते समय प्रस्तुत किया गया है। यहाँ भी प्रस्तुत किया जाता है। अथर्ववेद ८।२।२१ का यह मत्र सृष्टि के एक कल्प की वर्ष-सख्या ४३२००००००० वर्ष बताता है। इतना ही समय प्रलय का भी है। अथर्व १०।७।३ मे ससार को एक सहस्र चतुर्युगियो के खम्भो पर खडा बतलाया गया है। यजुर्वेद ३०।१८ मे कृत, त्रेता, द्वापर और आस्कन्द-कलि के नाम भी बतला दिये गए है। इनकी वर्ष-सख्या मनुस्मृति और सूर्य-सिद्धान्त आदि ज्योतिष ग्रन्थो मे समान ही दी गई है। सूर्य-सिद्धान्त अध्याय १। श्लोक २९मे बतलाया गया है कि एक महायुग अर्थात् चतुर्युगी मे सूर्य, बुधशुक के ४३२०००० भगण होते हैं। यही वस्तुत चतुर्युगी की भी वर्ष सख्या है। सूर्यसिद्धान्त ३।९मे यह बतलाया गया है कि क्रान्तिवृत्त अपने मार्ग मे पूर्व को २७ अ श हटकर फिर जहाँ से हटा उसी स्थान पर लौटकर आ जाता है। फिर वहाँ से २७ अ श पश्चिम को हटकर वही पर आ जाता है। एक

महायुग (चतुर्युगी) में ये भगण ६०० होते हैं। इस प्रकार इनका एक कल्प में ६ लाख बार चक्कर होता है। इसका दशवाँ भाग कलियुग है अर्थात् एक कलियुग में ग्रह ६० भगण होता है । इस प्रकार कलियुग की वर्ष सख्या चार लाख बत्तीस हजार वर्ष की होती है। तथा प्रत्येक कलियुग के प्रारम्भ मे सभी ग्रह एक युति में होते है। इससे भी कलियुग की सख्या वैज्ञानिक ही सिद्ध होती है । शेष युगो के वर्ष द्विगुण, त्रिगुण और चतुर्गुण करने से बनते हैं।

श्री बाबू सपूर्णानन्द जी ने भी युगो की वर्ष सख्या को वैज्ञानिक ही माना है। वे कहते है कि यो तो सब ग्रह जहाँ पर एक समय होते है ठीक उन्ही जगहों पर फिर नही आते फिर भी ४३२००० वर्षों मे धूम फिर कर प्राय उन्ही जगहो पर आ जाते है। बहुत थोडा अन्तर रहता है। स्यात् इसीलिए ४३२००० वर्ष को काल का एक बडा मानदण्ड माना गया[1] है।

प्रसिद्ध इतिहासकार माननीय एलफिन्स्टन महोदय (भूतपूर्व गवर्नर बम्बई) का कथन है कि "जो समय ब्रह्मा का एक दिन नियत किया गया है वह ज्योतिष विद्या के नियमो पर आश्रित है। नोडिज और अम्पायजर की सर्वांगगति जो हिन्दुवो की ज्योतिष गणनानुसार चार अरब बत्तीस करोड वर्ष मे समाप्त होती है, ब्रह्मा का एक दिन है।" नोडिज सूर्य-वृत्त के वे अ श वा स्थान है जहाँ पर किसी ग्रहगति की परिधि का कटाव होता है। अम्पायजर नक्षत्रो के उन दो स्थानों को कहत है जो आदि काल मे अत्यन्त निकट एव अति दूर समझे जाते थे और जो अब सूर्य के अति समीप एव अति दूर समझे जाते हैं—अर्थात् शीर्षतल एव पदतल। इस प्रकार यह युगो की सख्या वैज्ञानिक ही है । इसमे किसी प्रकार के सन्देह को अवकाश नही रह जाता है।

चारो वेदो के काल मे भेद नही—एक धारणा यह प्रस्तुत की जाती है कि वेदो के विविध भाग भिन्न-भिन्न समयो मे बने। साथ ही चारो सहितायें भी एक काल की नही है। यहाँ पर यह स्मरण रहे कि वेद नित्य ईश्वरीय ज्ञान है। इनका कर्त्ता कोई ऋषि नही। ऋषि लोग तो मत्रार्थद्रष्टा हैं। ऋषि वेद मन्त्रो के कर्त्ता नही – यह मैं विस्तार से वैदिक-इतिहास-विमर्श[2] पुस्तक मे लिख चुका हू । यहाँ

1 आर्यों का आदि देश पृष्ठ १०२

2 तारीख हिन्दुस्तान बम्बई, छापा अलीगढ पृष्ठ २५६

लिखने से विस्तार बहुत हो जावेगा। वैदिक एज पृष्ठ ४०१ पर पुस्तक ६ मे बाद की संहितावो का समय (The Age of the Later Samhitas) इस नाम से शीर्षक दिया गया है। यह इस बात के लिए पुष्ट प्रमाण है कि वैदिक एज के कर्त्ता संहितावो का भिन्न-भिन्न समय मानते हैं। यहाँ पर इसका निराकरण किया जाता है। ऋग्वेद ५।६२।३० मे यजुषा' पद आया है जो यजु मन्त्रो के लिए है। ऋग्वेद १।१६४।३९ मे 'ऋच' से ऋक् का वर्णन है। ऋग्वेद १।१६४।४५ मे 'चत्वारि वाक्' से चारो वेदो का भी ग्रहण है। ऋग्वेद ४।५८।३ मे 'चत्वारिशृंगा' से चार वेदो का ग्रहण महाभारत काल तथा उसके बाद तक होता चला आया है। ऋग्वेद २।४३।१-२ मन्त्रो मे 'सामगा 'साम गायति' का वर्णन है। ऋग्वेद ५।४४।१४-१५ मे सामानि और ऋचावो का वर्णन है। ऋग्वेद १।१०८।२ मे सामभि से साम मन्त्रो का ग्रहण है। ऋग्वेद १०।९०।९ मे ऋग्, यजु, साम और छन्दाँसि से अथर्ववेद का ग्रहण है। यह मंत्र ऋक् यजु और अथर्व मे भी है। अथर्व मे छन्दाँसि की जगह छन्द है। अथर्व वेद १०।७।२० मे ऋक्, यजु साम, और अथर्व चारो का ही वर्णन है। इस प्रकार जब चारो वेदो का वर्णन ऋग्वेद मे ही मिल जाता है तो फिर उन्हे पश्चात् का मानने का कोई प्रश्न ही नही रह जाता। समस्त वैदिक और लौकिक संस्कृत साहित्य मे वेद से चार वेदो का ही ग्रहण होता है। साथ ही इनका समान काल माना जाता है। किसी का प्रादुर्भाव आगे पीछे नही माना जाता है। अत चारो वेदो को भिन्न-भिन्न काल मे बना कहना अतथ्यभूत है।

बालखिल्य सूक्त—वैदिक एज पृष्ठ २२९ पर लिखा है कि आठवा मडल बाद मे परिवारो से सम्बन्ध रखने वाले दो से सात मण्डलो के अन्त मे जोडा गया। यह अष्टम मडल किसी समय अन्तिम मण्डल था। नही तो बालखिल्य सूक्तो को इस मे ही क्यो घुसेडा गया। १०वे मण्डल के बाद मे क्यो नही[1] ? यहाँ पर लेखक ने जिन

1 This peculiarity of the eighth Mandala, together with the fact that most of the hymns in Pragatha metre are found in it, does suggest—but by no means proves—that the eighth Mandala was subjoined at a later date to the Kernel constituted by the family—Mandalas But there is positive reason to believe that there was a time when the eighth Mandala was actually considered to be the last in the Samhita, for why else should the Valkhilya hymns be thrust into the eighth Mandala and not added after the tenth ? —Vedic Age, 229

शब्दो मे अपना विचार प्रकट किया है वे स्वय ही सन्देह को प्रकट करते हैं। वह स्वय लिखता है कि परामर्श देते है परन्तु सिद्ध नही करते (does suggest--but by no means proves) है। जब यह प्रश्न सिद्ध हो नहीं है तो फिर इस पर इतना बल देने की क्या आवश्यकता थी। परन्तु लग जावे तो तीर नही तो तुक्का, इस न्याय का अनुसरण कर उसने इन पक्तियो को लिख ही दिया। यहाँ यह स्मरण रहना चाहिए कि ऋग्वेद अष्टम मण्डल के ४६वे सूक्त से ५६ वे सूक्त तक अर्थात् ११ सूक्त बालखिल्य सूक्त माने जाते है। खिल का अर्थ बाद को मिलाना लगाकर इन सूक्तो को परिशिष्ट कहकर लोग यह दिखलाने का प्रयत्न करते है कि ये सूक्त बाद मे बालखिल्य ऋषियो द्वारा मिलाये गए। इनके प्रारम्भ मे अथ बालखिल्यम् और अन्त मे इति-बालखिल्यम्' छापने वालो ने भी पर्याप्त सन्देह उत्पन्न कर दिया है। ऐमा छापना सर्वथा ही ठीक नही।

ऐतरेय ब्राह्मण की छठी पजिका के चतुर्थ अध्याय मे वज्रेण बालखिल्याभिर्वाच कूटेन" पद पडे है। इसकी व्याख्या सायण ने इस स्थल पर भाष्य करते हुए गलत की है। उसने लिखा है कि बालखिल्य नाम के कोई महर्षि थे। उनके सम्बन्ध के आठ सूक्त है। वे बालखिल्य नाम के ग्रन्थ म कहे जाते[1] है। सायण की इस गलती को प्रमाण मानकर लोगो ने तरह-तरह की कल्पनाये कर डाली है। जैसे सायण की बात बिना सिर पैर की है वैसे ही उस पर कल्पना का नया प्रासाद खडा करने वालो की बात को भी समझना चाहिए। जिस स्थल पर सायण यह भाष्य कर रहा है वहाँ पर इसका कोई प्रस ग नही है। प्रसग से बालखिल्य सूक्तो का ऋग्वेदीयसूक्त होना ही सिद्ध होता है। पडित रघुनन्दन शर्मा आदि जिन लोगो ने इसी वाक्य को लेकर अन्यथा विचार कर लिया वह प्रकरण के अर्थ को बिना लगाए हुए किया। इस प्रकरण मे दोबार एतरेय का (वज्रेण बालखिल्याभिर्वाच कूटेन) वाक्य आया है। एक बार 'वज्रे बालखिल्यासूपास्तो वाच कूटे' वाक्य आया है। एक बार "वाच कूटेन" इतना ही वाक्याश आया है। इससे यहाँ स्पष्ट है कि यह पूर्वोक्त ऐतरेय वाक्य किसी विशेष भाव को बतलाना चाहता है। सायण ने अपनी कल्पना से दूसरा ही एक रास्ता निकाला जो सवथा ही असम्बद्ध था।

---

1 बालखिल्यनामका केचन महर्षय। तेषां सम्बन्धीन्यष्टौ सूक्तानि विद्यन्ते तानि बालखिल्यनामके ग्रन्थे समाम्नायन्ते। सायण-भाष्यम्।

ऐतरेय मे यहाँ पर अहीन याग का वर्णन है। इसमें किस दिन कौन से मत्रो से किस प्रकार पाठ और कृत्य करे—इन सब बातो का वर्णन है। प्रात सवन में नाभाक तृच् पढे जाते है। ये मैत्रावरुण "य ककुभो निधारय" ऋ ८।४१।४-६, ब्राह्मणाच्छंसी "पूर्वीष्ट इन्द्रोपमातय" ८।४०।६-११, और अच्छावाक् "ता हि मध्य भराणा" ८।४०।३-५—ये तृच् हैं। तीसरे सवन मे बालखिल्य वज्र से और "वाच कूट" एक पद द्वारा बल को खोदकर गायों को पालते हैं। बालखिल्य सूक्त छ हैं। उनको तीन वारी से पढते हैं। पहले यह पद करके, फिर आधी-आधी ऋचा करके और फिर ऋचा क्रम से। जब पद करके ये मत्र पढे जाते है तो हर प्रगाथ मे एक पद रखे जाते हैं। इस प्रकार के एक पद पाच है। चार दशाह से लिए गए है और एक महाव्रत से। इत्यादि जब छ बालखिल्यो को पहली बार पढता है तो प्राण और वाणी का विहार करता है। जब दूसरी बार पढता है तब प्राख और मन को मिला देता है, जब तीसरी बार पढता है तो कानो और आत्मा को मिला देता है। इस प्रकार यहाँ पर यह ज्ञात हुआ कि बाल्यखिल्य मत्रो के पढने का प्रकार यहाँ पर बतलाया गया है। इनमे न यह सिद्ध होता है कि बालखिल्य सूक्त बाद मे घुसेड दिए गए और न यही सिद्ध होता है कि ये कोई अलग बालखिल्य ऋषियो के द्वारा सगृहीत किए गए एव रचित कोई सग्रह थे। सायण की कल्पना यहा पर बिना वास्तविकता की है।

"बालखिल्याभि" का अर्थ यहाँ पर बालखिल्यो द्वारा देखी गई अथवा बालखिल्य सम्बन्धिनी ऋचावो से युक्त वा परिलक्षित है। वज्र के साथ इसका सम्बन्ध है। 'वाच कूट अलग पद है। इसका अर्थ पूर्वोक्त कहे गए पद है जो दशाह और महाव्रत से लिए गए है।

यहाँ पर यदि 'बालखिल्यो' को मत्रद्रष्टा ऋषि माना जावे तो फिर उनके द्वारा दृष्ट ये सूक्त ठहरते हैं। परन्तु जब बालखिल्य का अर्थ अन्य स्वीकार किया जावेगा तब उस सम्बन्धी सूक्त या ऋचाये बालखिल्य कहलावेगी। ऐतरेय के इसी स्थल पर प्राणो को बालखिल्य कहा गया है।[1] कौषीतकी और गोपथ ब्राह्मण मे भी प्राणो को वालखिल्य कहा गया है। पुन ऐतरेय ५।१५ मे कहा गया है अब वैश्वदेव

1 प्राणा वालखिल्या। ऐतरेय ६।२६, कौषीतकी ३०।८
प्राणा वै वालखिल्या। ऐ० ६।२८, गोपथ उत्तर १६।८

शस्त्र के सहचर सूक्तो को यजमान पढ़ता है। वे सूक्त हैं—नाभानेदिष्ठ, वाल-खिल्य, वृषाकपि और एवया मरुत। यदि इनमे से कोई छूट जाय तो यजमान को क्षति होगी। *यदि नाभानेदिष्ठ छूट जावे तो यजमान को वीर्य की क्षति होगी।* वालखिल्य छूट जाय तो प्राणो की क्षति, वृषाकपि छूट जाय तो आत्मा की तथा एवया मरुत छूट जाय तो प्रतिष्ठा की। नाभानेदिष्ठ से यजमान वीर्य धारण कराता है। वालखिल्य से आकृति धारण कराता है। कक्षीवान् के सुपुत्र सुकीर्ति ने इस सूक्त के द्वारा गर्भ को बच्चा उत्पन्न करने योग्य बनाया। ऐतरेय ५-१५। यह पर सूक्तो का वर्णन द्रष्टा ऋषियो के नाम से किया गया है। परन्तु साथ ही साथ यह भी स्पष्ट कर दिया है कि ये दैवतपद या यौगिक अर्थ वाले पद भी है। नाभा-नेदिष्ठ सूक्त से वीर्य का धारण बताया गया है। ऐतरेय ६।२७[1], गोपथ उत्त० ६-८ मे रेत को नाभानेदिष्ठ कहा गया है। ऐतरेय ५।१५ मे भी। ताण्ड्य २०।६।२[2] मे रेत को नाभानेदिष्ठीय कहा गया है। अत नाभानेदिष्ठ का अर्थ ही जब रेत है तो उस सूक्त से वीर्य का धारण कराना ठीक है। वालखिल्य का अर्थ प्राण है अत उससे आकृति का धारण कराना भी ठीक ही है। ऐतरेय ६।२६, गोपथ उत्तरार्ध ६।८ मे आत्मा को वृषा-कपि कहा गया है[3] अत उस सम्बन्धी सूक्त का आत्मा से सम्बन्ध मानना समुचित और सुसगत ही है। ऐतरेय ब्राह्मण ६।३० मे प्रतिष्ठा को एवयाम-रुत कहा गया[4] है अत प्रतिष्ठा की सगति भी ठीक ही है। इस ऐतरेय ब्राह्मण की प्रक्रिया का पूरा स्पष्टीकरण हो गया। यहाँ यह भी स्पष्ट हो गया कि नाभानेदिष्ठ आदि शब्दो का जो यौगिक और दैवत अर्थ बनता है उसी का सम्बन्ध यज्ञ मे उस सूक्त से घटाया गया है। इसी प्रकार वालखिल्य का भी यौगिक अर्थ प्राण है—इस मे भी सन्देह नही रह जाता है। वालखिल्य सूक्त के साथ प्राण का सम्बन्ध यज्ञ प्रक्रिया मे दिखलाया ही गया है। ऐतरेय ब्राह्मण ६।२६[5] मे प्रगाथो को और ऐतरेय ६।२६[6] मे वालखिल्य ऋचावो को ऐन्द्र्य (इन्द्र सम्बन्धी) कहा गया है। इसी प्रकार ताण्ड्य

---

1 रेतो वै नाभानेदिष्ठ। ऐ ६।२७ गो० उ० ६।८

2 रेतो हि नाभानेदिष्ठीयम्। ता० २०।६।२

3. आत्मा वै वृषाकपि। ऐ० ६।२६। गो० उ० ६।८

4 प्रतिष्ठा वा एवया मरुत्। ऐत० ६।३०, गो० उ० ६।८,६।

5 प्रगाथा वै वालखिल्या। ऐ ६।२८

6 ऐन्द्र्यो वालखिल्या (ऋच) ऐ० ६।२६

२०।६।२ मे पशुवो को वालखिल्य कहा गया[1] है। इन प्रमाणों से यह ज्ञात हो जाता है कि वालखिल्य का अर्थ प्राण है, पशु है और इन्द्र देवता से इसका सम्बन्ध है तथा ये प्रगाथ हैं। अत वालखिल्य सूक्त इनका नाम इसलिये है कि इनमे प्रगाथ है। प्राण, इन्द्र और पशु आदि का वर्णन है तथा यज्ञ मे प्राण और पशु आदि की रक्षा के लिए इन सूक्तो का विनियोग किया जाता है। वालखिल्य नाम के ऋषियो ने इनका साक्षात् किया (बनाया वा रचा नही) अत इनको वालखिल्य कहा जाता है। परन्तु मुख्याभिधान इन सूक्तो का वालखिल्य के यौगिक अर्थ और विनियोग के आधार पर है।

ऋग्वेद के वालखिल्य सूक्तो को देखने पर भी ४९, ५०, ५१, ५२, ५३, ५४, सूक्तो का देवता इन्द्र है, ५५ और ५६ मे दान स्तुति है और पशुवो आदि का इनमे वर्णन है। ५७ सूक्त का अश्विनी, ५८ के विश्वेदेव और ५९ वे सूक्त के इन्द्र तथा वरुण देवता है। यद्यपि वर्तमान मे इन सूक्तो के द्रष्टा ऋषि क्रमश प्रस्कण्व काण्व, श्रुष्टिगु काण्व, आयुकाण्व, मेध्यकाण्व, मातरिश्वा काण्व, कृश काण्व, पृषध्र काण्व, मध्यकाण्व, और सुपर्णकाण्व है परन्तु यज्ञ के विनियोग के द्रष्टा वालखिल्य लोग है। विषय प्राण इन्द्र, पशु आदि है और यज्ञ मे इन्ही के आधार पर विनियोग है अत इसी को लेकर इन सूक्तो की प्रसिद्धि भी वालखिल्य नाम से पड गई।

प्राण क्यो वालखिल्य कहे जाते है इस पर कौपीनकी ३०।८ पर और शतपथ ८।३।४।१ पर एक उत्तम वर्णन मिलता है। वह इस प्रकार है। अब (१४) वालखिल्य सम्बन्धिनी इष्टकावो की रचना है। प्राण ही वालखिल्य है। इष्टकावो का वालखिल्य नाम इसलिए है कि उनका चयन कर यजमान प्राणो को धारण करता है। जो सब फसलो से सम्पन्न दो क्षेत्रो से न छुआ हुआ असस्य क्षेत्र है उसे खिल कहा जाता है। ये प्राण भी शरीर मे वाल मात्र व्यवधान से असम्भिन्न है अत ये वालखिल्य है। इस वर्णन से यह सिद्ध है कि इष्टकावो का नाम भी याज्ञिको ने वालखिल्य रखा था। इस से इन सूक्तो का प्राणो के धारण रक्षण आदि कार्यों मे अधिक उपयोग होने से [illegible] ग्रन्थ के अनुसार इन सूक्तो को वालखिल्य कहा जाता है, न कि किसी के द्वारा परिशिष्ट करने से, [illegible] मे ये वालखिल्य है।

---

1 पशवो वालखिल्या। ।ता २०।६।२

जब ईंटें भी वालखिल्य हैं और प्राण आदि भी वालखिल्य हैं, तो इन सम्बन्धी ऋचाओं का वालखिल्य होना क्या बुरी बात हो गई। क्या कोई कह सकता है कि ईंटें वालखिल्यों के द्वारा बनाई गई थी इसलिए वालखिल्य कहलाईं? यदि नहीं तो फिर वालखिल्य सूक्तों के लिए ऐसी कल्पना करना किस प्रकार संगत कहा जा सकता है। खिल का अर्थ भी यहाँ पर स्पष्ट कर दिया गया है। अतः खिल का अर्थ जो परिशिष्ट (Suppliment) किया गया है वह भी ठीक नहीं। इसके अतिरिक्त इन ब्राह्मण ग्रन्थों से इन सूक्तों की प्राचीनता उतनी ही पुरानी ज्ञात होती है जितनी अन्य सूक्तों की। अतः वालखिल्य सूक्तों को परिशिष्ट वा बाद का मिश्रण कहना वा किसी ऋषि-विशेष का संग्रह कहना सर्वथा ही अनर्गल है।

क्या दशम मण्डल बाद में रचा गया—मैकडानल आदि का विचार था कि ऋग्वेद का दशम मण्डल बाद को बना और जोड़ा गया, ९ मण्डल तक ही पहले ऋग्वेद था। वैदिक एज भी किसी से पीछे क्यों रहे अतः उसमें भी लिखा है कि बहुधा अथर्व के प्रकार का ऋग्वेद का दशम मण्डल बाद में जोड़ा गया।[1] पुनः लिखा है कि 'दशममण्डल प्रथम ९ मण्डलों की अपेक्षा मूल में पश्चात् काल का है। भाषा की साक्षी में यह पूर्णतः निश्चित है।[2]

पाश्चात्य विचारकों ने पूर्व में ही एक निश्चित धारणा बना ली है अतः उस लकीर को बराबर पीटते रहते हैं। यही बात वैदिक एज के लेखक ने भी की है। वेद के आन्तरिक रहस्य का ज्ञान तो किसी को है नहीं—अपनी तुक मार रहे हैं। दशम मण्डल और अन्य मण्डलों में कोई भी ऐसा भाषा-भेद नहीं पाया जाता है जो यह सिद्ध कर सके कि दशम मण्डल पश्चात् का है। वैदिकों की परम्परा में ऋग्वेद का दूसरा नाम दाशतयी है। यास्क ने १२।४० 'दाशतयीषु' शब्द का प्रयोग किया है। यह साक्षात् प्रमाण है कि ऋग्वेद में १० मण्डल सर्वदा ही रहे। अन्यथा दाशतयी नाम का अन्य कोई कारण नहीं। 'त्वाष्ट्र' में आने होने वाला पद केवल दशम मण्डल में ही पाया जाता है यह भी वैदिक एज के कर्त्ताओं का कथन मात्र है। ऋग्वेद ८।१००।

---

1 The tenth Mandala is manifestly a later addition often Atharvanic in character Vedic Age P 228

2 That the tenth Mandala is later in origin than the first nine is however perfectly certain from the evidence of the language. Vedic Age P 229

८ मे 'गत्वाय पद आया है जो 'त्वाय' से अन्त हुआ है। 'कृणु' और 'कृधि' प्रयोग भी पहले मण्डलो मे पाये जाते है। 'कुरु' का प्रयोग पाया जाना यह नही सिद्ध करता कि यह प्राकृतिक क्रिया-भाग है। प्राकृत का यह प्रयोग है—इसका कोई प्रमाण नही। कृञ् धातु का ही वेद मे कृणु, कृधि प्रयोग भी है और उसी का कुरु भी प्रयोग है। 'पृत्सु' पद का प्रयोग न होने से कुछ बिगडता नही। "पृतना" पद को भी व्याकरण के नियमानुसार अष्टाध्यायी ६।१।१६२ सूत्र पर पढे गए वार्तिक के अनुसार 'पृत्' आदेश हो जाता है। 'पृत्सु' भी निघण्टु मे संग्राम नाम मे है और पृतना भी (निघण्टु २।१७)। 'पृतना' निघण्टु २।३ मे मनुष्य नाम मे भी पठित है। 'पृतना' पद ऋग्वेद १०।२९।८, १०।१०४।१० और १०।१२८।१ मे आया है। 'पृतनासु' १०।२९।८, १०। ८३।४ और १०।८७।१९ मे पठित है। ऐसी स्थिति मे यदि 'पृत्सु' पद का प्रयोग न भी आया तो कोई हानि नही। निघण्टु २।३ मे 'चर्षणय' मनुष्य नाम मे पठित है। ऋग्वेद १०।६।५, १०।६३।६, १०।१०३।१, १०।१२६।६, १०।१३४।१ और १०।१८०।३ मे 'चर्षणीनाम्' पद आया है। १०।८९।१ मे चर्षणीधृत पद भी आया है। यदि 'विचर्षणि, प्रयोग नही है तो इससे कोई परिणामान्तर निकालने का अवकाश नही रह जाता है। ऋग्वेद १०।११९।१ मे 'गिर्वणस्यु' पद पढा गया है अत किसी-न-किसी रूप मे उसका प्रयोग विद्यमान ही है। 'गिर्वणस्यु' भी तो गिर्वणस् से ही बना है। शब्दो के अनेक अर्थ होते हैं और अनेक अर्थों के लिए अनेको शब्द होते हैं। किसी का प्रयोग किसी का न प्रयोग अन्यथा कल्पना को स्थान नही देता है। 'सीम्' का एक ही बार प्रयोग १०वे मडल मे होने से कौनसी युक्ति उसे नवीन सिद्ध करने की निकल आई। अथर्ववेद २०।२२।६, २०।३५।११, २०।७८।२, और २०।९२।३ मे सीम् का प्रयोग पाया जाता है। फिर यह कहना कि यह अथर्ववेद का अज्ञात है—सर्वथा भ्रम पैदा करना है। आज्य, काल और लोहित का इस मण्डल मे प्रथम प्रयोग होना इसकी नवीनता का कोई हेतु नही। क्योंकि सर्पि, और समय आदि शब्दो के प्रयोग इनके लिए क्रमश प्रथम मण्डलो मे आ चुके है। कल सख्याने धातु से काल शब्द बनता है। पूर्व मण्डलो मे 'कलश', 'कला', कलि आदि प्रयोग इस धातु के आ चुके है। ऋग्वेद मे यजु, साम और अथर्व वेदो का वर्णन है यह पूर्व दिखलाया जा चुका है। अथर्ववेद मे काल का वर्णन अनेको बार आया है। इसी प्रकार लोहित शब्द का भी अनेको बार प्रयोग अथर्ववेद मे आया है। फिर यह बात तो बनती नही कि १०वे मण्डल के समय मे काल और

लोहित आदि का प्रयोग नही है। यह भी नही कि ये बाद मे गढे गये हो। निरुक्त ३।१।५ पर 'लोहित-वासस' शब्द वाले अथर्व १।१७।१ मन्त्र का उद्धरण भी दिया गया है। निघण्टु २।१४ मे 'कालयति' को गत्यर्थक भी इसी आधार पर बताया गया है। इसी प्रकार 'लभ्' का प्रयोग भी अथर्व और यजु मे पर्याप्त पाया जाता है। 'रोहित' भी तो लोहित अर्थ मे प्रयुक्त होता है।

रही बात 'विजय' पद की—वह भी कोई प्रयोजन इन पूर्व-पक्षियो का सिद्ध नही कर सकती है। "विजय" शब्द विपूर्वक 'जय्' धातु से बना है। 'विजयन्ते' क्रिया ऋग्वेद २।१२।९ मन्त्र मे पडी हुई है। फिर 'विजय' पद का यदि पहले मण्डलो मे प्रयोग नही तो दशम मण्डल मे उसके प्रयोग से नवीनता की क्या बात आ गई। जय धातु के क्रिया-प्रयोग ऋग्वेद मे पचासो स्थलो पर आये है। ऋग्वेद १०।१२८।२ मे 'उरुलोक, पद आया है। परन्तु 'लोक' पद न 'उलोक' और न उरुलोक का रूप है। ये सर्वथा पृथक्-पृथक् है। ऋग्वेद ३।३७।११ मे 'लोक' पद आया है। लोकम्, लोका, लोके, आदि रूप १०वे मण्डल के अतिरिक्त प्रचुर मात्रा मे अन्य मण्डलो में आये है। 'मोध' शब्द ऋग्वेद ७।१०४।१४ और १५ मन्त्रो मे भी आया है। दशम मडल मे ही विसग शब्द नही आया है बल्कि ऋग्वद ७।१०३।६ मे भी विसर्ग शब्द है। साथ ही इसी की मूल धातु के रूप 'विसजने' पद ५।५९।३ और ८।७२।११ मे आया है। 'गुपित' पद १०म मण्डल के ८५, १०९ सूक्त म आया है। यह 'गोप' का नही बल्कि यह और गोप दोनो ही 'गुप्' धातु के प्रयोग है। ऋग्वेद ७।१०३।९ मे गुप धातु का प्रयोग 'जुगुपु' रूप आया है। गोपा पद तो विविध रूपो मे अनेको वार आया हे। पदसूची इसके लिए प्रमाण है। 'सत्र' पद भी 'सव' के रूप मे ऋग्वेद १।४१।२, ७।४१।५ मे आया है। अन्य पदो का पूर्वभाग बनकर तो अनेको बार प्रयुक्त हुआ है। 'सर्वा' और सर्वा' के रूप मे १० वे मण्डल की अपेक्षा अन्य मण्डलो मे इसका प्रयोग अधिक है। 'सर्वान्' प्रयोग प्रथम, सप्तम और अष्टम मण्डल मे ही है। 'सर्वाभ्य' प्रयोग केवल २।४१।१२ मे है। 'सर्वासाम्' प्रयोग १।१२७।८ और ५।१६१।१३ मे है। 'सर्वे' प्रयोग १।१६१।३, ७, ६।७५।१६, और ७।५५।५ मे भी है। 'सर्वम् का प्रयोग प्रथम द्वितीय, तृतीय, सप्तम, अष्टम और नवम मण्डलों मे पाया जाता है जो दशम मण्डल से अधिक है। 'सर्वया' का प्रथम, पचम और अष्टम मण्डल मे प्रयोग है।

इसी प्रकार 'भगवन्त' का प्रयोग १।१६४।४०, ७।४१।४, ५ मे पाया जाता

है जो १० वें मडल मे हैं ही नही । भगवती भी उसी का स्त्रीलिंग रूप है जो १।१६४। ४० मे प्रयुक्त है । भगवान् का प्रयोग १०।६०।१२ मे तो हैं ही परन्तु ७।४१।५ मे भी है । 'प्राण ' पद का प्रयोग ऋग्वेद १।६६।१, ३।५३।२१ मे ही है । 'प्राणनम्' पद का १।४८।१० मे प्रयोग है । अत यह कहना कि इसका दशम मण्डल मे ही अधिक प्रयोग है, ठीक नही । हृद् और हृदय शब्द एकार्थक हैं । अत हृद् का प्रयोग अन्य मण्डलो मे अधिक है । हृदय पद ६।५३।८ मे आया है । 'हृदयविध ' पद १।२४।८ मे प्रयुक्त है । 'हृदयस्य' ७।३३।६ और 'हृदया' ६।५३।५, ७ मे तथा हृदये' १।२२२।६, ६।६।६, मे प्रयोग किये गये है ।

ऋग्वेद १०।६१।१६ मे 'अदुहत्' प्रयोग पाया जाता है । परन्तु ऋग्वेद १।४८।१३ मे 'अदूक्षत, और ४।५२।५, ७।८३।३, ८।५।३ और ८।४३।५ मे अदूक्षत, का प्रयोग देखा जाता है । स्वरो का अन्तर अवश्य है । इसी प्रकार अधुक्षत् प्रयोग ८।७२।१६, १।३३।१०, और 'अधुक्षन्' प्रयोग २।३६।१, ८।३८।३ और ८।६५। ८ मे आये है । 'अधुक्षत्' प्रयोग स्वरभेद से ६।२।३ और ६।११०।८ मे प्रयुक्त है । 'दुधुक्षन्' प्रयोग जहाँ १०।६१।१० और १०।७४।४ मे मिलता है वहाँ यह ज्ञात रहे कि यह ७।१८।४ मे भी पाया जाता है । 'वक्षि' प्रयोग १।१४१।८, २।१।१०, ४।४।६ और ६।१८।१० मे विद्यमान है जबकि १० म मण्डल मे धक्षत प्रयोग १०।६।७ मे पाया जाता है । इसी प्रकार 'धक्षत्' प्रयोग भी १० वें मण्डल मे नही है परन्तु अन्य मण्डलो मे पाया जाता है। धुक्षत और धुक्षन् आदि भी प्रयोग पाये जाते है । इन आधारो को लेकर दशम मण्डल को नवीन कहना साहसमात्र है जबकि उन अन्य मण्डलो मे भी ये प्रयोग पाए जाते है जिन्हे ये लोग प्राचीन स्वीकार करते है ।

छर्दि और छदि आदि—वेदिक एज पृष्ठ ३३७ पर छन्दो-रचना के आधार पर जो भाषा का और उच्चारण का भेद बतलाने का प्रयत्न किया गया है वह भी सर्वथा अनुचित है । किसी भी काल मे 'पावक' को 'पवाक' नही उच्चारित किया गया । स्वरो का जो प्रकार वेद मे पाया जाता है वह शब्द के वास्तविक स्वरूप पर प्रकाश डालता है । अत यह कहना कि 'पावक' का पहले 'पवाक' उच्चारण होता था और इस तथ्य को परम्परा की सहिता मे दबाने का प्रयत्न किया गया है, ठीक नही । इसी प्रकार' छर्दि ' पद ऋग्वेद मे बिना 'र' के पहले था और बहुत सम्भवत बाद को मिलाने वा सस्कृत करने वालो ने कई स्थलो पर 'छर्दि ' रूप मे परिवर्तित कर दिया । परन्तु इतना वर्णन करने पर ऐसा करने के कारणो को लेखक निश्चित नही कर सक ।

यहाँ पर यह स्मरण रहे कि 'छदि' और छर्दि' दोनो ही शब्द वेदो मे गृह अर्थ मे पाए जाते है। कोई एक दूसरे का अपभ्रंश नही—बल्कि स्वतन्त्र हैं। निघण्टु मे ३।४ छदि, और छर्दि—दोनो ही गृहनाम मे पठित हैं। ऋग्वेद १०म मण्डल को वैदिक ग्रन्थ के कर्ता और दूसरे लोग पश्चात् का बना बताते है। इन पंक्तियो मे इसी पर विचार किया जा रहा है। परन्तु इस दशम मण्डल मे छर्दि पद का प्रयोग केवल एक बार अर्थात् १०।८५।१० मे हुआ है। 'छर्दि' पद का प्रयोग १०।३५।१२ मे है और साथ-ही-साथ १।४८।१५, १।११४।५, ४।५३।६, ६।१५।३, ६।४६।६, तथा ४।४६।१२, ६।६७।२, ७।७४।५, ८।५।१२, ८।६।१, १५, ८।१८।२१, ८।२७।४, ८।२७।२०, ८।८५।६, ८।७१।१४ तथा ८।८५।५ मे है। 'छर्दि' का प्रयोग ८।६।११ और छर्दिष' का ६।६७।११ मे है। देखने से यह स्पष्ट है कि छदि' की अपेक्षा छर्दि का प्रयोग कई गुना अधिक है और जहा दशम मण्डल मे 'छर्दि' का प्रयोग है वहाँ उसी मण्डल मे छर्दि का भी प्रयोग है। फिर यह कहना कि कुछ स्थलो पर 'छदि' को छर्दि बना दिया गया होगा—यह कितनी बडी अनौचित्ती है। वेदो मे छन्द' की दृष्टि मे यदि यह सभावना आपने सोचली है तो और भी बडी अनभिज्ञता है। वेदो मे अक्षर छन्द है मात्रा छन्द नही। अत जो कल्पना की जा रही है वह किसी भी प्रकार खडी नही हो सकती।

यह कहना कि 'प्राकृत' बोली का भी कुछ-कुछ रुप अति पुरानी संस्कृत मे छिपा था—सर्वथा ही गलत है। 'ह' 'ध' के लिए 'हि' 'धि' के लिए, 'ह', 'भ के लिए, 'ह' 'घ' के लिए, 'अर्ह' 'अघ' के लिए और 'दह' धघ् आदि के लिए आना प्राकृत रूप का सूचक है—सर्वथा ही त्रुटिपूर्ण है। यह वैदिक ही रुप है जो सब जगह व्यापक हो रहा है। प्राकृत मे भी संस्कृत से ही ये वस्तुवे आई—प्राकृत से संस्कृत मे नही गई। प्राकृत भाषा का संस्कृत अथवा वेदवाणी से पूर्व का होना किसी प्रमाण से भी सिद्ध नही है। सप्तम मण्डल मे यदि 'तुम् और 'तवै' का प्रयोग आपके कथनानुसार नही भी हुआ है तो इससे अन्यथा कल्पना करने का अवसर नही रह जाता है। 'तुम्' अर्थात् 'तुमुन्' के अर्थ मे वेद मे 'से', 'सेन, असे, असेन्, क्से, कसेन्, अध्यै, अध्यैन्, कध्यै, कध्यैन्, शध्यै, शध्यैन्, तवै, तवेङ्, और तवेन् प्रत्यय होते है। इनमे से किसी का भी प्रयोग कही पर वेद मे मिल सकता है। 'तुए', और 'तवै का न होगा तो अन्यो का होगा। इसमे भाषा-विज्ञान की कौनसी युक्ति मिल जाती है जो नवीनता और प्राचीनता का निर्णय दे सके।

ऋग्वेद ६।६७।१ मे 'यमतु ' और ६।७२।२ मे 'स्कम्भथु " प्रयोगो मे अभ्यास को जो द्वित्व नही हुआ है वह बहुवचन प्रयोग का अनुकरण नही है बल्कि वैदिक अभ्यास द्वित्व वाला भी होता है और बिना द्वित्व वाला भी । यहाँ बिना द्वित्व वाला प्रयोग है । यदि यह माना जावे कि इन धातुवो से वेद मे ऐसा ही प्रयोग बनता है तब भी कोई हानि नही । इसी ७२ वे सूक्त मे विविदथु, पप्रथु, दधथु जगृभथु, और विव्यथु प्रयोग है जिन मे द्वित्व किया गया है । ऐसी स्थिति मे यह कथन करने का क्या अवसर मिल गया कि ये "यमतु" और 'स्कम्भथु' बहुवचन के अनुकरण के कारण अभ्यास के द्वित्व हाने मे रह गए है ।

व्याकरण की रचना वेद मे हुई है न कि व्याकरण से वेद की । व्याकरण के नियमो और अपवादो का जब तक परिज्ञान नही है तब तक उसे भाषाविज्ञान से सिद्ध करना अथवा उसमे एक नई कल्पना निकाल लेने से कुछ भी बनने का नही । यही बात तक्षथु' (ऋग्वेद १०।३९।४) मे भी घटती है । ऋग्वद १०।५।६ मे बहुवचन मे ततक्षु । प्रयाग भी है । १।२०।२, ४।३४।६ मे भी ततक्षु प्रयोग है । फिर तीसरे वचन के अनुकरण का प्रश्न ही क्या उठता है । यहा पर तो तीसरे वचन मे ही अभ्यास को द्वित्व पाया जा रहा है । ऋग्वेद २।१९।८ मे 'तक्षु क्रिया के आधार पर ये प्रयोग नही बने है ।

'इन्द्र' को इन्दर कोई अनभिज्ञ ही पढता होगा । ऐसा उच्चारण शुद्ध उच्चारण तो कहा नही जा सकता । थिग्स को कई लोग थिगस उच्चारण कर देते है परन्तु यह उच्चारण का मान-दण्ड नही बनाया जा सकता है । ज्योतिष पद द्युत् धातु मे बनता है । परन्तु इसमे कोई प्राकल्पना नही है । 'उष्ट्राणाम्' सदा णकार के साथ ही उच्चारित होता रहा है । यह कभी 'उष्टानाम्' रहा हो यह कहना गलत है । इसी प्रकार 'नीदा' का निजदा, दूर्लभ का दुजदम और षोडश का पष दश कहना भी ठीक नही । ये केवल कल्पना की बाते है । वेद से पूर्व इनका यह रूप रहा हो । इस बात को कोई विज्ञ व्यक्ति सोच भी नही सकता है । 'सूरि ' और 'सूर ' दोनो प्रकार के शब्द पाये जाते है । सूर शब्द भी पाया जाता है । कही पर 'सूरि' का 'सूरे ' बन गया है षष्ठी विभक्ति मे और कही पर वैदिक प्रयोग 'सूर ' का षष्ठी मे भी सूर ही है । 'धृष्णवे धीयते धना' (ऋग्वेद १/८१/३) को देकर इण्डो-यूरोपियन भाषा की नई कल्पना नही खडी की जा सकती है । 'धना' पद धनम, धने, धनानि किसी के लिए भी प्रयुक्त हो सकता है । यहाँ पर यह 'धनम्' के स्थान मे 'धना' नही हुआ है—

इसका क्या प्रमाण है ?। इस प्रकार वेद की अन्त साक्षियो के आधार पर भी यह दिखला दिया गया कि वैदिक एज आदि ने जो आक्षेप भाषा की दृष्टि से किये है वे भी निराधार और निर्मूल एव सर्वथा ही भ्रान्त है। भाषा के आधार पर यह नही बतलाया जा सकता है कि ऋग्वेद का दशम मण्डल बाद का मिलाया हुआ है। भाषा का भेद दिखला सकना भी असम्भव है। कल्पनावो की उडान मे उडना और बात है भाषा के वास्तविक भेद को सिद्ध कर सकना और बात है।

ऋग्वेद के सूक्तो का क्रम-निर्धारण—ऋग्वेद मे १० मडल है और १०२८ सूक्त हैं। इन सूक्तो की रचना विभिन्न-विभिन्न कालो मे नही बल्कि एक ही काल मे हुई। मन्त्र तो सभी सहितारूप मे परमात्मा की प्रेरणा मे चार ऋषियो पर प्रकट हुए। परन्तु मन्त्रद्रष्टा ऋषियो ने सूक्तनिबन्धन का जो कार्य किया वह एक समय मे ही किया और बहुत ही वैज्ञानिक ढग पर किया। यहा पर यह स्मरण रहे कि मन्त्र की रचना किसी ऋषि ने नही की है। सूक्त, अनुवाक और अध्याय आदि का निबन्धन ऋषियो द्वारा किया गया। अभी जनवरी १९६४ मे प्राच्यविद्या के विद्वानो का एक सम्मेलन भारत की राजधानी देहली मे हुआ। इसमे ससार के विभिन्न भागो से विद्वान् सम्मिलित हुए थे। इसी अवसर पर श्री डा० हरी रामचन्द्र दिवेकर एम ए डी लिट् साहित्याचार्य, लश्कर ग्वालियर, द्वारा एक लघुकाय पुस्तिका (Chronology of Rigvedic Hymns) लिखित एव प्रकाशित की गई। इसमे भी कुछ प्रचलित पाश्चात्य विचारो का ही द्रढीकरण किया गया है अत उस पर भी यहाँ पर कुछ विचार किया जाता है।

लेखक की अपनी कल्पना—अपनी कल्पना की उडान मे इस पुस्तिका का लेखक तथ्या की कोई भी चिन्ता नही कर रहा है। वह विकासवाद का और भाषा-विज्ञान का ही सहारा लेकर चल रहा है। परन्तु इन दोनो का पहले सम्बद्ध प्रकरणो मे निराकरण किया जा चुका है। वह कहता है कि अधिक सूक्त यज्ञ से ही सम्बन्ध रखते[1] है। परन्तु यह सर्वथा ही त्रुटिपूर्ण बात है। वेद का अर्थ अधियज्ञ, अधिदैव और अध्यात्मप्रक्रिया मे होता है। प्रत्येक वेद मन्त्र के इन तीनो प्रक्रियावो मे अर्थ होते हैं। मन्त्रो का जबसे मानव पर प्रकाश हुआ तबसे ही ये तीनो अर्थ मन्त्रो के

1. A majority of these hymns postulate for its composition some form of sacrifice P 3

किए[1] जाते रहे। इनके क्रम का कोई पूर्वापर काल नही रहा है। मन्त्रो में ही इनके अर्थों के प्रकरण का ज्ञान हो जाता है। महा वैदिक आचार्य यास्क ने इन प्रकरणों पर पूरा प्रकाश अपने ग्रन्थो मे डाला है। उसको न जानकर अपनी पृथक् कल्पना करना व्यर्थ मे ही वेदज्ञ होने का अभिमान करना है। यास्क तो स्वय कहता है—"अर्थ वाच पुष्पफलमाह" अर्थात् वेद वाणी का अर्थ ही उसका पुष्प और फल है। याज्ञ, दैवत उसके पुष्प फल है, देवता और अध्यात्म भी। इस प्रकार यज्ञ, दैवत और अध्यात्म वाणी के पुष्पफल हैं। यास्क यह अपनी तरफ से नही कह रहा है। ऋग्वेद १०।७१।५ मन्त्र मे आये "वाच शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्[2]" वाक्य की व्याख्या करने हुए वह कह रहा है। इसका तात्पर्य यह है कि मन्त्र ही बतला रहा है कि वेदवाणी के त्रिविध प्रक्रिया मे अर्थ होते है। यास्कीय निरुक्त के दैवत–काण्ड और परिशिष्ट मे इस पर अधिक पल्लवन किया गया है। उसको न समझकर अपनी गप्प मारना कोई मूल्य नही रखता। यज्ञ की कल्पना मे ही मन्त्रो की रचना हुई इसका कोई भी प्रमाण वेद मे नही मिलता है। यदि इस बात को ब्राह्मण और कल्प आदि से पुष्ट किया जाता है तो उन्ही आधारो मे यह त्रिविध प्रक्रिया भी सिद्ध है।

लखक का कहना है कि 'इदन्नमम[3] की कल्पना, और जब पुन सन्देह हुआ कि यह जिनको दिया गया है उन देवो को मिलता भी वा नही तो अग्नि साधन की कल्पना और सन्देह को और अधिक दूर करने के लिए 'अमुकाय स्वाहा', 'अमुकाय इदन्नमम' आदि की कल्पनायें हुई। परन्तु वह यह कभी भी नही बतला सकेगा कि वैदिक यज्ञ कभी भी किसी भी काल मे बिना अग्नि के होते रहे हो। 'इदन्नमम' किसी भी वेद मे नही आया है। यह वेद का वाक्य नही। ब्राह्मण और कल्प ग्रन्थो का वाक्य है। कल्प और ब्राह्मण ग्रन्थ वेदो के बहुत बाद के है। फिर इन वाक्यो के आधार पर यह किस प्रकार सिद्ध किया जा सकता है कि वेद मन्त्र इस आधार पर ऋषियो ने बनाये। पहले वेद मन्त्र, पुन उस आधार पर कर्मकाण्ड मे 'इदन्नमम' की कल्पना हुई न कि 'इदन्नमम' को आधार मानकर वेद मन्त्रो की। यही स्थिति 'अमुकाय स्वाहा' की भी। एक बात और भी जानने की है कि यज्ञ-प्रक्रिया मे देवता के नाम से जहाँ आहुति दी जाती है वही पर यह 'अमुकाय स्वाहा' और 'इदन्नमम'

1 देखें निरुक्त यास्ककृत।

2 निरुक्त १।१६, देखें मेरी पुस्तक 'वैदिकज्योति' का देवताप्रकरण।

3 लेखक की पुस्तिका पृष्ठ ३।४।

का नियम है। ऐसी आहुतियाँ प्रत्येक यज्ञ मे थोडी है। मन्त्रो द्वारा होने वाली आहुतियाँ और कर्म अधिक है। इनमे न तो चतुर्थी विभक्ति लगती है और न इदन्न-मम' ही बोला जाता है। फिर इन आधारो पर एक वाद खडे करने का प्रयत्न करना समुचित नही। यह ठीक है कि यजुर्वेद मे यज्ञ-प्रक्रिया मे 'आध्वर्यव कर्म' का वर्णन है। परन्तु उसका गद्य भाग पहले बना हो और बाद मे कवितामय भाग बना हो—इस विचार के लिए कोई आधार नही मिलता है। यजुर्वेद के भी मन्त्रो मे छन्द का होना पाया जाता है। ऋग्वेद मे (१०।७१।११) ऋग्वेद से होतृकर्म करने वाले होता, उद्गाता, अध्वर्यु और ब्रह्मा—चारो ही ऋत्विजो का एक साथ ही वर्णन है। अत चारो वेदो का भी साथ ही होना पाया जाता है - नही तो यज्ञ की प्रक्रिया पूरी नही हो सकती है। अत यजु के गद्य भाग पहले है और काव्यकरण बाद मे प्रारम्भ हुआ होगा—यह परिणाम निकालना भी गलत है। मीमासाविज्ञान, कल्प और ब्राह्मण आदि का ज्ञान रखने वाला कोई भी विज्ञ उन और 'इदन्नमम' आदि के आधारो पर ऐसी उल्टी कल्पना नही कर सकेगा कि वेदो के मन्त्र यज्ञ (Sacrifice) के लिए रचे गये। यज्ञ मे मन्त्र और परमेश्वर ही देवता हुआ करते[1] है। फिर 'अमुकाय स्वाहा" से विविध देवताओ के लिए यज्ञ की कल्पना और यज्ञार्थ ही मन्त्र की रचना है यह कल्पना अपने आप सारहीन ठहर जाती है। यज्ञ मे 'यजति' क्रिया का क्या अर्थ है, देवता से क्या तात्पर्य है—आदि विषयो का जानने वाला व्यक्ति कभी भी इसका अर्थ सेक्रीफाइस नही करेगा। न उल्टी कल्पनाये ही करेगा।

गायत्री की छन्दोमयी रचना—यजुर्वेद के गद्य भाग को इस प्रकार पूर्ववर्ती बताने के बाद अपनी पुस्तक के पृष्ठ ४ पर लेखक महाशय लिखते है कि "वैदिक विकास की दूसरी अवस्था यह छन्दोमयी स्वाभाविक रचना की है। महाराज त्रिशकु के राज्यकाल मे, महाभारत से ६४ पीढी पूर्व पौराणिक परम्परा के अनुसार—'तत्सवितुर्वरेण्य भर्गो देवस्य, धीमहि धियो। यो न प्रचोदयात्' छान्दस रचना ऋषि विश्वामित्र के मुख से स्वय निकल पडी। यह विश्वामित्र गाथी है। ये गाथिन् अर्थात् गाथा मे निपुण के वशज हैं। यह ही काव्यमय रचना का प्रारम्भ था। यह ही ब्राह्मणो के वेदारभ के समय मे सर्वप्रथम पढाया जाता था और पढाया जाता

1 मन्त्रेश्वरावेव यागदेवते भवत इति निश्चय ऋ० भा० भू० पृ० ७१, दम सस्करण

है। इसके बाद दूसरो ने भी छन्दो की रचना की।"[1] यहाँ लेखक इस प्रकार गायत्री मत्र से प्रारम्भ करके समस्त ऋग्वेद (होतृवद) की रचना दिखलाना चाहता है। बाद मे यज्ञ मे गायन के आधार पर उद्गातृवेद (सामा) की रचना दिखावेगा और इस प्रकार क्रम निर्धारित करेगा। परन्तु यहा पर बतला देना आवश्यक है कि यह उसकी मन प्रसूति भी सर्वथा निरर्थक है। आजकल ऐसे अनर्गल प्रयत्न इसलिए होते रहते है कि इन प्रयत्नो के कर्त्तावो को आसानी से पूर्व प्राच्यविद्याविशारदो मे स्थान मिल जावे। दर्शन आदि क्षेत्रो मे परिश्रम करना पडता है। इस विषय मे भाषा-विज्ञान और विकासवाद के आधार ही पर्याप्त है। अस्तु।

गायत्री छन्द के रचयिता विश्वामित्र नही। ये आदि मत्रकर्त्ता भी नही। कोई भी ऋषि मत्रकर्त्ता नही। क्योंकि मत्र ऋषियो की कृति[2] नही। गायत्री मत्र ऋग्वद ३।६२।१० स्थल पर है। इस सूक्त मे १-१५ मत्रो तक का ऋषि विश्वामित्र है। १६-१८ तक का ऋषि जमदग्नि वा विश्वामित्र है। यजुर्वेद ३६।३ मे भूर्भुव स्व" के साथ यह मत्र आया है। इसका भी ऋषि विश्वामित्र है। यजु ३।३५ स्थल पर इस मत्र का ऋषि विश्वामित्र है। यजुर्वेद २२।९ पर भी इस मत्र का ऋषि विश्वामित्र है। ३०।२ पर इस मत्र का ऋषि नारायण है। सामवेद २।६।३।१०।१ पर भी यह मत्र है। यहाँ पर इसका ऋषि विश्वामित्र है। यहाँ पर इनमे से कही भी यह भाव नही निकलता कि गाथी के सुत विश्वामित्र द्वारा गायत्री मन्त्र बना। यहाँ विश्वामित्र नाम तो है परन्तु गाथी विश्वामित्र नही। दूसरी बात यह है कि जमदग्नि और नारायण भी ऋषि इस मत्र के पाए जाते है। फिर यह छन्द विश्वामित्र के मुख से निकला, इसका कोई प्रमाण नही मिलता है। सर्वानुक्रमणी मे यह आशय लिखा है कि कुशिक पुत्र गाथी और गाथी के पुत्र विश्वामित्र ने तृतीय मण्डल के मत्रो का साक्षात् किया (उन्हे रचा नही)।

गायत्री विश्वामित्र के मुख से निकल पडी इसका वैदिक परम्परा मे कोई

1 The second stage of the Vedic evolution, I believe, is marked by the spontaneous birth of such a metrical formula in the circumstances which are stated below In the reign of King Trishanku rhythmetic sentence Tat Savitur spontaneously came out of the sage Vishwamitra's mouth . This was the beginnig of the art of Verification —Page 4, 5

2 देखें मेरी पुस्तक 'वैदिक-इतिहास-विमर्श"

प्रमाणिक वर्णन नही मिलता है। दैवत ब्राह्मण ३।२ मे लिखा है कि गायतोमुखा-दुदपतदिति ह ब्राह्मणम् अर्थात् वेदराशि को शब्दायमान करने वाले प्रजापति के मुख से यह आई, अत इसका नाम गायत्री है। निरुक्त मे भी यही प्रमाण इस विषय में मिलता है। फिर विश्वामित्र के मुख से यह छन्द स्वच्छन्दता से निकल पडा—यह कहना सुष्ठु और युक्तियुक्त नही। जहाँ तक गायत्री आदि छन्दो का सम्बन्ध है—इनकी उत्पत्ति प्रजापति=परमेश्वर से ही ऋग्वेद १०।१३० सूक्त मे मानी गई है।

वेदारम्भ के समय मे गायत्री मत्र का जो उपदेश होता है उससे इस तथ्य पर कोई प्रकाश नही पडता है। चू कि यह गायत्री है और विश्वामित्र के मुख से निकली है—इस दृष्टि से तो वेदारम्भ मे इसका उच्चारण कराया नही जाता है। गोपथ ब्राह्मण पूर्वार्ध १।२ मे आया है कि वेद और छन्द सवितृ के वरेण्य है। वेदा-रम्भ मे वेद का आरम्भ होता है इसीलिए यह मत्र आचार्य द्वारा पढाया जाता है। सवितुर्वरेण्यम् से वेद अभिप्रेत है अत इस मन्त्र का प्रकरण के अनुसार आचार्य द्वारा उपदेश है।

यहाँ पर यह कहना समुचित है कि वेद-मत्रो को किसी ऋषि ने नहीं बनाया है। ऋषि तो केवल मत्रद्रष्टा है। महाराज त्रिशङ्कु के समय मे विद्यमान विश्वामित्र की तो बात ही क्या ?—गायत्री मन्त्र ब्रह्मा और मनु के समय मे भी विद्यमान था।

सूक्तो का कालक्रमिक अनुबन्ध—इस पूर्व कथित लघु पुस्तिका मे श्री दिवेकर जी ने मत्रो की रचना के क्रम को सात क्रमो मे बाँटा है। उनके अनुसार सात क्रम निम्न प्रकार हैं।—

१	विश्वामित्र युग	—६४	पीढी महाभारत	पूर्व
२	भरद्वाज युग	—६०-४५	,,	,,
३	कण्व युग	—४५-३७	,,	,,
४	अत्रि युग	—३७-३२	,,	,,
५	वसिष्ठ युग	—३२-२८	,,	,,
६	वामदेव युग	—२८-२०	,,	,,
७	शौनक युग	—२०	,,	,,

इस तालिका को देने के बाद वह पुन कहता है कि विश्वामित्र[1] के पूर्व कोई सूक्त नही बने थे और न कोई सूक्त शौनक युग के बाद बने । महाभारत कालिक वेदव्यास के द्वारा सहितावो के वर्गीकरण के बाद कोई परिवर्धन नहीं हुआ ।

यहाँ पर इस अनिष्टकारी धारणा पर विचार किया जाता है । मुण्डकोपनिषद् मे लिखा है कि ब्रह्मा देवो मे प्रथम था । उसने उपनिषद् की ब्रह्मविद्या को अथर्वा को पढाया । यहाँ पर जो क्रम दिया गया है वह क्रमिक नही बल्कि उसकी एक शृखला के मध्य मे अन्य कई युग व्यतीत हो गए है[2] । इस उपनिषद् से निम्न तालिका बनती है –

ब्रह्मा
अथर्वा
अगिर
भारद्वाज सत्यवाह
अगिरस्
शौनक

यह शौनक बहुत ही प्राचीन है । जब ब्रह्मा के समय मे यह उपनिषद् सबन्धी ज्ञान मौजूद था और इसमे वर्णित वेद भी उपस्थित थे तो फिर विश्वामित्र से मत्र रचना प्रारम्भ हुई, इसका कोई तात्पर्य नही रह जाता । यदि इन्ही कडियो के बीच मे लेखक की तालिका को भी मान लिया जावे तब भी वेदमन्त्रो की विद्यमानता विश्वामित्र से अत्यधिक पूर्व की बन जाती है । इस उपनिषद् मे यह भी लिखा है कि वेद मन्त्रो मे जिन कर्मो को क्रान्तदर्शी ऋषियो ने देखा उनका त्रेतायुग मे बहुत विस्तार था ।

यहाँ पर एक बात और भी विचारणीय है जो प्रस्तुत की जाती है । ऋक्-सर्वानुक्रमणी के अनुसार निम्न बाते मिलती है—

१ जो आगिरस शौनहोत्र होकर भार्गव शौनक हुआ उस गृत्समद ने दूसरे मण्डल को देखा ।

२ त्वैषीरथि कुशिक ने इन्द्र के तुल्य पुत्र की इच्छा करते हुए ब्रह्मचर्य का पालन किया । उसके इन्द्र ही गाथी नामके पुत्र उत्पन्न हुए । गाथी के पुत्र विश्वामित्र ने तृतीय मण्डल को देखा ।

---

1 As there exists no hymn belonging to an age before Vishwamitra there is also no hymn composed after the Saunaka Age. No addition was made after classification of Vedic Samhitas by Krishna Dvaipayan etc —Page II

2 देखे मेरी पुस्तक दयानन्द सिद्धान्त-प्रकाश । इससे सम्बद्ध विषय

३. गौतम वामदेव ने चतुर्थ मण्डल को देखा। बार्हस्पत्य भारद्वाज ने छठें मण्डल को देखा। सातवें मण्डल को वसिष्ठ ने देखा।

यहाँ पर तीसरे क्रम मे सर्वानुक्रमणीकार ने लिखा है कि गाथी के पुत्र विश्वामित्र ने तृतीय मण्डल को देखा। उसने यह नही लिखा है कि बनाया। अत यह स्पष्ट है कि इस ग्रन्थ के अनुसार विश्वामित्र तृतीय मण्डल का द्रष्टा है। परन्तु गोपथ ब्राह्मण उत्तर भाग ६।१ मे लिखा है कि विश्वामित्र[1] ने जिन सपात सूक्तो को देखा था उन्ही को वामदेव ने देखा। आजकल इन सपात सूक्तो का ऋषि भी विश्वामित्र नहीं, वामदेव है। ये सम्पात ऋचायें—एवा त्वामिन्द्र ऋ ४।१९।१-११, यन्न इन्द्र जुजुषे यच्च वष्टि ऋ ४।२२।१ ११, और कथा महामवृधत् कस्य होतु ऋ० ४।२३।१-११—है। इस प्रमाण से यह सिद्ध है कि इनका ऋषि पहले विश्वामित्र था और अब विश्वामित्र का इन पर नाम भी नही है और इनका ऋषि वामदेव है। सर्वानुक्रमणी का प्रमाण विश्वामित्र को तृतीय मण्डल का द्रष्टा बनाता है — इस चतुर्थ मण्डल का नही। वह गौतम वामदेव को चतुर्थ मण्डल का द्रष्टा बनाता है।

गोपथ ब्राह्मण के अनुसार विश्वामित्र सपात ऋचाओ का भी द्रष्टा है और बाद का द्रष्टा वामदेव है। वामदेव सपात ऋचाओ का द्रष्टा है और सर्वानुक्रमणी के अनुसार चतुर्थ मण्डल का भी द्रष्टा है। वर्तमान मे वह सपातो का ऋषि है। विश्वामित्र का नाम तक भी नही। अब यदि दिवेकर जी की कल्पना को मान लिया जावे तो कई कठिनाइयां आ पड़ती है। उनके अनुसार विश्वामित्र-युग महाभारत से ६४-६० पीढ़ी पूर्व है। वामदेव युग ५८-२० पीढ़ी है। चूँकि वामदेव इन सपातो का ऋषि है अत ये वामदेवयुग के ठहरेगे। परन्तु विश्वामित्र ने इन्हे पूर्व ही देखा था अत ये विश्वामित्र युग के ठहरेगे। श्री दिवेकर जी ही निश्चित रूप से बतावे कि ये किस युग के माने जावे। यदि विश्वामित्र युगीय सपातो को माना जावे तो ये वामदेव युग की रचना नही रह जाती क्योकि वामदेव से पूर्व ही नही बहुत पूर्व विद्यमान थे। फिर वामदेव ने इन्हे रचा यह कहना भी कोई अर्थ नही रखता है। यदि ये वामदेव-युग के है और दिवेकर जी के अनुसार वामदेव इनका कर्ता है तो फिर ये विश्वामित्र के युग मे किस प्रकार विद्यमान थे। ऐसी है समस्यायें जिनका कोई भी समाधान दिवेकर जी की कल्पना नही दे सकती है।

---

1 तान् वा एतान् सपातान् विश्वामित्र प्रथममपश्यत्
विश्वामित्रेण दृष्टान् वामदेवो असृजत। गो० उ० ६।१

इतने पर ही बात समाप्त नही हो जाती है। गोपथ ब्राह्मण उत्तर भाग ६।१ पर आगे यह भी लिखा है कि विश्वामित्र ने सोचा कि जिन सपात ऋचावो को मैंने देखा था उनका साक्षात्कार वामदेव ने भी कर लिया तो अब मैं उन सपात ऋचावो के समान दूसरी सपात ऋचावो का साक्षात्कार करूँ। अत उन्होने "सद्यो-जात ऋ० ३।४८।१-५, उदु ब्रह्माण्यैरत ऋ० ७।२३ १-६, तथा अभितष्टेव० ऋ० ३।३८।१ १०—सम्पात ऋचावो का साक्षात् किया। गोपथ ब्राह्मणकार लिखता है कि इन ऋचावो के द्रष्टा ऋषि विश्वामित्र है। 'सद्यो हजात । ३।४८।१-५ का ऋषि वर्तमान मे विश्वामित्र अकित है परन्तु ७२।२३।१-६ का ऋषि वतमान मे वसिष्ठ और ३।३८।१-१० का ऋषि प्रजापति है। यहाँ पर यह कैसी विचित्रता है कि विश्वामित्र स्वय कह रहा है कि जिन सपातो का दर्शन मैंने किया है उनका वामदेवने कर लिया अत अब दूसरी सपात ऋचावो का मै दर्शन करूँ और इन पूर्वोक्त ऋचावों के अर्थ का उसने साक्षात्कार किया। इससे यह ज्ञात होता है कि विश्वामित्र के ही काल मे वामदेव मौजूद था। अत विश्वामित्र युग और वामदेव युग की जो कल्पना श्री दिवेकर जी ने की है वह सर्वथा ही निराधार हो जाती है। इसके अतिरिक्त जब विश्वामित्र सर्वानुक्रमणी के अनुसार तृतीय मण्डल का द्रष्टा है (और श्री दिवेकर जी कर्त्ता कहेंगे) तो फिर सप्तम मण्डल जो वसिष्ठ के द्वारा दृष्ट है उस मडल के मत्र का ७।२३।१-६ का द्रष्टा कैसे हो गया। यदि होना ठीक है तो विश्वामित्र युग और वसिष्ठ युग की कल्पना कैसे खडी रह सकेगी। इसी प्रकार विश्वामित्र के द्वारा दृष्ट मण्डल के ३।३८।१-१० का द्रष्टा प्रजापति कैसे हो गया। इस प्रकार इन बातो का विचार करने पर यह भव्य भवन अपने आप गिर जाता है कि ऋषि लोग मत्र-कर्त्ता है और इन्होंने ही मत्रो को बनाया।

आगे उसी स्थल पर ब्राह्मणकार ने ऋग्वेद ३।३४।१-११ (इन्द्र पूर्वभिदा-तिरत्), ऋग्वेद ६।२२।१-११ तथा ७।१६। १-११ (यस्तिग्मश्रृग) सूक्तो का वसिष्ठ ऋषि लिखा है। सम्प्रति इनमे ३।३४।१-११ विश्वामित्र, ६।२२।१-११ के बार्हस्पत्य भरद्वाज और ७।१६।१-११ के वसिष्ठ ऋषि लिखे गए है। पुन ऋग्वेद ३।३६।१-६ (इमामूषु), ३।३० ।१-२२ (इच्छन्ति त्वा सोम्या), ३।३१। १-२२ (शासद्वह्नि) का भरद्वाज ऋषि गोपथ ने माना है। परन्तु वर्तमान जो लेख है उससे इन सूक्तो का ऋषि विश्वामित्र है। इन दोनो प्रमाणो से यह सर्वथा ही प्रकट और सिद्ध हो

जाता है कि न ऋषि मंत्रो के कर्त्ता है और न मंत्रो की भिन्न-भिन्न समयों में रचना ही हुई है। श्री दिवेकर जी की सारी योजना धराशायी हो जाती है।

शौनक युग सबसे बाद का है। यह उक्त लेखक के अनुसार महाभारत से २० पीढी पूर्व से महाभारत तक का काल है। यह लेखक और पाश्चात्य विचारधारा के लोग यह भी मानते है कि ऋग्वेद का दशम मण्डल ही सबसे बाद का है। ऐसी स्थिति मे इनकी विचारधारा के अनुसार (अपनी के अनुसार नही) यह परिणाम निकाला जा सकता है कि दशम मण्डल ही इस युग का होगा क्योकि वही इनकी दृष्टि मे सबसे बाद का है। दुर्जनतोष-न्याय से यह मान कर चलते हुए भी श्री दिवेकर जी की प्रक्रिया ठीक नही उतरती। दशम मण्डल के ५५वे सूक्त का ऋषि वामदेव का पुत्र बृहदुक्थ है। वही ५६वे सूक्त का भी ऋषि है। ११वे सूक्त का ऋषि विश्वामित्र का पुत्र अष्टक है। १२२वे सूक्त का ऋषि वसिष्ठ का पुत्र चित्रमहा है। १२६वे सूक्त के ऋषि सौभरि का पुत्र कुशिक और भरद्वाज की पुत्री रात्रि है। १५०वे और १८२ सूक्तो के क्रमश वसिष्ठ पुत्र सुमृडीक, और भरद्वाज के पुत्र शास है १६७वे सूक्त के ऋषि विश्वामित्र और जमदग्नि है। तथा १८१ वे सूक्त के ऋषि प्रथ वसिष्ठ है। श्री दिवेकर जी के युगो की तालिका से इन का समन्वय नही बटता है। जब इन सूक्तो के ऋषि ही इतने प्राचीन है तो फिर दशम मण्डल नवीन कैसे है।

दशम मण्डल के ६१वे और ६२वे सूक्त का ऋषि मनु का पुत्र नाभाने-दिष्ठ है। ऐतरेय ब्राह्मण ५।१४, तत्तिरीय शाखा ३।१।६, मैत्रायणी शाखा १।५।८ मे यह उल्लेख है कि मनु ने इन सूक्तो का नाभानदिष्ठ को उसके गुरुकुल से लौटने पर दाय भाग मे दिया। इससे यह सिद्ध है कि मनु के समय मे ये सूक्त विद्यमान थे। ऐसी अवस्था मे ये विश्वामित्र युगो आदि से भी प्राचीन ठहरेंगे। फिर यह कहना कि दशम मण्डल नवीन है—यह ठीक नही। इस प्रकार विचार करने के उपरान्त यह परिणाम निकलता है कि यह जो एक नवीन पद्धति वेदमंत्रो के काल के विषय मे निकाली गई है—इसका भी कोई आधार नही। वामदेव का वर्णन साख्य दर्शन मे मिलता[1] है। साख्य दर्शन कपिल ऋषि की रचना है। यह कृतयुग के काल के व्यक्ति है। इससे वामदेव का अति प्राचीनत्व सिद्ध है परन्तु श्री दिवेकर जी ने २० पीढी पूर्व से महाभारत तक के समय का बताया है। इस प्रकार के अनेक विरोध

1 साख्य ४।२० तथा १।१५७

है जिनका कोई समाधान नही बन सकता है। श्री दिवेकर जी की कल्पनायें किसी पुष्ट आधार पर नही है। उन्हे इतना तो समझना चाहिए था कि दशम मण्डल के जिस सूक्त को वे स्वय समझ के बाहर समझ रहे है और उसकी उपमावो को हास्यास्पद कह रहे है उसी सूक्त के कठिनतम मत्र का अर्थ महाभारत-कालिक यास्क ने अपने निरुक्त मे कर दिया है। इसी मन्त्र के शब्दो को लेकर सन्देह भी उठाया गया है और यास्क ने उसका भी उत्तर दे दिया है। वेद मे हीनोपमाये भी प्रयुक्त है। उनको न जानकर हास्यास्पद कहना अनभिज्ञता का सूचक है।

अन्त मे श्री लेखक महोदय अपनी प्रतिज्ञावो को सिद्ध करने मे एक विचित्र युक्ति देते है। वे कहते है कि यह आयोजन उन्होने ५ से अधिक दशतियो पर्यन्त दृढ़ और गम्भीर अध्ययन करने के उपरान्त लिखा है। परन्तु उन्हे यह ज्ञात होना चाहिए कि तर्क और विद्या की दुनिया मे ऐसी उक्तियो का कोई विशेष मूल्य नही होता है।

ब्रह्मा
|
वसिष्ठ
|
शक्ति
|
पराशर
|
कृष्णद्वैपायन

यह एक वंश-परम्परा है जो ब्रह्मा से लेकर व्यास तक की है। ब्रह्मा के समय मे चारो ही वेद मौजूद थे। फिर वसिष्ठ युग मे मंत्रो की रचना मानना कहा तक ठीक हो सकता है।

श्री महाशय मैकडानल अपनी पुस्तक मे लिखते है कि दशम मण्डल मे मन्यु और श्रद्धा जैसे अमूर्त विचारो की आधिकता, विश्वेदेवो की प्रधानता का होना और उषा देवी का मान कम होना दिखाई पड़ना—प्रकट करते है कि यह मण्डल नवीन[1] है। यद्यपि मैकडानल का तर्क कोई तर्क नही है फिर भी यहाँ पर यह दिखला दिया जाता है कि उनकी धारणा प्रामाणिक नही है। अन्य मण्डलो की

1 Mac Donell's Sanskrit Lite ature Page 4 -45

अपेक्षा दशम मण्डल मे ये पूर्वोक्त बाते नही पाई जाती है। नीचे की तालिका इसका स्पष्टीकरण कर देगी—

मण्डल	मृन्यु	श्रद्धा	विश्वेदेव	उषस्	उषा
१	३	३	३	३४	२३
२	२	१		६	१
३			२	१८	१
४	२		१	२७	४
५	१		१	६	३
६	१	१	२	१४	
७	६	१	१	२६	६
८	४	१	१	७	२
९	१	२	२	८	१
१०	४	५	३	२३	६

यह तालिका स्पष्टतया बतला रही है कि मैकडॉनल महोदय के मन्यु, श्रद्धा, विश्वेदेवो की प्रधानता तथा उषोदेवी का मान न्यून लिखना भ्रान्तिपूर्ण है। इस प्रकार विवेचन करके यह दिखलाया गया कि दशम मण्डल की नवीनता के विषय मे जो तर्क विपक्षी विद्वानो के है वे सर्वथा ही युक्ति और तर्क से विहीन है।

कुन्तापसूक्त—वैदिक एज का कथन है कि अथर्ववेद का २० वाँ काण्ड बाद का है और ऋग्वेद से मत्रो को लेकर बना लिया गया है। यह ब्राह्मणाच्छसी ऋत्विज के सोमयाग मे करणीय को बताने के लिए किया गया है। कुन्ताप सूक्त के पद पाठ भी नही है। १९वे काण्ड के अन्त मे एक ऐसी प्रार्थना से काण्ड की समाप्ति की गई है कि जो दृढता से सूचित करती है कि किसी समय सहिता यही पर समाप्त समझी जाती थी।[1]

अथर्ववेद का वर्णन ऋग्वेद मे भी है अत उसकी नवीनता का कोई भी प्रश्न रह नही जाता। पूर्व इस बात पर प्रकाश डाला जा चुका है कि अगर ऋग्वेद के मत्र अथर्ववेद मे आ गए तो यह नवीन किस प्रकार हो गया। मत्रो मे पाठान्तर भी है अत यह कहना कि ये ऋग्वेद के ही मत्र है—यह भी ठीक नही है। ब्राह्मणाच्छशी ऋत्विज् के लिए ही केवल इस वेद के मत्रो का ऋग्वेद से लेकर निर्माण कर लिया गया यह भी भ्रान्त धारणा है। ऋग्वेद १०।७१।२४ मे होता, अध्वर्यु उद्गाता और ब्रह्मा—इन चारो ऋत्विजो के कर्म का वर्णन है। ऋग्वेद से होता, यजुर्वेद से अध्वर्यु

1 See Vedic Age P 233

साम से उद्गाता और अथर्व से ब्रह्मा के कार्यों का निर्देश किया जाता है। ब्रह्मा चारों वेदों का ज्ञाता होता है। अथर्व का सम्बन्ध भी उसी से है। अत इस विषय मे उल्टी कल्पना करने की कोई आवश्यकता नही। कुन्ताप सूक्तो का पदपाठ न होने मात्र से वे न नवीन सिद्ध होते हैं और न यही सिद्ध होते है कि वे वेद-मन्त्र अथवा वेदभाग नही है।

अथर्ववेद का श्रौतसूत्र वैतान श्रौत्रसूत्र है। स्वर्गीय चिन्तामणि विनायक वैद्य 'वितान श्रौतसूत्र' को २००० वर्ष ईसा पूर्व का मानते[1] हैं। वैदिक एज के लेखक सर्वप्राचीन ऋग्वेद को एक सहस्र ईस्वीपूर्व का मानते हैं। अथर्ववेद तो उनकी दृष्टि मे नवीनतम है ही। अब पूछना चाहिए कि क्या अथर्ववेद से एक सहस्र वर्ष पूर्व ही उसका श्रौतसूत्र बन गया ? । जब वितान सूत्र ही इतना प्राचीन है तो फिर अथर्ववेद तो और भी प्राचीन सिद्ध ही है। गोपथ ब्राह्मण उत्तरार्ध ६।१२ मे लिखा हैं कि 'कुयम्' नाम कुत्सित का है। उसको जो तपाता है वह कुन्ताप है। जिसके कुय तप्त हो जाते है वे स्वर्ग प्राप्त करते हैं। कुन्तापसूक्तो को देखने से भी इस बात की पुष्टि होती है। इन्हे खिल होने से कुन्तापसूक्त नही कहा जाता है बल्कि पाप को तपाने वाला होने से उनका नाम कुन्तापसूक्त है।

१९वे काण्ड के जिस अन्तिम मन्त्र की प्रार्थना से अथर्ववेद की समाप्ति का सकेत बताया जाता है वह भी ठीक नही। इस मन्त्र का देवता परमात्मा होने से वस्तुत वही इसका प्रतिपाद्य विषय है। मन्त्र मे बताया गया है कि जिस परमेश्वर के कोश के समान विद्यमान ज्ञान-निधि से अथवा जिस हृदय कोष से हम वेद का ज्ञान ग्रहण करते है वा प्राप्त करते है उस परमेश्वर को हम अपने हृदय अन्तराल मे धारण करे। परमेश्वर के तपोयुक्त वेदमय पराक्रम से किया हुआ जो जो ज्ञान और कर्म है—उसके द्वारा विद्वान् लोग इस लोक मे हमारी रक्षा करे।[2]

यहाँ पर मन्त्र मे जो भाव व्यक्त किया गया है उससे यह भली प्रकार स्पष्ट

---

1 देखें वैदिक साहित्य—रामगोविंद त्रिवेदी, पृष्ठ २००

2 यस्मात्कोशादुदभराम वेद तस्मिन्नन्तरव दध्म एनम्।
कृतमिष्ट ब्रह्मणो वीर्येण तेन मा देवास्तपसावतेह ।।

अथर्व १९।७२।१

है कि कोई भी बात इसमे ऐसी नही है जो अथर्ववेद की यहाँ पर ही समाप्ति की सूचना देती हो। फिर भी उससे इस प्रकार की बात निकालना या तो अनभिज्ञता को सूचित करता है या केवल हठ और कल्पना को।

अथर्व १९।६८।१ मे भी इसी प्रकार के भाव एक मत्र मे निबद्ध है। क्या वहाँ पर ही अथर्ववेद की समाप्ति स्वीकार कर ली जावे ? मत्र का अर्थ इस प्रकार है—व्यापक[1] और अव्यापक तत्वो के रहस्य को बुद्धि से खोजता हूँ और उनसे वेद अर्थात् ज्ञान को लेकर कर्मो को करता हूँ। इसी प्रकार उस पूव मत्र का भी भाव है। इनसे किसी प्रकार की समाप्ति की सूचना नही मिलती है। पदपाठ का न होना भी कोई हेतु नही है।

ऐतरेय ब्राह्मण ऋग्वेद का ब्राह्मण है। इसका समय महाभारत का समय है। यह समय आज से पाच सहस्र वर्ष पूर्व का है। पहले इस पर प्रसगत विचार किया जा चुका है। ऐतरेय ब्राह्मण की छठो कण्डिका मे इन अथर्ववेदीय २०वे काण्ड के सूक्तो का वर्णन मिलता है। षडह के छठे दिन ३२ वी कण्डिका मे रैभी मत्रो अर्थात् अथर्ववेद २०।१२७।४ का पढना लिखा हैं। पुन परिक्षिति २०।१२७।७-१० का पढना लिखा गया है। परिक्षित का अर्थ अग्नि, सवत्सर बतलाया गया है। पुन अथर्व २०।१२७।११-१४ 'कारव्या' मन्त्रो का पाठ कहा गया है। देवो ने जो कल्याणकर्म किया वह कारव्या के द्वारा किया, अत यह 'कारव्या' हैं। ये यजमान के लिए कल्याण के दाता है। पुन 'दिशा क्लृप्ती' २०।१२८।१-५ मत्रो, प्रतिष्ठा के लिए होता जनकल्प (२०।१२८।६-११) मत्रो, इन्द्रगाथा (अथर्व २०।१२८।२-१६) मत्रो को पढता है। ३३वी कण्डिका मे ब्राह्मणाच्छसी ऐतशप्रलाप पढता है। इसका द्रष्टाऋषि ऐतश है जो 'अग्नेरायु अर्थात् अग्नि के जीवन मत्रो का द्रष्टा है। ये मत्र अथर्व २०।१२९।१ मे है। ऐतश-प्रलाप जीवन है, ऐतशप्रलाप का अर्थ छन्दो का रस है। ऐतश प्रलाप के और भी अर्थ यहाँ पर दिये गये हैं। पुन वह प्रवह्लिका मत्रो (अथर्व २०।१३३।१-६), आजिज्ञासेन्या मत्रो (२०।१३४।१-४), प्रतिराध मत्रो (२०।१३५।१-३) याज्ञवाद मत्रो (२०।१३५।४) तथा देवनीथ (२०।१३५।१-१०) मत्रो का पढता है। इसी प्रकार कण्डिका का समाप्त करते हुये—

1 अव्यमश्च व्यचमश्च बिल विष्यामि मायया।
ताभ्यामुद्धृत्य वेदमथ कर्माणि कृण्महे ॥

अथर्व १९।६८।१

अथर्व २०।१३५।७, २०।१३५।८, २०।१३७।३, २०।१३६।१-१० मन्त्रो का भी विनियोग बतलाया गया है। जब इतने प्राचीन समय में ये मन्त्र विद्यमान थे तो इन्हें नवीन कहना केवल दुराग्रह के अतिरिक्त और क्या हो सकता है। यहाँ पर २०वें काण्ड मे अथर्व-वेद मे जो 'परिक्षित' पद आया है वह ऐतरेय के अनुसार सम्वत्सर का अर्थ देने वाला है। कुरु पद का अर्थ निघण्टु मे ऋत्विक् है। अत ऋत्विक्कर्म करने वाला वा तत्सम्बन्धी पदार्थ भी कौरव्य कहा जाता है। १६वे काण्ड के अन्तिम मन्त्र का वर्णन अपनी युक्ति के लिए वैदिक एज के लेखक ने किया है। परन्तु वहाँ पर मंत्र मे तो वेद का परमात्मा से प्रकट होना बतलाया गया है। यदि वह इस बात को भी स्वीकार कर ले तो वेद के ईश्वरीय मान लेने पर यह सारा झगडा ही समाप्त हो जावे। लेखक महोदय अपने कार्य के लिए मन्त्र का हवाला देते है तो फिर मन्त्र मे वर्णित विषय को भी मानना चाहिए। अत यह स्पष्ट है कि वैदिक एज की ये सारी कल्पनायें निराधार हैं।

यजुर्वेद—वैदिक एज के लेखक का कहना है कि "यह[1] बहुधा समझा जाता है कि कृष्ण यजुर्वेद जो सर्वथा ब्राह्मण और मन्त्रो से मिश्रित है शुक्ल यजुर्वेद की अपेक्षा प्राचीन है। इस शुक्ल यजुर्वेद मे मन्त्र और ब्राह्मण पृथक्-पृथक् है और स्यात् ऋग्वेद के प्रकार के अनुरूप ऐसा किया गया है।" कृष्ण यजुर्वेद शुक्ल की अपेक्षा प्राचीन है—यह भी गलत है। यदि कोई कहे—जैसा कि श्री दिवेकर जी मानते हैं कि पहले गद्यमयी रचना थी और बाद मे छन्दोमयी हुई तो यह सर्वथा ही निराधार है क्योकि अपने को स्कालर कहने वाले सभी ऋग्वेद को सर्वप्राचीन मानते हैं, परन्तु उसमे कही पर भी गद्य भाग है ही नहीं और सबसे नवीन अथर्ववेद को ये लोग बतलाते हैं, उसमे भी कही पर गद्यमयी रचना नही है। फिर यह गद्य-मयी रचना जब प्राचीन मे भी नही और नवीन मे भी नही तो किस प्रकार इस आधार पर कृष्ण यजुर्वेद को प्राचीन कहा जा सकता है। यह कहना भी त्रुटिमय है कि शुक्ल यजुर्वेद मे ब्राह्मण और सहिता पृथक्-पृथक् है। शुक्ल यजुर्वेद मे ब्राह्मण है ही

---

1 It is generally assumed there-fore that the Black Yajurveda, with Mantra and Brahmana mixed up throughout is older than the white Yajurveda in which the Brahmana was separated from the Samhita perhaps in imitation of the Rigvedic model.

Vedic Age P 31,2

नही तो फिर पृथक अथवा मिश्रित होने का क्या प्रश्न उठता है। कृष्ण-यजुर्वेद अभिधान जिनके लिए वर्ता जाता है वे सभी शाखायें हैं। उनमे ब्राह्मण और मन्त्र दोनो का होना अथवा न होना कोई तात्पर्य नही रखता है। वे तो हैं ही मानुष। कृष्ण-शुक्ल भेद का कारण कर्मकाण्ड को दृष्टि मे लेकर मालूम पडता है। दर्श और पौर्णमास को आधार लेकर यह भेद खडा किया गया होगा। किसी को आगे किसी को पीछे करके यह बात खडी की गई होगी। शुक्ल-यजुर्वेद मे ब्राह्मण नही है। यजु सर्वानुक्रमणी को आधार मानकर लोगो ने ऐसा भेद खडा कर रखा है। परन्तु इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता ही सशयास्पद है। जब यह ग्रन्थ ही प्रामाणिक नही तो फिर इसमे कही गई बातो की क्या प्रामाणिकता हो सकती है।

सर्वानुक्रमणी के अनुसार यजुर्वेद का समस्त चौबीसवाँ अध्याय और पच्चीसवें अध्याय मे 'शाद दद्भि, पर्यन्त भाग ब्राह्मण भाग माना गया है। परन्तु शबर स्वामी आदि मीमासको ने इन्हे मन्त्र ही माना है। किसी ने भी इन्हे ब्राह्मण नही माना है। मीमासा सूत्र २।१।३१ के भाष्य मे शबरस्वामी लिखते[1] है कि यह प्रायिक लक्षण है। अनभिधायक भी मन्त्र कहे जाते है—'जैसे' वसान्ताय कपिञ्जला-नालभते।' इसी प्रकार सर्वानुक्रमणी मे १९वे अध्याय के १२-३१ पर्यन्त को ब्राह्मण भाग कहा गया है परन्तु शिक्षा वेदाङ्ग मे उपलब्ध वासिष्ठी शिक्षा मे इन सबका उद्धरण देकर इन्हे ऋक् और यजु कहा गया है और यह मीमासा के लक्षण के समान लक्षण पर आधारित है। सर्वानुक्रमणी के अनुसार यजुर्वेद के ३४वे अध्याय के प्रारम्भ से लेकर पच्चीसवे अध्याय की नवम कण्डिका पर्यन्त (अश्वस्तूपरो शाद दद्भि) ब्राह्मण भाग है जबकि वासिष्ठी शिक्षा के अनुसार इन सबको यजु माना गया है। इसी प्रकार ३०वे अध्याय की ५वी कण्डिका (ब्रह्मणे ब्राह्मणम्) से लेकर अध्याय के अन्त तक समस्त भाग ब्राह्मण है। परन्तु वासिष्ठी शिक्षा[2] के अनुसार यह समस्त भाग यजु है। वासिष्ठी शिक्षा से स्वर के प्रकार आदि पर भी प्रकाश पडता है। इस प्रकार शुक्लयजुर्वेद मे ब्राह्मण का होना ही नही पाया जाता है। एक प्रमाण श्री युधिष्ठिर जी मीमासक आदि ने अपने लेखो मे बृहदारण्यक के पुरातन भाष्यकार द्विवेदगङ्ग का दिया है। उसके अनुसार शुद्ध यजु शुक्ल-यजुर्वेद के मन्त्र है जो ब्राह्मणो से अमिश्रित है और जो ब्राह्मण-मिश्रित है वे कृष्ण हैं। इस प्रमाण से यह सिद्ध है कि

---

1 तच्चोदकेषु मन्त्राख्या (मी० २।१।३१) प्रायिकमिद लक्षणम् अनभिधायका अपि मन्त्रा इत्युच्यन्ते। यथा वसन्ताय कपिञ्जलान् आलभते। शबरभाष्य।

2 यह ग्रन्थ अन्य शिक्षाग्रन्थो के साथ मेसर्स ब्रजभूषणदास एण्ड क० बनारस से सन् १८८९ में छपा है।

शुक्ल यजुर्वेद अर्थात् यजुर्वेद संहिता मे ब्राह्मण भाग नही है। जो लोग उसमें ब्राह्मण भाग की कल्पना करते है गलती करते है। वैदिक एज का लेखक पृष्ठ ४१६-४१७ पर लिखता है कि पाणिनि को इस यजुर्वेद का परिज्ञान नही था। परन्तु यह सर्वथा ही भ्रम है। मैंने अपनी पुस्तक दयानन्द-सिद्धान्त-प्रकाश मे इस पर विचार किया है जो वेद विषय मे लिखा गया है। पाणिनि ने ब्राह्मण का प्रयोग १ बार, संहिता का प्रयोग ३ बार, छन्दोब्राह्मण का प्रयोग १ बार, ऋक् का प्रयोग एक बार किया है और ६।१।११७ मे यजु' पद का प्रयोग है। पाणिनि के अष्टक मे 'यजुष्युर ६।१।११७, यजुष्येकेषाम् ८।३।१०४ मे यजु का प्रयोग पाया जाता ही है। पुन "देवसुम्नयोर्यजुषि काठके" प्रयोग करने से सुतराम् यजु और काठक आदि का भेद सिद्ध हो जाता है। अत यह भी कथन सारहीन और तथ्यहीन है कि पाणिनि को यजु का परिज्ञान नही था।

यह भी एक विचारणीय बात है कि यदि पाणिनि के सूत्रो मे ऐसी कोई बात न होती तो उन सूत्रो का भाष्यकार पतञ्जलि अपनी तरफ से कैसे ऐसी चीजो को अपने भाष्य मे स्थान दे देता। भाष्यकार ने पाणिनि को जितना समझा था ये लेखक लोग उसका सहस्रांश भी क्या किंचिन्मात्र भी नही समझते हैं। महाभाष्यकार ने इन शाखावो को जिनमे कृष्ण यजुर्वेद का सारा ही समुदाय आ जाता है मानुष और अनित्य छन्द वाली माना है जब कि संहितावो के छन्द को नित्य माना है। जब पाणिनि संहितावो के छन्दो को नित्य मानता है[1] तो पाणिनि का हवाला देने वालो को भी यह मानना चाहिए था। यह स्वीकार कर लेने पर सारी अनर्गल योजना ही समाप्त हो जाती।

सामवेद—सामवेद के विषय मे भी वैदिक एज के लेखको का मत दे देना आवश्यक है। वैदिक एज ने सामवेद का लगभग वही रूप स्वीकार किया है जो श्री प० सातवलेकर जी मानते है। उसी प्रकार मन्त्रो की संख्या भी स्वीकार की गई है। इस पुस्तक मे लिखा गया है कि "गाने के रूप मे प्रयुक्त किए जाने वाले मन्त्र इस वेद (सामवेद) मे सर्वथा ऋग्वेद से लिए गए हैं। औंध संस्करण में दी गई संख्या

1. देखें मेरी पुस्तक 'वैदिक-इतिहास-विमर्श' और 'दयानन्द-सिद्धान्त-प्रकाश।'

के अनुसार सामवेद मे १६०३ मन्त्र हैं और उनमे भी इस वेद के अपने ६६ मन्त्र ही हैं। इनमे पुनरुक्त मत्रो का परिगणन नही किया गया है।[1]

यहाँ पर यह जानना आवश्यक है कि आर्यों की वैदिक परम्परा मे किसी भी शास्त्र मे वेदो मे पुनरुक्ति स्वीकार नही की गई है। जो मत्र कई बार आ जाते हैं उनका भी अर्थ-भेद है। इसीलिए ऋषि और देवता का भी कभी-कभी इनमे अन्तर देखा जाता है। सामवेद मे जितने मन्त्र ऋग्वेद के देखे जाते है उनमे बहुधा पाठो मे अन्तर है। पाठो के अन्तर से अर्थान्तर होना ठीक ही है। अगर ये ऋग्वेद के ही मन्त्र होते तो इनका पृथक् भाष्य करने की आवश्यकता ही क्या थी। केवल प० सातवलेकर जी के ६६ मन्त्रो का भाष्य कर दिया जाता। परन्तु भरत स्वामी आदि भाष्यकारो ने भी सभी मत्रो का भाष्य किया है। वैदिक एज के लेखक अपने तर्क को अथर्ववेद के मत्रो को बाद का सिद्ध करने के हेतु प्रमाणित करने के लिए पद-पाठ का हवाला देते है। परन्तु उन्हे मालूम होना चाहिए कि सामवेद का पदपाठ केवल ६६ मत्रो का ही नही है। यदि शेष ऋग्वेद मत्र थे तो पृथक् पद पाठ देने की आवश्यकता नही थी। सामवेद की एक सहस्र शाखाये मानी जाती हैं तो क्या इतना बडा विस्तार इन ६६ मन्त्रो का ही था। शतपथ ब्राह्मण १०।४।२। २३-२५ मे साम का परिमाण ४००० बृहती छन्दो के परिमाण का माना गया है। क्या ६६ मत्रो मे इतने बृहती छन्द बनाये जा सकते है। जिसमे पाद व्यवस्था हो वह ऋक् है। जितने भी गान के मन्त्र होगे उनमे पादव्यवस्था होनी ही चाहिए। इसीलिए साम के प्रत्येक मन्त्र "ऋच्यभूढ" है। परन्तु इसका यह अर्थ नही कि वे ऋग्वेद के ही मत्र है, पृथक् नही।

महाभारत कालिक यास्क ने निरुक्त ४।१।४ मे एक मत्र का उद्धरण दिया है। यह मन्त्र ऋग्वेद ५।३६।१ और साम ३।११।४।४ मे समान रूप मे पाया जाता है। इसमे "मेहनास्ति" पद पडे है। सामवेद उत्तरार्चिक मे इस मत्र का पाठ म+इह+ना है। ऋग्वेद के पद-पाठकार शाकल्य ने 'मेहना' को एक पद माना है और

---

1 The text used as musical notes in the Veda are moreover almost wholly drawn from the Rik-Samhita According to the figures given in the Aundh Edition of the Samveda of the 1603 Verses (not counting the repetitions) of this Veda only 99 (again not counting the repetitions) are not found in Rik-Samhita
— Page 230

सामवेद पदपाठकार गार्ग्य ने इसे तीन पद माना है। यास्क ने दोनों को ही ठीक माना है। यह स्थिति है। जब साम का पदपाठ तक यास्क के समय मे था और पदपाठ ऋग्वेद के पदपाठ के होते हुए भी पृथक् किया गया तो फिर यह कहना कि सारे मन्त्र ऋग्वेद के है—कहाँ तक सगत माना जा सकता है। यास्क ने निरुक्त मे "येन देवा पवित्रेण" मन्त्र दिया है जो सामवेद (५।२।८।५) उत्तरार्चिक मे है। यह सामवेद का ही मन्त्र है, अन्यत्र उपलब्ध भी नही। अधिक विस्तार मे न जाते हुए यहाँ पर यही कहना उचित है कि वर्तमान सामवेद-सहिता मे विद्यमान सभी मन्त्र सामवेद के ही है।

ऋग्वेद और यज्ञोपवीत—यह भी कहने और लिखने का साहस लोग करते है कि यज्ञोपवीत सस्कार ऋग्वेद मे नही मिलता है। परन्तु वे इस बात को भूल जाते हैं कि आश्वलायन आदि गृह्यसूत्र ऋग्वेद पर आधारित हैं। यदि ऋग्वेद मे यह सस्कार वा यज्ञोपवीत नही है तो फिर इन सूत्रो मे किस आधार पर ये सस्कार लिखे गये। अगर यह ही मान लिया जावे कि नही है तब भी क्या हानि? चारो वेदो का स्थान समस्त वाङ्मय मे एक ही सा है। सब एक ही समय के और सभी ईश्वरीय ज्ञान माने जाते हैं। अत सभी शिक्षाये मान्य हैं और उनके आधार पर सस्कार किये जाते है। ऋग्वेद ३।८।४ (युवा सुवासा परिवीत आगात्) मन्त्र यज्ञोपवीत सस्कार मे गृह्यसूत्रो मे विनियुक्त है। इसमे 'परिवीत' पद भी पडा है जो यज्ञोपवीत की सूचना देता है। आश्वलायन-गृह्य-सूत्र मे भी इस मन्त्र का यज्ञोपवीत सस्कार मे विनियोग है।

चार वर्ण चार आश्रम—समाज मे मानव के गुण-कर्म और स्वभाव के अनुसार चार विभाग किए जाते हैं। वेद के अनुसार ये चार विभाग – ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र है। वेद मे मनुष्य के लिए कृष्टि पद का प्रयोग है। कृष्टि पद कृष् धातु से बना है। इसका अर्थ है कि वह सस्कृत और कृषि आदि का जानने वाला है। सस्कृत व्यक्ति (Cultured man) ही मनुष्य है। 'पञ्चजना' 'पच कृष्टय' आदि प्रयोग वेद मे पाए जाते हैं। चार तो गुण, कर्म और स्वभाव के अनुसार वर्ण हैं और पाँचवाँ विना वर्ण का—इस प्रकार सब पाँच प्रकार के मनुष्य है। इन सबको वेद के कर्म यज्ञादि का समान अधिकार है। वेदो मे "ब्राह्मणो ऽस्य मुखमासीद्" आदि मन्त्रो मे ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णों का स्पष्ट वर्णन है। वेदो के आधार पर ही धर्मसूत्रो और स्मृतियो मे इन वर्णों के कर्त्तव्य बताये गए है।

वेदों में जन्म से वर्णव्यवस्था का प्रतिपादन नहीं है। कई लोग कहते हैं कि ब्राह्मण आदि में जो व्याकरण के प्रत्यय है वे अपत्यार्थक है। अत ये जन्मना माने जाने चाहिएँ। परन्तु ऐसा नहीं है। ब्रह्माधीते तद्वेद इति ब्राह्मण । वेद का अध्ययन करने वाला और ज्ञाता ब्राह्मण है। इसी प्रकार क्षत्रिय आदि शब्दो की निष्पन्नता भी अन्य नियमों से हो सकती है। इसके लिए मेरी पुस्तक वैदिक ज्योति का वर्ण विभाग प्रकरण देखें। राज्य-सभा[1] गुण, कर्म और स्वभाव के अनुसार वर्ण का निधारण करे। यह निर्धारण आचार्य के दिए निर्णय पर हुआ करता है।

इसी प्रकार आश्रम भी चार मान गए है – ब्रह्मचर्य, गृहस्थ वानप्रस्थ और सन्यास। पञ्च-जना, पञ्चविश, पञ्चकृष्टय —शब्दो से जहाँ चारो वण और एक अवर्ण अभिप्रेत है वहाँ उससे चार-चार आश्रम और एक अनाश्रम वाले भी अभिप्रेत है। वर्ण व्यवस्था के साथ आश्रम-व्यवस्था का भी सम्बन्ध है। यही कारण है कि जहाँ धर्मसूत्रो और स्मृतियो मे वर्णव्यवस्था का प्रतिपादन है वहाँ साथ-ही-साथ आश्रम-व्यवस्था का भी प्रतिपादन है। यास्क ने 'पचजना' के इस रहस्य को भली प्रकार समझा था। अत उसने जहाँ चार वर्णों का और पाँचवें निषाद से औपमन्यव का[2] मत दिया वहाँ इत्येके कहकर चार आश्रम और एक बिना आश्रम वाले विचार का भी प्रतिपादन कर दिया। यास्क दोनो का समन्वय चाहता है। आश्रम मर्यादा सम्बन्धी अर्थ लेने पर गन्धर्व, पितर, देव असुर और राक्षस—ये पाँच प्रकार के मनुष्य गृहीत होगे। गन्धर्व का अर्थ ब्रह्मचारी है क्योंकि वह वेदवाणी और इन्द्रिय का सयम करता है। तथा 'पितर' का अर्थ वानप्रस्थ है। 'देव' का अर्थ सन्यासी है। असुर पद वेद मे अच्छे और बुरे और उससे विपरीत दोनो अर्थों मे है— यह पहले बताया जा चुका है। अत अपने और दूसरे के प्राणो का धन, अन्न आदि से रक्षक होने से गृहस्थ ही यहाँ 'असुर' पद से अभिप्रेत है। 'रक्षस्' वह है जो आश्रम-मर्यादा का पालन नहीं करता है।

ऋग्वेद १०।१०९।५ मे 'ब्रह्मचारी'[3] का वर्णन है। अथर्ववेद मे एक पूरा सूक्त

---

1 य कामये त तमुग्र कृणोमि त ब्रह्माण तमृषि त सुमेधाम्।

ऋग्वेद १०।१२५।५

2 गन्धर्वा, पितरो, देवा असुरा रक्षासीत्येके।
चात्वारो वर्णा निषाद पचम इत्यौपमन्यव ॥ नि० ३।७

3 ब्रह्मचारी चरति वेविषद्विष स देवानां भवत्येकमंगम्। १०।१०९।५

ही है जो ब्रह्मचारि-सूक्त कहा[1] जाता है। अन्यत्र भी वेदो में इस आश्रम का वर्णन मिलता है। वेदो मे विवाह सस्कार सम्बन्धी जितने मत्र हैं सभी गृहस्थ धर्म का प्रतिपादन करते है। गृहस्थाश्रम का विशेष वर्णन वेदो मे मिलता है। इस ब्रह्मचर्य और गृहस्थाश्रम के वेद-प्रतिपादित होने मे सभी सहमत है। आपत्ति वानप्रस्थ और सन्यास पर लोग उठाते हैं। अत उस पर विचार किया जाता है।

वानप्रस्थाश्रम को तप, श्रद्धा और दीक्षा का आश्रम कहा जाता है। अतः अथर्ववेद १९।४०।३ का भाव इसी विषय की ओर स्पष्ट सकेत कर रहा है। यजुर्वेद २०।२४[2] मे कहा गया है कि हे व्रतपते भगवन्! मै तुझमे स्थिर होकर समिधा धारण करता हूँ। व्रत, श्रद्धा को प्राप्त करता हूँ। दीक्षित होकर मै अपनी आत्मा में तुझे प्रकाशित करता हूँ। इसी प्रकार वेद के तप और श्रद्धा पदो को मुण्डकोपनिषद् ने सीधा ही ग्रहण कर लिया है और कहा है कि शान्त विद्वान् जन तप और श्रद्धा की सिद्धि के लिए भिक्षाचरण करते हुए जगल मे वसते अर्थात् वानप्रस्थ का पालन[3] करते है। ऋग्वेद ६।२४।१० मे लिखा है कि— हे राजन्! हम दूर हो वा समीप हों हमारी सर्वत्र रक्षा कीजिए। हम उत्तम सन्तानो वाले होकर (गृहस्थ रूप मे) घर मे हो चाहे (वानप्रस्थ रूप मे) अरण्य[4] मे हो। वानप्रस्थ के लिए मुनि शब्द का भी प्रयोग वेद मे पाया जाता है। ऋग्वेद ७।५६।८ मे मुनि की उपमा दी गई है। ऋग्वेद ८।१७।१४ मे लिखा है कि इन्द्र मुनियो का सखा (इन्द्रो मुनीना सखा) है।

सन्यासाश्रम चतुर्थ आश्रम है। इसका भी वेदो मे विधान है जो लोग कहते है कि वेद मे सन्यास का विधान नही है वे गलती पर हैं। यदि वेद मे सन्यास का वर्णन न होता तो धर्म-सूत्रो और स्मृतियो मे भी उसका होना न पाया जाता क्योकि ये तो श्रुति के पीछे चलने वाले है। ऋग्वेद ७।७२।७ मे "यतय देवा" का वर्णन आया है। आधियाज्ञिक अर्थ इसका निम्न प्रकार होगा—

हे देव=पूर्ण विद्वान् यतय=सन्यासिजन[5]। जिस प्रकार आकाश मे सूर्य

1 अथर्व ११वे काण्ड का ५वाँ सूक्त।

2 अभ्यादधामि समिधमग्ने व्रतपते त्वयि। यजु। २०।२४

3. मुण्डक १।२।११॥

4. अमा चैनमरण्ये पाहि···· ऋग्वेद ६।२४।१०

5. यद्देवा यतयो यथा भुवनान्यपिन्वत। अत्रा समुद्र आगूढ मासूर्यमजभर्तन।
ऋ १०।७२।७

अपनी किरणो से व्याप्त है उसी प्रकार इस तुम्हारे हृदयाकाश मे सबका प्रकाशक परमेश्वर छिपा हुआ व्यापक हो रहा है। उसको ज्ञान से अपने अन्दर धारण करो और आनन्द को प्राप्त करो। जिस प्रकार सूर्य लोगो को सदा प्रकाश दान से सुखी करता है उसी प्रकार आप लोग ज्ञानोपदेश से लोगो को तृप्त करे। इसी प्रकार ऋग्वेद ८।२।६ मे भी सन्यासी का वर्णन मिलता है। मन्त्रार्थ निम्न प्रकार है—

'हे[1] उग्र इन्द्र=शक्तिमत् परमेश्वर ! जो यति=सन्यासी है वे भी आपकी स्तुति करते हैं और जो भृगु=शरीर की ममता से दूर रहने वाले तपस्वी सन्यासी है वे भी तुम्हारी स्तुति करते है। हे भगवन् ! मेरी भी पुकार को सुनो। वेद मे यति पद सन्यासी के लिए प्रयुक्त है। ऋग्वेद ८।३।६ मे 'यतिभ्य' पद आया है। ऋग्वेद ६ मण्डल का ११३वां सूक्त सन्यास से सम्बन्ध रखता है। इस प्रकार चारो आश्रमो का वेद मे वर्णन है। कुछ लोग यहाँ पर यह शका करते है कि गृहस्थाश्रम के लिए जो मन्त्र बोला जाता है उसमे यह कहा गया है कि तुम दोनो इस घर मे रहो। तुम्हारा वियोग न हो। लम्बी आयु प्राप्त करो। पुत्र, पौत्र आदि से खेलते हुए प्रसन्न होकर अपने घर मे रहो।[2] जब मन्त्र मे पुत्र-पौत्र के साथ घर मे ही विद्यमान रहने को कहा गया है तो फिर वानप्रस्थ और सन्यास का प्रश्न ही कहाँ रह जाता है ?। इसका समाधान यह है कि किसी एक के मरण के अनन्तर पति-पत्नी का वियोग होता है वा नही। यह तथ्य और सर्वथा प्रत्यक्ष है कि होता है। इससे इन्कार किया नही जा सकता है। तो पूछना है कि इस मन्त्र मे बिना लिखा हुआ होने पर भी यह होता है उसी प्रकार वानप्रस्थ और सन्यास भी हो सकते है और मन्त्र की शिक्षा मे कोई अन्तर नही आवेगा। यदि कहा जावे कि 'आयु' शब्द से यह निकल आवेगा कि आयुपर्यन्त वियुक्त मत होवो। तो 'आयु' शब्द से ही गृहस्थ जीवन के लिए निश्चित समस्त आयुर्भाग को पुत्र-पौत्र आदि के साथ खेलते हुए भोगो—यह अर्थ भी निकल आवेगा।

यह कहना कि किसी वानप्रस्थ और सन्यासी का मन्त्रद्रष्टा होना नही पाया जाता है—यह भी ठीक नही। भृगव अत्रय और 'शत वैखानसा' आदि से इन कोटि के ऋषियो का ही बोध है।

अन्न और कृषि आदि—वेदो मे कृषि का वर्णन है। कहा गया है कि द्यूत

1 य इन्द्र यतयस्त्वा भृगवो ये च तुष्टुवु। ममेदुग्र श्रुधी हवम्॥ ऋ ८।६।१८

2. इहैव स्त मा वियोष्टम्। ऋग्वेद १०।८५।४२

नही खेलना चाहिए —खेती करनी[1] चाहिए। ऋग्वेद मे ४।५७।१ मे 'क्षेत्रपति' का वर्णन है। क्षेत्रपति होना आवश्यक है यदि कृषि करनी है। इस सूक्त मे लागल=हल, अश्व, वरत्रा=रस्सो, सीता=हल की लकीर, आदि का वर्णन है। पुन मत्र ८ मे कहा गया है कि हल से भूमि को फाड दिया जावे। घोडो आदि से खेत को जोता जावे। यजुर्वेद १८।१४ मे कृष्टपच्या और अकृष्टपच्या कृषि का वर्णन है। ऋग्वेद १०।१०१।३ मत्र मे बताया गया है कि हल और उसके जुवे को जोडकर खेत को जोत डालो। पुन उसमे बीज डालो। उसकी सिचाई आदि करने पर फस्ल को हँसिये से काट लेना चाहिए। ऋग्वेद १०।४८।७ मे खल=अर्थात् खलिहान और पर्श अर्थात् सटकने की पूलियो का वर्णन है। यजुर्वेद १८।१२ मत्र मे व्रीहि, यव, माष, तिल, मुद्ग, खल्व, प्रियगु, अणु श्यामाक, नीवार, गोधूम, और मसूर आदि अन्नो का वर्णन किया गया है। अथर्ववेद १८।४।३३-३४ मत्रो मे एनी, श्येनी, हरिणी, कृष्ण और रोहिणी नाम के धानो का वर्णन है।

धातु—यजुर्वेद १८।१३ मे मृत्तिका, गिरि, सिकता, हिरण्य, अयस्, श्याम, लोह, सीस और त्रपु का वर्णन है। इसी प्रकार अन्य धातुवो का वर्णन भी पाया जाता है।

विज्ञान, गणित आदि—वेद मे ऊँची कोटि का गणित विज्ञान पाया जाता है। इसमे गणित के सभी प्रकार आ जाते है। इसका विशद वर्णन पृथक् पुस्तक मे किया जावेगा। इसी प्रकार यहाँ पर विविध विज्ञानो का भी वर्णन नही किया जा रहा है। क्योकि ग्रन्थ बहुत बढ जावेगा। इन समस्त विज्ञानो के सम्बन्ध मे एक पृथक् ग्रन्थ लिखा जावेगा।

दर्शन-विज्ञान के सम्बन्ध मे मैने एक पृथक् पुस्तक मे उल्लेख किया है। वह 'दर्शन तत्व विवेक' है। इसमे मनोविज्ञान, तर्क, आदि सभी विषयो पर विशेष विचार किया गया है और वेदो मे सबका मूल इस ग्रन्थ मे दिखलाया गया है। जो लोग दर्शन के विस्तार मे दाक्षिणात्य तत्वो की प्रधानता मानते हैं उनका भी युक्तियुक्त निराकरण इसी ग्रन्थ मे कर दिया गया है। गणित सम्बन्धी कुछ वर्णन मैंने अपनी पुस्तक वैदिक-ज्योति भी कर दिया है।

शिक्षा-विज्ञान शिक्षा का प्रकार वेद मे आचार्यकुल अथवा गुरुकुल प्रणाली से वर्णित है। उपनयन के ब्रह्मचारी वेदारम्भ के साथ गुरुकुल मे प्रविष्ट किया जाता

1 ऋग्वेद १०।३४।१३

है और गायत्री के उपदेश से उसकी शिक्षा को आचार्य प्रारम्भ करता है। गुरुकुल का जीवन व्रत और ब्रह्मचर्य का जीवन होता है। ब्रह्मचर्य २४ वर्ष का वसु सज्ञक है। ३६ अथवा ४४ वर्ष के ब्रह्मचर्य को रुद्र और ४८ वर्ष के ब्रह्मचर्य को आदित्य कहा जाता है। इसी क्रम से वसु, रुद्र और आदित्य सज्ञा इन ब्रह्मचारियो की हुआ करती है। गाय जैसे सर्वोपकारी पशु की ऋग्वेद मे इनके साथ माता, दुहिता[1] और स्वसा की उपमा के साथ सम्बन्ध दिखलाया गया है। यजुर्वेद मे आदित्य, रुद्र, वसु[2] विद्वानो के द्वारा यज्ञ की अग्नि का समिन्धन करना वर्णित है। इन सज्ञा के विद्वानों को पूर्व खिला पिलाकर पुन गृहस्थ भोजन करे— इस बात की शिक्षा विवाह मे वर के मधु-पर्क भक्षण करते समय दिखलाई गई है। वह पहले इनको स्मरण करके पुन मधुपर्क को खाता है। इन्ही वैदिक आधारो को लेकर मनु ने रुद्र, वसु और आदित्य की परिभाषा की है। मनु कहते हैं कि वसु पितर कहे जाते है, रुद्र पितामह कहे जाते है और आदित्यो को प्रपितामह कहा जाता है। यह सनातनी श्रुति[3] है। जब तक वद की यौगिक परिभाषावो को न समझ लिया जावे तब तक अनेको प्रकार की त्रुटियाँ वेदो के समझने मे हो सकती है। यही कारण है कि लोगो ने अपनी खीचा-तानी करके भिन्न-भिन्न विपरीत परिणाम निकाले है।

शिक्षा के मुख्य उद्देश्य का वणन वेद के आचार्य पद की व्याख्या मे निकल आता है—जो भाषा का ज्ञान, बुद्धि का विकास और आचार का ग्रहण कराना है। ऋग्वेद ७।१०३।१, ५ मन्त्रो मे यह दिखलाया गया है कि जिस प्रकार मण्डूक एक दूसरे को बोलता देखकर टर्र-टर्र करते है उसी प्रकार शिक्षणीय गुरु के शब्दो को दोहराता है।

शिक्षा का क्षेत्र वेद की दृष्टि मे बहुत व्यापक है। अथर्ववेद ११।५।२ मे तीन समिधावो की व्याख्या करते हुए यह प्रकट किया गया है कि वेदारम्भ की तीन समिधावो मे से प्रथम से पृथिवी, दूसरी से अन्तरिक्ष और तीसरी से द्युलोक का समस्त ज्ञान प्राप्त करना सगृहीत है। अध्यात्म का ज्ञान पृथक् वर्णित किया जाता है। इस प्रकार तीनो समिधावो मे समस्त व्यापक ज्ञान-क्षेत्र की सीमा निर्धारित

1 माता रुद्राणां दुहिता वसूनाम्—ऋग्वेद ८।१०१।१५

2 पुनस्त्वादित्या रुद्रा वसव समिन्धताम्। यजु १२।४४

3. मनु ३।२८४

सी हो जाती है। वेद तो अनन्त ज्ञान के भण्डार हैं। उनके अध्ययन को ब्रह्मचारी का मुख्य प्रयोजन कहा गया है।

बालक एक आत्मा है जो मन, बुद्धि और शरीर आदि से युक्त है। उसमें ज्ञान-ग्रहण की एक शक्ति है। इस ग्रहण-शक्ति से वह युक्त है। ब्रह्मचारी की हृदय-गुहा में दो कोष हैं जो ज्ञान-विज्ञान से पूरित रहते हैं। आचार्य का कार्य उनको सुधार कर विकसित कर देना है। ब्रह्मचारी की इस गुहानिधि मे समस्त विश्व का ज्ञान निगूढ है। शिक्षा का कार्य यह है कि गुहा में निहित ज्ञान को बाहर के ससार से मिला दे । अथर्ववेद ११।५।१०-११ मत्र मे यह भाव भरा हुआ है।

छात्र मे किन कारणो से शिक्षा का बीज नही जमता और इनको हटाकर न्यूनतावो की पूर्ति की जावे–इसका प्राजल वर्णन यजु ६।१५ मे मिलता है जो निम्न प्रकार है—

१—मन दोषरहित हो।

२—वाक् दोषरहित हो।

३—प्राण दोषरहित हो।

४—नेत्र दोषरहित हो।

५—श्रोत्र दोषरहित हो।

६—जो वासनाजनित बुराई है वह दूर हो।

ये ऊपर कही गई वस्तुवे ऐसी है कि यदि शिक्षा के सत्र को सफल बनाना है तो अध्यापक आदि को इनका ध्यान रखना चाहिए। बालक की आत्मा, शरीर, मन सभी का विकास शिक्षा मे आवश्यक है। सबसे उत्तम और आवश्यक उद्देश्य शिक्षा का है चरित्र का निर्माण (Character-building)। वैदिक शिक्षा-पद्धति मे इसका विशेष ध्यान रखा जाता है। यजुर्वेद ६।१४ मे स्पष्ट शब्दो मे आचार्य द्वारा विद्यार्थी को कहलाया जा रहा है कि "तुम्हारे चरित्र[1] को शुद्ध पवित्र करता हूँ।" शिक्षा का एक उत्तम दर्शन वेदो मे दृष्टिगोचर होता है। शिक्षा और मानव जीवन का परम उद्देश्य सत्य की खोज है। वेदानुसार उस खोज का क्रम व्रत, दीक्षा, दक्षिणा, श्रद्धा और सत्य है। श्रद्धया सत्यमाप्यते का यही भाव है। शिक्षा मे मनोविज्ञान का एक उच्च स्थान है। वेद मे मनोविज्ञान अत्यन्त उच्च कोटि का पाया जाता है। शिवसकल्पसूक्त मे ही मनोविज्ञान का उदात्त रूप देखने को मिल जाता है। प्रत्येक

1 चरित्रांस्ते शुन्धामि। यजु ६।१४

व्यक्ति समाज की एक इकाई है। अत समाज का उत्थान भी उसका परम धर्म है। वैदिक शिक्षा म सामाजिक उन्नति का भी पूरा अवसर रहता है। ज्ञान-विज्ञान के लिए पर्याप्त अवसर विद्यार्थी को दिया जाता है। यह बात यहाँ पर नही भूलनी चाहिए कि वैदिक शिक्षा-पद्धति केवल भौतिक दर्शन पर नही आधारित है। उसमे आत्मा और प्रकृति दोनो का सन्निवेश है। समाज की समस्या केवल भौतिकी अथवा आर्थिकी ही नही है। यह प्रकृति पुरुषात्मक और विश्वासमोद्भलक है।

कुछ अन्य साधन—ऋग्वेद ९।११२ सूक्त मे कारु, भिषक्, आदि के रूप मे अनेक कर्मों का वणन मिलता है। खेती, वाणिज्य, गोरक्षा वा पशुपालन आदि अन्य अनेक साधन बतलाये गए है। वस्त्र का निमाण सिलाई आदि का भी वर्णन मिलता है। धन जहा एकत्र करने का विधान है वहा पर उसको जन-हितार्थ दे देने का भी विधान है। ऋग्वेद १०।११७ सूक्त म धन और उसके दान का विशेष रूप वर्णित है।

प्रथम मंत्र मे मानव को यह शिक्षा दी गई है कि भूखो की ही मृत्यु नही होती है, अधिक खान वालो की भी होती है। अत धन-सचय करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए। दान दाता का धन घटता नही और कजूस का धन किसी लाभ का नहीं होता है। पाचवे मत्र मे बताया गया है कि धन तो गाडी के चक्के की भाँति घूमने वाला है और एक से दूसरे पर जाता-आता रहता है। वह मूर्ख आदमी जो अपने एकत्र धन का उपयोग केवल अपने लिए ही करता है—अन्यो को नहीं देता है—मानो स्वय अपनी मौत बुलाता है। वह वस्तुत अकेला उपयोग करके बडा भारी पाप करता है। यह भाव छठे मत्र म पाया जाता है। धनी अपने धन को सदा दूना, तिगुना चौगुना और उसमे भी अधिक करने की इच्छा से प्रवृत्त रहता है। परन्तु उसे परमेश्वर के नियम और प्रकृति के महान् मार्ग का ध्यान रखते हुए धन को दान म प्रयुक्त करना चाहिए। इतने उत्तम प्रकार के समाजवाद का उपदेश करने के बाद भी वेद की शिक्षा एक दोष की ओर ध्यान को विशेष आकृष्ट करती है। वह यह है कि धन की समाज मे व्यवस्था तो की जा सकती है परन्तु समाज म सभी मनुष्यो म पूर्ण साम्य नही स्थापित किया जा सकता है। सर्वथा साम्य सृष्टि के नियम के ही अनुकूल नही है। नववे मत्र मे उदाहरण देकर स्पष्टीकरण किया गया है कि "दानो हाथ समान है परन्तु दान और कार्य मे दोनो की समानता नही है। एक ही गाय की दो सन्तानो मे समान मात्रा मे दूध नही होता है। युगल जोड़वा

सन्तान एक माता से साथ ही उत्पन्न होते हैं परन्तु दोनो के बल मे समानता नहीं होती है, एक ही वश के दो व्यक्ति समान दान वाले नहीं होते हैं। कितना सुन्दर उपदेश यहाँ पर दिया गया है।

जब तक ससार मे लोभ, तृष्णा और शोषण है सारी सामग्री रहते हुए भी मनुष्य भूखा, नगा, प्यासा ही बना रहेगा। ऋग्वेद ७।८९।४ मत्र मे इसका सुन्दर वर्णन इस प्रकार है—

हे भगवान् ! गले भर पानी मे बैठा हुआ भी मैं प्यास से मर रहा हूँ। मेरी रक्षा करो। रक्षा करो।

इसके अतिरिक्त, समुद्री नौका (जहाज) विमान आदि से और अन्य प्रकार के यानो से व्यापार का भी वर्णन वेद मे पाया जाता है। उत्तम-उत्तम गृहो का निर्माण आदि भी बताया गया है। औषधि आदि के निर्माण मे तो कमाल का विज्ञान वेदो मे मिलता है। भारत का वैज्ञानिक एव उच्चस्तरीय आयुर्वेद वेदो की ही देन है। नौ-निर्माण और विमान-निर्माण आदि विषयो का वैदिक साहित्य[1] मे विशिष्ट वर्णन हे।

सिचाई-साधन—वैदिक-साहित्य मे आवट, काट, कुल्या, सर सरसी, प्रपा, कूप, नदी और गर्त आदि जलस्रोतो का वर्णन मिलता है। आवट का सामान्यत कूप अर्थ है। परन्तु वेद मे इसका प्रयोग जलाशय के अर्थ मे मिलता हे। वेद की कुल्या का अर्थ कृत्रिम नदी है। यही नहर है। यह नदी से निकाली जाती है। अथर्ववेद तीसरे काण्ड के १३वे सूक्त मे नदियो से नहर खोदने का वर्णन मिलता है। अन्य सरस् आदि साधन भी सिचाई के कार्य के पूरक हैं।

आर्य-भोजन—वैदिक एज मे एक गलत धारणा यह फैलाई गई है कि अतिथियो के सत्कार के लिए विवाह के समय गायो को मारा जाता था।[2] वेद मे गौ को अघ्न्या[3]

1. देखें मेरी पुस्तक शिक्षणतरङ्गिणी।

2. The guests are entertained with the flesh of cows got killed on the occasion (of marriage). —Page 389

3. The cow receives the epithet of Aghnya not to be killed in the Rigveda, and is otherwise a very valued possession.. . . we remember the following. —Page 393

कहा गया है फिर उसके साथ इस बात का समन्वय कैसे होगा ?। इसका उत्तर देते हुए वैदिक एज के कर्त्ता युक्ति देते है—

१ बैल का मास खाया जाता था गाय के मास की अपेक्षा। शीघ्र ही इनमे यह एक भेद कर लिया गया था।

२ चू कि देवताओ को प्रसन्न करने के लिए अपनी बहुमूल्य से भी मूल्यवान् वस्तु दी जाया करती थी अत गोमास यज्ञ के अवसर पर ही खाया जाता था।

३ ऋग्वेद मे भी केवल वशा (बन्ध्या गौ) का ही यज्ञ मे बलिदान होता था। उदाहरण के रूप मे ऋग्वेद ८।४३।११ मे अग्नि को 'वशान्न कहा गया है। ऋग्वेद १०।५८।३ मे 'अतिथिनी गौ'। भी उसी भेद को प्रकट करती है।

यहाँ पर कुछ विचार इस विषय पर किया जाता है। सबसे अधिक महत्व की बात यह है कि आर्यों के भोजन मे कही पर मास का भी वर्णन नही—गोमास और बैल के मास की बात तो सर्वथा ही दूर है। फिर यह सारी निराधार कल्पनायें खडी करने वाले कितने निचले स्तर पर उतर रहे है यह स्वय देखने और समझने की बात है। आर्यो के भोजन मे अन्न, अन्ननिर्मित विविध वस्तुवे, दुग्ध दधि, घृत और दुग्ध आदि मे बनने वाला वस्तुवे, ओषधियो का रस, फल मूल आदि आते है। अथर्ववेद २।२६।४ मे धान्य का रस, और गौ का दूध खाद्य है—यह बताया गया है। आज्य घृत को भी वही पर वर्णित किया गया है। पुन अथर्व ४।२७।३ मे लिखा गया है कि धेनुवो का दूध, ओषधियो का रस और घोडो के वेग को विद्वान् लोग पसन्द करते है और प्रयोग मे[1] लाते हैं। अथर्ववेद १९।३१।५ मे बताया गया है कि पशुवो से चाहे वे द्विपाद् हो वा चतुष्पाद् हो पुष्टि को ग्रहण करना चाहिए। पशुवो के दूध और ओषधियो के रस को सबका कर्त्ता परमेश्वर हमे प्रदान[2] करे।

इसके अतिरिक्त अथर्व ८।६।२३ मे लिखा है कि जो आम मास खावे अथवा जो पुरुष के मास को खावे अथवा जो नवजात पशु पक्षियो के गर्भो, अण्डो आदि को खावे -उनका नाश कर देना चाहिए। पुन अथर्व १।१६।४ मे यह लिखा है कि यदि हमारे लिए कोई गौ का मारे, घोड को मारे अथवा पुरुष को मारे तो उसे सीसे की गोली से मार देना चाहिए। ऋग्वेद १०।८७।१६ मे पुरुष मास और घोडे के

1 पयो धेनूना रसमोषधीनां जवमर्वता कवयो य इन्वथ। अथर्व ४।२७।३

2 पय पशूना रसमोषधीना बृहस्पति सविता मे नियच्छात्। अथर्व १९।३१।५

मास, और पशुवों के मास से अपना काय चलाने वाले और गाय के दूध को हरण करने वाले को राजा के द्वारा शिर पृथक कर देने का विधान है । इस प्रकार जब मास खाने का ही वेद मे विधान नही, निषेध है और पशुवो के मारने का दण्ड-विधान है, तथा पशु-मास से अपना काम चलाने वालो को इतना कठोर दण्ड है, तो फिर वैदिक एज के लेखक की बात किस प्रकार विश्वास और विचार के क्षम हो सकती है ।

अतिथि-सत्कार का वर्णन अथर्ववेद के ९वे काण्ड के कुछ सूक्तो मे मिलता है । पाचवे सूक्त के ९वे मत्र मे कहा गया है कि जो "बहुत[1] स्वादु जल, दुग्ध और उत्तम मन प्रसादक भोजन है उसे अतिथि को खिलाकर पुन गृहस्थ को भोजन करना चाहिए' । यहा पर मत्र मे 'अधिगव' और 'क्षीरम्' तथा 'मासम्' पद पडे है । इससे भ्रम होता है । परन्तु इतना तो ज्ञान होना चाहिए कि मास के साथ दूध का सेवन नही होता है । यह अत्यन्त विकार करने वाला है । अत मास का अर्थ कुछ और ही है । 'अधिगवम' शब्द विशेषण नही है । यह तत्पुरुष समास है और गोरतद्धित[2] लुकि सत्र से 'टच्' प्रत्यय करके बना है ।

तत्पुरुष समास कभी किसी पद का विशेषण नही बनता है । अत उसे 'क्षीर' और मास का यहाँ पर विशेषण नही बनाना चाहिए । यह सत्ता पद है और इसका अर्थ (अधिकृतश्चासौ गौश्चेति) अधिकृत जल है । क्षीर का अर्थ दुग्ध है । अब मास का अर्थ देखना चाहिए । महामुनि यास्क ने निरुक्त ३।४ पर 'मास' पद की कई प्रकार की निरुक्तिया की है । मास पद वैदिक साहित्य मे कई अर्थों मे आता है । मनु ५।५५ के अनुसार यह माम्+स है अर्थात जिसका मास खाया है वह परजन्म मे मुझ खाने वाले को खावेगा । अत यह माम्+स पद मास का सूचक है । दूसरा 'मास' का अर्थ मा+अनन है । यहा मा पूर्वक अन प्राणने धातु से उणादि ३।६४ से स' प्रत्यय हुआ है । अर्थात् जो जीवन देने वाला नही है । उसके बाद तत्वार्थक णिजन्त मन् धातु से मास पद बनता है जिसका अर्थ है कि बल से प्राप्त होने वाला । एक तीसरा अर्थ भी है जो यह बतलाता है कि जिससे मन प्रसन्न होता है या जो मनोभव हो वह सुन्दर भोजन भी मास है । इस प्रकार मन प्रसन्नता के देने वाला उत्तम भोजन

1 एतद् वा उ स्वादीयो यदधि गव क्षीर वा मास वा तदेव नाश्नीयात् ।

अथर्व ९।५।९

2 गोरतद्धितलुकि । अ० ५।४।९२

को भी मास कहा जाता है। इसका मास ही अर्थ सब जगह लेना ठीक नही। फलों के गूदे आदि के लिए भी मास का ही शब्द प्रयुक्त होता है। शतपथ ब्राह्मण मे इसी आधार पर पुरोडाश पकाये जाते समय गू धे जाते आटे की एक मास सज्ञा भी[1] रखी है। ब्राह्मण ग्रन्थकार कहता है कि जब पिष्ट है तब वह लोम सज्ञक है, जब जल छोड़ता है तब वह त्वक् है, जब सयुत करता है तब वह मास सज्ञक है। जब श्रुत होता है तब अस्थि कहा जाता है क्योंकि कठिन होता है, जब वास पिष्ट बनाता है तब वह मज्जा-सज्ञक है—इसीलिए इसे पाक्त पशु कहा जाता है। इस कथन से तो पुरोडाश की भाँति पकाया हुआ मालपूआ भी मास सज्ञावाला ठहरता है।

ऐतरेय ब्राह्मण १।२।६ मे लिखा है कि यह जो पुरोडाश बनाया जाता है यही पशु का आलम्भान है। जो किशा रूप है वह लोम है, जो तुष है वह त्वक् है, जो फलीकरण है वे असृक् है और जो पिष्ट है वही मास है। यही वास्तव मे पशुमेध है। इसी प्रकार अथर्व ६।२।१३ मे इन्द्र और सोम को भी यव कहा गया है। अथर्व ११।४।१३ मे प्राण और अपान को भी व्रीहि और यव कहा गया है। अथर्व १८।४।३२, १८।४। ३४ मे धान को धेनु और तिल को वत्स कहा गया है। धानो का नाम एनी, हरिणी, रोहिणी, आदि कहा गया है। अथर्व ११।३।५-७ मे अश्व कणो को कहा गया है। चावलो को गौ कहा गया है। तुषो को मशक कहा गया है। इस प्रकार जिसको मास कहा जा रहा है वह मास नही है। उत्तम मन प्रसादक भोजन ही वहां पर मास से अभिप्रेत है। यही भाव मास का ६।६।७ मे भी है। अथर्व ६।६।६ मे जल का वर्णन है अत 'अधिगवम्' का जल अर्थ ही [illegible] ठीक है। इस प्रकार यह भ्रान्त धारणा है कि वेदो मे मास से अतिथि का सत्कार करना लिखा है। ऐसा अनर्गल अर्थ किस प्रकार लोग निकाल लेते ? है। पूर्वापर और प्रक्रिया के ज्ञान का सर्वथा ही अभाव ऐसे अर्थों को करने वालो मे देखा जाता है। अर्थ करते समय प्रसग भी तो देखना चाहिए।

'गौ को अघ्न्या कहा गया है अत बैल का मास खाने का नियम बनाया गया और यह गाय तथा बैल मे भेद करके किया गया—यह भी कथन अनर्गल प्रलाप है। वेद मे गाय ही अघ्न्या नही है— बैल भी अघ्न्य है। यजुर्वेद १२।७३[2] मन्त्र

[1] यदा पिष्टान्यथलोमानि भवन्ति यदा सयौत्यथ मांस भवति।
शतपथ काण्ड १, अध्याय २, ब्रा० ४ कण्डिका ८

2 विमुच्यध्वमघ्न्या देवयाना । यजु १२।७३

उवट महीधर आदि अनडुह्=बैल के विमोचन में विनियुक्त करते हैं। अर्थ करते हुए दोनों ही कहते हैं कि देवकर्म के साधक अघ्न्या =बैलो, गायो को छोडो। महीधर भी कहता है कि गाय और बलीवर्द अघ्न्य=अहन्तव्य है। अथर्व ६।४।१७ में "गवा-पति[1] अघ्न्य '॥ पदो से गायो के पति बैल को भी अघ्न्य कहा गया है। इस प्रकार वेदानुसार जब गाय ही अघ्यन्या नही—बैल भी अघ्न्य है तो फिर बैल के मास खाने का तर्क अपने आप समाप्त हो जाता है। वेद का अर्थ करते समय अटकल पच्चू मारना ठीक नही है। परन्तु खेद का विषय है कि ये प्रश्चात्य शिक्षा-दीक्षा मे पले इतिहास-लेखक अपनी व्यर्थ की तुक सर्वत्र ही मारने की कोशिश करते हैं।

अब यहाँ पर थोडा सा विचार वशा के विषय मे किया जाता है। अथर्व १।१०।१ मे वशा का अर्थ ईश्वर की वह शक्ति है जिसके वश मे सारा जगत् चल रहा है। अथर्व १०।१०।४ मे वशा के द्वारा द्यौ, पृथिवी और जलें रक्षित कही गई है। १०।१०।२५ मे बतलाया गया है कि वशा ने यज्ञ का धारण किया है, वशा न ही सूर्य को धारण किया है। पुन १०।१०।२८ मे लिखा है कि वरुण के मुख के अन्दर तीन जीभे प्रकाशमान है उनके जो मध्य मे विराजमान है वह वशा है और वह दुष्प्रतिग्रहा है। पुन मत्र २६ मे लिखा है कि वशा का रेस चार प्रकार का है। आप चौथा, अमृत चौथा, यज्ञ चौथा और पशु चौथा। मत्र ३० मे कहा गया है कि द्यौ वशा है। पृथिवी वशा है, विष्णु प्रजापति भी वशा है। जो साध्य और ऋषि हैं वे भी वशा के ही दुग्ध को पीते है। यहाँ पर जिस वशा का वर्णन है वह तो वैदिक एज के लेखक वाली वशा है नही। इसी प्रकार अथर्व १२।४ मे भी वशा का वर्णन है। वह वशा भी इसी प्रकार की है।

ऋग्वेद २।७।५ मे कहा गया है कि हे सबके धारक! अग्ने परमेश्वर! गायो से और बैलो से तथा अष्ट चरणो वाली वाणियो से युक्त हम लोगो के द्वारा आप ही स्तुति किए जाते हो। यहाँ पर वशा का अर्थ बन्ध्या गौ तो है नही।

ऋग्वेद १।१६४।४३ मत्र मे "उक्षाण पृश्निम्" पाठ आया है वहाँ पर लिखा गया है कि वर्षक पृश्नि को धीर लोग पकाते है—ये ही प्रथम धर्म है। परन्तु यहाँ पर 'उक्षा' का अर्थ वर्षक वा सेचक है। यहाँ वह पृश्नि का विशेषण है। बैल अर्थ यहाँ पर है ही नही। शतपथ ८।७।३।२१ मे अन्न को पृश्नि कहा गया है। तैत्तिरीय

1. गवां च पतिरघ्न्यः॥ अथर्व ६।४।१७

१।४।१।५ मे पृथिवी को पृश्नि कहा गया है। ताण्ड्य १२।१०।२४ में लिखा है कि अन्न को ही विद्वान् लोग पृश्नि कहते है। निरुक्त २।१४ मे लिखा है कि "पृश्नि-रादित्यो भवति" अर्थात् आदित्य ही पृश्नि है। निघण्टु ३।३ मे 'उक्षन्' पद महदर्थ मे भी पठित है। अत यहाँ भी स्पष्ट हो गया कि यहाँ गाय वा बैल अर्थ किसी भी पद का नही है।

वैदिक एज के लेखक ने ऋग्वेद ८।४३।११ मत्र म आये 'उक्षान्नाय', 'वशान्नाय शब्दो से अर्थान्तर निकालने का व्यर्थ ही प्रयत्न किया है। वहाँ पर 'उक्षान्न' का अर्थ 'सिक्तान्न' अर्थात जो घृत स सिक्त हो 'वशान्न' का अर्थ है जो घृतमे पका हुआ और वाञ्छनीय अन्न है। अत उक्षान्न और वशान्न अग्नि को इसलिए कहा गया है कि वह घृतसिक्त अन्न की आहुति वाला और घृत मे पके हुए उत्तम अन्न की आहुति वाला है। आग घृतपृष्ठ उसे कहा ही गया है। परमात्मा अर्थ जब अग्नि का होगा तब सूर्य और पृथिवी जिसके प्रलय काल मे अन्न है—ऐसा परमेश्वर अर्थ होगा।

ऋग्वेद १०।६८।३ मे 'गौ' का अर्थ जल है जो मेघ से वर्ष कर पृथिवी पर आता है। 'अतिथिनी' नाम इसलिए है कि उनकी निश्चित कोई तिथि नही है। यदि 'अतिथिनी गौ" का अर्थ अतिथि को देने की गौ ही मान लिया जावे तो यह अर्थ कहा से निकला कि बन्ध्या गौ अतिथियो के खान के लिए है। इस अर्थ के लिए कहाँ अवकाश इस मन्त्र मे मिलता है। साथ ही देवता और प्रकरण का भी तो कोई सम्बन्ध देखना चाहिए।

ऋग्वेद १०।९१।१४ मत्र मे अश्वास ऋषभास, वशा, मेषा आदि पद आये है। 'अश्वा' का अर्थ कण है—यह अथर्ववेद के प्रमाण से बताया जा चुका है। 'अश्वा' का अर्थ अश्वगन्धा औषधि भी है। राजनिघण्टु मे यह वर्णन देखा जा सकता है। भावप्रकाश मे ऋषभ नाम ओषधि का है। इसी प्रकार वशा नाम अन्न और ओषधि का है। मेष का अर्थ मेषपर्णी ओषधि है। इस प्रकार अग्नि मे औषधियो का हवन करना लिखा गया है। वहाँ पर अन्यथा कल्पना करने का प्रयत्न व्यर्थ है। सुश्रुत मे लिखा है कि जब तक आम पक नही जाता है तब तक स्नायु, अस्थि, मज्जा की सूक्ष्म होने से उपलब्धि नही होती है। पक जाने पर ये प्रकट हो जाते है। इसी प्रकार भावप्रकाश मे बैल के कई नाम ओष-धियो के नाम कहे गये है। इसी प्रकार भावप्रकाश मे अजमोदा के अश्व, खर, मयूरी आदि नाम कहे गये है। फलो और कन्दो आदि के गूदे के लिए भी मास

आदि शब्दो का प्रयोग किया जाता है। यहाँ पर विस्तार नही किया जा रहा है। वैदिक सम्पत्ति आदि पुस्तको मे इस विषय को देखा जा सकता है।

वैदिक एज का कथन है कि ऋग्वेद १०।८६।१४ मे १५ और २० बैलो का इन्द्र के खाने के लिए पकाना लिखा है। यहाँ 'उक्षण' का अर्थ सोम है जो प्रकरण से स्पष्ट प्रकट होता है। १५वे मत्र मे 'मन्थ' पद भी आया है और 'तिग्मशृ ग वृषभ" पद भी आये है जो वृषभ नाम की ओषधि के सूचक है। इन ओषधो के सेवन से ही बैल के समान कोई गरज सकता है। यास्क ने १३वे मत्र मे आये 'उक्षण' का अर्थ अन्तरिक्षस्थ सोम किया है। फिर यहाँ पर बैल अर्थ कहाँ से कूद पडा।

वशा का अर्थ 'गौ' और वन्ध्या गौ भी होता है। परन्तु कही पर वेद मे उसके खानेका विधान नही। यह जो खाने की कल्पना वैदिक एज के लेखक ने कर ली है—यह सर्वथा ही अनुचित है।

ऋग्वेद १।१६२वे सूक्त के मत्रो को अश्वमेध पर लगाकर उसका उल्टा अर्थ लेकर लोग मास खाने का विधान निकालते है—वह सर्वथा ही विपरीत है। यहाँ पर थोडा-सा विचार इस पर भी किया जाता है। १६२वाँ सूक्त बहुत ही महत्व का सूक्त है। इसमे दो विज्ञानो का वर्णन अधिदैव और अधिभूत विषय मे पाया जाता है। इस समूचे सूक्त मे विद्युद्रूप मे व्याप्त अग्नि और घोडे के प्रशिक्षण (Horse breaking) की विद्या का वर्णन है। अश्व पद का केवल घोडा ही अर्थ नही है। ऋग्वेद १।२७।१ मत्र मे अश्व के समान अग्नि कहा गया है। वहा स्पष्ट है कि अश्व अग्नि को कहा जाता है। पुन ऋग्वेद ३।२७।१४ मे कहा गया है कि वृषो अग्नि समिध्यते अश्वो न देववाहन अर्थात् अग्नि वृष और अश्व दोनो ही नामो वाला है। इसी बात के आधार पर शतपथ ६।३।२।२ मे अग्नि को अश्व (अग्निरेष यदश्व) कहा गया है। पुन शतपथ १।४।१।२६ मे अग्नि को वृष भी कहा गया है। अश्व और वृष सूर्य अर्थ मे भी वेद मे प्रयुक्त है। इन बातो के स्पष्ट हो जाने से यह ध्यान रखना चाहिए कि इस सूक्त मे अग्नि और घोडे से सम्बन्ध रखने वाले विषय का वर्णन है।

मण्डल १।१६२ सूक्त के प्रथम मत्र मे स्पष्ट ही अग्नि का वर्णन दिखलाई पड रहा है। यदि अश्व अर्थ लिया जावे तो स्पष्ट ही है कि ये साग्रामिक जन हमारी निन्दा मत करे क्योकि हम सग्राम मे इस सरणशील घोडे के पराक्रम को भली प्रकार जानते हैं। मत्र ३ मे इसके साथ 'छाग' का वर्णन है। साथ ही 'अश्वेन वाजिना"

पद पड़े हैं। ऐसी स्थिति मे यौगिक अर्थ ही लेना पडेगा क्योंकि वाजी का अर्थ भी घोडा है और अश्व का अर्थ भी घोडा है। साथ ही यह भी विचारणीय है कि जब अश्वमेध विपक्षियो के अनुसार अश्व का यज्ञ है तो वहाँ पर छाग की क्या आवश्यकता रह जाती है। अत मानना पडेगा कि छाग का अर्थ यहाँ पर छाग=बकरी का दूध है। विश्वदेव्य छाग का अर्थ समस्त उत्तगुणो से युक्त बकरी का दूध है। घोड़े को पुष्ट बनाने के लिए उसे बकरी का दूध देना चाहिए। यह शिक्षा यहाँ पर वर्णित है। अग्नि के पक्ष मे अर्थ स्पष्ट ही है। लोग ६ठे मत्र पर आपत्ति करते है और उसका उल्टा अर्थ लेकर अपने पक्ष की पुष्टि करते हैं। यहाँ पर उसका भी निराकरण कर दिया जाता है।

यूपव्रस्का उत ये यूपवाहाश्चषाल ये अश्वयूपाय तक्षति। यें चार्वते पचन सभरन्त्युतो तेषामिभगूर्त्तिर्न इन्वतु ॥६॥

अर्थ—ये=जो लोग (यूपव्रस्का) खम्भे के लिए काष्ठ काटने वाले, (यूपवाहा) खम्भे वा खूंटे को ढोने वाले (अश्वयूपाय) घोडे के बाँधने के खूंटे के लिए (चपालम्) वृक्ष को (तक्षति) काटते है और (येच) जो (अर्वते) घोडे के लिए (पचनम्) अन्न आदि पकी वस्तुवो की पूर्त्ति करते है वे ऐसे कार्य मे हमारे लिए सहयोग करने वाले हो।

यदश्वस्य क्रविषो मक्षिकाश यदवा स्वरौ स्वधितौ रिप्तमस्ति। यद्धस्तयौ शमितुर्यन्नखेषु सर्वातात अपि देवेष्वस्तु ॥६॥

अर्थ—क्रविष अश्वस्य=क्रमणशील घोडे के जिस 'रिप्तम्' लिपे हुए मल को अथवा घोड़े के बदन पर कट जाने आदि से 'क्रविष' मास पर जो मक्खियाँ भिनभिनाती हैं और काटती है और जो(स्वधितौ स्वरौ)कष्ट से हिनहिनाता है इसको दूर करना (शमितु) घोडे के रक्षक के (हस्तयो) हाथो और नखो मे अर्थात उँगलियों मे है। घोडे की रक्षा की जितनी क्रिया है वे सब हे रक्षको! तुम मे होनी चाहिए और सेना के लोगो मे भी होनी चाहिए।

यदूवध्यमुदरस्यापवाति य आमस्य क्रविषो गन्धो अस्ति। सुकृता तच्छमितार कृण्वन्तूत मेध शृतपाक पचन्तु ॥१०॥

अर्थ—(शमितार) हे अश्व की पालना करने वालो! (यत् उदरस्य अवध्यम् अपवाति) घोडे के पेट से घास आदि न पचने से जो अपान वायु बाहर आता है और कही घाव लगने आदि से (आमस्य क्रविष य गन्ध अस्ति) कच्चे मास

का जो गन्ध आता है उस सबको ठीक करो और उसकी शिक्षणीय समझ (मेधम्) को परिपक्व हो ऐसी पक्की बना दो।

यत्ते गात्रादग्निना पच्यमानादभिशूल निहतस्यावधावति। मा तद्भूम्यामा श्रिषन्मा तृणेषु देवेभ्यस्तदुशद्भ्यो रातमस्तु ११॥

अर्थ=(निहतस्य ते) अश्वारोही सैनिक के पैर से ताडित अर्थात चलने का सकेत किये गए इस घोडे के 'अग्निना' उत्साहाग्नि से (पच्यमानाद गात्राद) उछलते हुए शरीर से जाने वाला (सैनिक द्वारा फेंका गया वा प्रयुक्त) जो शूल शत्रुवो की ओर जाता है वह कही व्यर्थ जाकर जमीन पर न लगे, न घास मे गिरे बल्कि वह चाहने वाले शत्रुओ पर ही पडे। चूके नही।

यहाँ पर तीसरे पुरुष मे अर्थ करने पर द्वितीय पुरुष के "ते" आदि प्रयोग तीसरे पुरुष मे हो जावेगे।

अथवा दूसरा अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है—

हे सुशिक्षिताश्वरोहिन्। नितरा चलित तुझ पुरुष के अग्निसम क्रोध से जलते हुए हाथ से जो शूल (पीडाकर अस्त्र) शत्रु पर छोडा जावे वह जमीन, घास आदि मे व्यर्थ न गिरे। वह शत्रुवो पर ही बिना चूक लगे।

ये वाजिन परिपश्यन्ति पक्व ये ईमाहु सुरभिर्निर्हरेति। ये चार्वतो मासभिक्षा-मुपासत उतो तेषामभि- गूर्तिर्न इन्वतु ॥१२॥

अर्थ—जो लोग घोडे को (पक्वम) सुशिक्षित परिपक्व देखते=बनाते हैं और जो "यह स्वच्छता आदि के कारण बदबू से रहित शोभन गन्ध है अत 'निर्हर' इसे हमे दो" ऐसा कहते हैं और जो घोडे के (मासभिक्षाम्) मासाभाव को (उतो) तर्क-वितर्क से (उपासते) स्वीकार करते है उनका उद्यम हमे प्राप्त हो।

अथवा

जो घोडे के मास की भिक्षा का सेवन करते है, अथवा जो इसे इस प्रकार के अनुचित उपयोगो के लिए 'ईम' प्राप्त करते हैं उन्हे हे राजन (निर्हर) दूर फेक दे। तथा जो (अश्वम् पक्वम् परिपश्यन्ति) घोडे को शिक्षा मे परिपक्व करते हैं उनका (सुरभि) सुगन्धमय (अभिगूर्ति) उद्यम हमे प्राप्त हो। इस मन्त्र मे भिक्षा पद अभाव और अलाभ का सूचक है। दूसरी बात यह है कि यहाँ पर 'उपासते' क्रिया मे उपपूर्वक अस् धातु है जो गत्यर्थक होने से यहाँ पर छोडने वा त्यागने अर्थ मे है। अथवा असु धातु का रूप है जो छान्दस है और फेकने के अर्थ मे है।

यन्नीक्षण मास्पचन्या उखाया या पात्राणि यूष्ण आसेचनानि। ऊष्मण्यापिधाना चरूणामङ्का सूना परिभूषयन्त्यश्वम् ।।००

अर्थ--(मास्पचन्या उखाया यत् नीक्षणम्) जो लोग अश्व के पुरीष[1] के पकने के उदर कोष्ठक[2] को भली प्रकार जानते है, जो (यूष्ण पात्राणि आसेचनानि) रस बनने के आसेचन पात्र=कोष्ठक को, तथा जो (ऊष्मण्या अपिधाना चरूणामका) ऊष्मा=जाठराग्नि के पिधान=स्थान और अन्न आदि चव्य पदार्थो के परिचय के लक्षण को जानते है वे ही अश्व का (परिभूषयन्ति) सुशाभित करते है। अर्थात् अश्वायुर्वदज्ञ ही अश्व का उत्तम रख सकता है।

२ **अर्थ**—जो लोग मास पकाने की स्थाली से वैमनस्य रखते है, रस जल आदि पात्रो का ज्ञान रखते है गर्मी आदि के छादक वस्तुवो को जानते है तथा चर्व्य पदार्थो के (चने आदि के) गुण वा लक्षण को जानते है वे ही अश्व को भली प्रकार पाल पोष कर सुसज्जित रख सकते है।

३ **अर्थ**—जो लोग अन्न[3] पकाने के पात्र का परिज्ञान रखते है अथवा पुरोडाश[4] पकाने के पात्र का ज्ञान रखते है तथा सोमरस वा यवरस आदि के रोचक पात्र का ज्ञान रखते है, अग्नि के ढकने का ज्ञान रखते है, और आहुति देने योग्य चरु के लक्षण=प्रकार को जानते है वे ही अग्नि का भली प्रकार यज्ञ मे सुदीप्त कर सकते है।

इस प्रकार जिन्हे बहुत आपत्तिजनक मन्त्र लोग समझते है और अपने पक्ष की पुष्टि मे विपक्षी जिनका उल्लेख करते है उनका अर्थ देकर यह सिद्ध किया गया कि वेद मे मास खाने का विधान नही है। यज्ञ म भी किसी प्रकार के पशु बलि का विधान नही है। यहा पर सक्षेप मे ही इस विषय पर विचार करना अभीष्ट था। अन्य ग्रन्थो मे जिनका सकेत पहले कर दिया गया है, इस विषय का वर्णन मिलता है। यहाँ इस विषय मे जो कुछ लिखा गया वह शका शूलो के निरसन मे पर्याप्त होगा।

1. **मांस वै पुरीषम्। शतपथ ८।६।२।१४, ८।७।४।१**
   मास पुरीषम्। शतपथ ८।७।४।१९
2. **उदरमुखा। शतपथ ७।५।१।३८**
3. **अन्नमु पशोर्मासम्। श० ७।५।२।४२**
4. **पहले बतलाया जा चुका है कि पुरोडाश बनाते समय मास भी उसकी एक स्थिति वा सज्ञा है।**

जगत् के मूलतत्व—यह दृश्य संसार क्या है ? इसके मूल मे कौन सी सत्तायें हैं ?—ये प्रश्न हैं जिनका समाधान मानव मस्तिष्क चाहता है। वेद का दर्शन इस विषय मे बहुत ही उत्तम विचार उपस्थित करता है। ऋग्वेद १।१६४।२० मन्त्र मे यह कहा गया है कि प्रकृति रूपी वृक्ष पर जीवात्मा और परमात्मा नाम के दो पक्षी बैठे हुये है। जीवात्मा उसके फलो को खाता है। परन्तु परमेश्वर न खाता हुआ साक्षी मात्र होकर देखता है। पुन आगे २१वे और २२वे मन्त्रो म कहा गया है कि इस वृक्ष पर अनको जीव अपने कर्मानुसार उत्पन्न होते और फल को भोगते रहते है। इससे जीवो का बहुत्व सिद्ध होता है। पुन १३वे मन्त्र मे इस जगत् को प्रवाह-रूप मे अनादि बताते हुए पाच अरो वाले अर्थात् पांचभूतो वाले अरो म युक्त चक्र कहा गया है। चक्र कहना ही जगत् की उत्पत्ति और प्रलय का चक्रवत् वर्तना बतलाता है। इसी प्रकार अथर्ववेद मे भी प्रकृति, जीव और परमेश्वर का वर्णन है। अथर्व १०।८।२५ मे तीनो को सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम कहा गया है। ऋग्वेद १।१६४।४४ तीन केशी= प्रकाश शक्तियो के नाम से इन तीनो मूल कारणो का वर्णन है। इस प्रकार वेद जगत् के मूल म प्रकृति, जीव और ईश्वर तीन मूल सत्ताये स्वीकार करता है। प्रकृति जगत का उपादान कारण है और जीव भोक्ता एव साधारण कारण है। परमात्मा निमित्त- कारण है।

कई लोग यह कहते हैं कि नासदीय सूक्त मे अद्वैतवाद का प्रतिपादन है परन्तु सूक्त के अध्ययन मे यह बात उल्टी जाती है।[1] उससे अतिरिक्त और कोई नही है—यह भाव ही प्रतिपाद्य नही है अपितु उसका आशय यह है कि उसके समान उससे भिन्न कोई नही था। उसके अतिरिक्त जीव और प्रकृति आदि तत्व नही थे—यह उसका भाव नही है। उस सूक्त मे स्पष्ट शब्दो मे लिखा है कि स्वधा प्रकृति नीचे थी और परमेश्वर का प्रयत्न उसके ऊपर[2] था। मुक्त जीव और बद्ध[3] जीव भी थे। 'तम आसीत्' सूत्र ही इस सूक्त का रहस्य[4] है। जब मन्त्रो मे स्पष्ट ही त्रैतवाद का प्रतिपादन हो रहा है तो फिर यह कहना कि इस सूक्त मे अद्वैतवाद का प्रतिपादन है—सर्वथा ही अतथ्यभूत बात है।

---

1 तस्माद्धान्य पर किञ्चनास।
2 स्वधा अवस्तात् प्रयति परस्तात
3 रेतोधा आसन् महिमान आसन्
4 देखें मेरी पुस्तक वैदिक-ज्योति।

वेद मे एक परमात्मा की उपासना का वर्णन है—अनेक देवो की उपासना का नही। वेद मत्रों के अर्थ को न समझने के कारण यह गलत धारणा लोगो की बन गई है। ऋग्वेद १।१६४।४६ मे बताया गया है कि उस परमेश्वर को ही इन्द्र, मित्र, वरुण और अग्नि कहा जाता है। वही दिव्य है, सुपर्ण है, और वही गरुत्मान् है। उस एक ही सत् को मेधावी जन बहुत नामो से पुकारते हैं। उसे ही अग्नि, यम और मातरिश्वा भी कहते हैं।

यहाँ मत्र मे मित्र आदि सभी शब्द एक बार आए हैं परन्तु अग्नि पद दो बार आया है। इसका कारण क्या है ? । पता चलेगा कि यहाँ पर 'अग्निम् अग्निम् आहु' अर्थात् अग्नि को भी अग्नि कहते है, इस विशेषण और विशेष्य के भाव को दिखाने के लिए यह पद दो बार आया है। प्रत्येक पद विशेषण और विशेष्य इसी आधार पर यहाँ बन जावेगा। अत यहाँ पर मत्र मे एक परमात्मा की उपासना का वर्णन है अनेक देवो का नहीं।

परमात्मा के स्वरूप का विशेष वर्णन जो वेद मे मिलता है वह यह स्पष्ट करता है कि परमेश्वर जगत् का कर्त्ता, धर्ता, और हर्ता है। वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् सर्व-व्यापक और सच्चिदानन्दस्वरूप है। वह कभी न मूर्त बनता और न अवतार लेता[1] है। यजुर्वेद ४०।८[2] मे यह लिखा गया है कि परमेश्वर मे किसी प्रकार का अज्ञान और दोष आदि नही है। वह शुद्ध और पवित्र है अत सूक्ष्म, स्थूल और कारण शरीर आदि से रहित है। वह कभी जन्म मरण के बन्धन मे नही आता है। परमात्मा को 'ऋतस्य गोपा' कहा गया है। सृष्टि मे शाश्वत नियम काम करते है। वेद मे उन्हे ऋत कहा गया है। इस ऋत् का रक्षक एव प्रवर्त्तक परमेश्वर है। अत यह 'ऋतस्य गोपा' है।

वेद मे एक विशेषता यह है कि वह ज्ञान और भाषा की प्रेरणा भी परमेश्वर से मानता है। ऋग्वेद के १० मण्डल के ७१ वें सूक्त मे इस विषय का वर्णन पाया जाता है। वेद मे परमेश्वर को नामधा और एकमात्र कहा गया है। समस्त प्रश्नो का वही एक समाधान है। वह विश्वकर्मा है। समस्त जगत् उसकी सत्ता का एक ज्वलन्त प्रमाण है। परमात्मा की उपासना मे मूर्त्ति आदि का माध्यम वेद मे नहीं

1 इस विषय का विशेष वर्णन मेरी पुस्तक आर्य-सिद्धान्त-सागर और दर्शनतत्व-विवेक मे है।

2 सपर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरम् ० ॥ यजु ४०।८

है । वेद मे मूर्तिपूजा का सर्वथा अभाव है । वह निराकार है—साकार नहीं । उसकी भक्ति वा उपासना का क्रम यह है कि प्रथम जगत् और उसके कारण प्रकृति को जाना जावे । पुन उससे सूक्ष्मतर वस्तु जीवात्मा का परिज्ञान किया जावे और अन्त मे सबसे सूक्ष्म अर्थात् सूक्ष्मतम तत्त्व परमेश्वर का ज्ञान प्राप्त किया जावे । जगत् मे तीनो पदार्थ अपने-अपने कार्य कर रहे है । तीनो का विभज्य स्वरूपदर्शन ही सच्ची भक्ति है । वस्तुत ससार का कोई भी अणुमात्र पदार्थ नही जहाँ उसकी सत्ता न दिखाई पडे । वह वेद के शब्दो मे 'ओतश्च प्रोतश्च विभु प्रजासु" है ।

जीव —जीव शरीर आदि मे पृथक् नित्य, परिच्छिन्न, सूक्ष्म, पृथक् चेतन सत्ता है । जीव अनेक हैं—एक ही नही । अपने कर्मानुसार जीव ससार की विभिन्न योनियो मे आता है और कर्मों का फल भोगता है । वह भोक्ता, द्रष्टा, कर्त्ता और ज्ञाता[1] है । लोग कभी-कभी यह भी कहते हैं और बलपूर्वक कहने का साहस करते है कि वेद मे पुनर्जन्म आदि का वर्णन नही है । परन्तु उनकी यह धारण सर्वथा ही मिथ्या है । पुनजन्म का वर्णन वेद मे मिलता है । अथर्व १।१।२ म कहा गया है कि वाणी का स्वामी यह जीव पुन-पुन इन्द्रिय और मन के साथ उत्पन्न होता है । ऋग्वेद ४।२७।२ मे ऐसा वर्णन मिलता है कि योग की अवस्था मे जीव को यह ज्ञान होता है कि वह अनेको जन्मो मे जा चुका है । ऋग्वेद १।१६४।३१ मत्र मे यह भाव प्रकट किया गया है कि यह इन्द्रियो का स्वामी जीव अपने कर्मानुसार भली बुरी योनियो मे जन्म धारण करता है । वहाँ मत्र मे शब्द ही पडे है—"आवरीवर्ति भुवनेष्वन्त" जिसका अर्थ है कि पुन-पुन भुवनो मे उत्पन्न होता है ।

जीव का अन्तिम उद्देश्य मोक्ष की की प्राप्ति है । वह ससार मे योग आदि साधनो को प्राप्त कर मोक्ष की प्राप्ति का अधिकारी बन सकता है । उसके जीवन का अन्तिम उद्देश्य ही मोक्ष एव अपवर्ग है । दुखो से छूटने और आनन्द को प्राप्त करने की भावना उसमे पाई जाती है । वह इस भावना से पूरित है कि "मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्" अर्थात् हे भगवन् मुझे मृत्यु आदि दुखो ने छुडा—अमृत अर्थात् मोक्षानन्द से नही । ससार मे दुख भी है सुख भी । परन्तु सुख भी दुख से मिला हुआ है । सदा दुख का खटका बना रहता है । इसी को दूर करने का जीव प्रयत्न करता है जो उसकी मोक्ष-प्रवृत्ति का सूचक है । वेद सदा कर्मशील रहने का उपदेश

1. ऋग्वेद ६।६।४; १।१६४।३०,३८, १०।१७७।१, १।१६४।२२; १।१६४।३७,

देता है। कर्म जैसे होते है उनका वैसा ही फल भी कर्त्ता को मिलता है। उत्तम कर्म का उत्तम फल और बुरे कर्म का बुरा फल ईश्वर की न्याय-व्यवस्था मे मिला करता है। कर्म का विषय बहुत विस्तृत है। इसका यहाँ पर विस्तार से वर्णन नही किया जा सकता[1] है।

श्रेष्ठ कर्मों का नाम यज्ञ है। यज्ञ का वेदो मे बड़ा महत्व है। परन्तु वह अध्वर है क्योकि उसमे हिसा का सर्वथा अभाव है। वेद का यज्ञ पद देव-पूजा, सगति-करण और दान के अर्थ को लिए हुए है। सैक्रीफाइस (Sacrifice) शब्द यज्ञ के अर्थ मे सर्वथा ही शून्य है। जितने भी पाश्चात्य सरणि के विद्वान् है बहुधा यज्ञ का यही अर्थ लेते है। परन्तु यह सर्वथा अनुचित है। अंग्रेजी का यह पद यज्ञ का अनुवाद है ही नही। यज्ञ शब्द वेद मे व्यापक अर्थों का देने वाला है। यजुर्वेद मे 'यज्ञेन कल्पन्ताम्' से इस व्यापकता पर अधिक प्रकाश पड़ता है। सभी ज्ञान-विज्ञान उत्तम क्रिया इस यज्ञ के अर्थ मे आ जाती हैं। इसी आधार पर शतपथ ब्राह्मण के कर्त्ता ने लिखा कि श्रेष्ठतम कर्म यज्ञ है। यज्ञ पद परमेश्वर और कई भौतिक पदार्थों के अर्थ मे भी प्रयुक्त होता है। अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त कर्म और यज्ञ-याग इस यज्ञ की परिभाषा मे आते है। जीव की जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय अवस्थायें है। इन अवस्थाओं से जीव का शरीर से पृथक होना सिद्ध होता है। यहाँ पर यह ज्ञात रहे कि परमेश्वर का नाम 'ओम्' है। यही एक अक्षर है। यह सारी वाणियो का अक्ष है। यह सारा जगत् इस ओम् अक्षर का व्याख्यान है।

प्रकृति—पहले यह कहा जा चुका है कि प्रकृति जगत् का उपादान कारण है। वेद मे उसे स्वधा, तम, अदिति, सलिल, आभु, अजा, अवि, आदि शब्दो से व्यक्त किया गया है। प्रकृति से सारा जगत् परमात्मा की निमित्तता से उत्पन्न होता है। प्रकृति जगत् का उपादान होने से विभिन्न कार्यों के रूप मे परमात्मा की ईक्षण-क्रिया से प्रकट होती है। ससार के सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि जितने पदार्थ हैं प्रकृति के कार्य है। ससार मे कार्यकारण का एक नियम देखा जाता हैं। प्रत्येक कार्य अपने कारण से उत्पन्न होता है। बिना कारण कोई कार्य उत्पन्न नही होता। आम के बीज से आम और नीम के बीज से नीम का सिद्धात अटल है। इनका कभी उल्टा नही देखा जाता है। दूध से दही बनता है पानी से नही। तिल से तेल निकलता है रेत से नही। इससे यह सिद्धान्त निकलता है कि बिना कारण के कोई कार्य नही

1 **कर्म के विषय मे विशेष जानकारी के लिए मेरी पुस्तक कर्ममीमासा देखें।**

होता है और कारण के गुण उसके कार्य मे किसी-न-किसी रूप मे अवश्य आते हैं। परन्तु यह नियम उपादान के लिए है। इस नियम के आधार पर ही जगत् की प्रक्रिया को वेद मे दार्शनिक रूप दिया गया है। अथर्ववेद १०।८।३१ मे यह लिखा गया है कि अवि=प्रकृति नाम की एक देवता है जो ऋत=परमात्मा के नियम से ढकी है। उसी के तत्व से ये ससार के सारे पदार्थ बने है। यजुर्वेद २३।५६ मे कहा गया है कि यह अजा=प्रकृति जगत् को अपने अन्दर से प्रकट करती है और प्रलय मे अपने अन्दर ले लेती है। अथर्व १०।८।३० मे यह भाव व्यक्त किया गया है कि यह प्रकृति सनातन है और अनादि है। यह पुरातन है और अपने सभी विकारो मे उपस्थित है। यह सब कार्यों मे प्रकाशमान हो रही है। प्रत्येक गतिमान जीव के साथ परमेश्वर के नियम मे यह अपने स्वरूप को प्रकट करती है। परमाणु रूप से प्रकृति का वर्णन वेद मे पाया जाता है। यजुर्वेद १७।१९ मे लिखा है कि परमाणुओं द्वारा द्यु और पृथ्वी लोक का उत्पन्न करता हुआ एक देव परमेश्वर सब मे व्यापक हो रहा है।

जगत मिथ्या नही है। जिसका उपादान कारण पाया जावे और वह उपादान स्वय सत्य हो, वह कभी भी मिथ्या नही कहा जा सकता है। वेद मे (१०।१२६।३) कहा गया है कि यह जगत् कारण मे कार्य रूप मे प्राप्त होता है। जगत की रचना के विषय म कहा गया है (ऋग्वेद १०।१९०।३) कि सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि समस्त पदार्थों को परमेश्वर ने वैसा ही इस कल्प मे भी बनाया है जैसा पहले कल्पो मे बनाया था। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक कल्प मे ससार के समस्त पदार्थ एक से ही बनाये जाते है। इस आधार पर यह सुतराम् सिद्ध है कि जगत् मिथ्या नही—सत्य है। वेद मे इस विषय मे पचभूतो का भी वर्णन पाया जाता है। पुरुष कितने तत्वो के इस शरीर मे आकर प्रविष्ट हुआ है—इसका उत्तर देते हुए लिखा गया है कि 'पञ्चस्वन्त पुरुष आविवेश अर्थात् पाच तत्वो के अन्दर आकर पुरुष ने प्रवेश पाया है और पाँच ही ज्ञानेन्द्रिय के रूप मे उसे दिये गये है। जगत् को अग्निषोमात्मक भी माना गया है। ऋण और धन के रूप मे विद्यमान कारण विद्युत् को लेकर जगत् को अग्निषोमात्मक कहा गया है। शतपथ मे अग्नि और सोम की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि जो शुष्क भाग है वह आग्नेय है और जो आर्द्र भाग है वह सौम्य है। शीतोष्णात्मक द्वन्द्व के विविध परिणाम ससार मे देखे जाते हैं।

जगत् मे ईश्वर की व्यापकता का वर्णन करते हुये वेद मे लिखा गया है कि इस जगती मे जो कुछ भी है वह जगत् है—अर्थात् गतिमान है। इसमें परिणाम का

अनुभव हो रहा है। काल और देश मे इसकी स्थिति है। इसमे मूर्त्तता होने से देश है और परिणाम एव परिवर्त्तन होने से काल है। अथर्ववेद के काल-सूक्त मे समस्त भुवनो को काल का चक्र कहा गया है। जिस प्रकार पहिये से गाडी का चलना प्रकट होता है। उसी प्रकार भुवन-चक्र से काल के प्रवाह का परिज्ञान होता है। समस्त भुवनो को काल अपने गतिप्रवाह मे बहा रहा है। ससार का कोई भी उत्पन्न पदार्थ ऐसा नही है जिसमे उत्पत्ति पाई जावे और काल का होना न पाया जावे। अत काल जन्य-पदार्थों का एक कारण है। इस प्रकार ईश्वर, जीव, और प्रकृति—ये तीन मूलतत्त्व है जो जगत् कारण के रूप मे वेदो मे स्वीकार किये गये है।

कुछ मौलिक शिक्षायें १ जीवन भर (शत समा पर्यन्त) निष्काम कर्म करते रहना चाहिए। इस प्रकार का निष्काम कर्म पुरुष मे लिप्त नही होता है। यजु ४०।२

२ जो ग्राम, अरण्य, रात्रि-दिन, मे जानकर अथवा अजानकर बुरे कर्म करने की इच्छा है अथवा भविष्य मे करने वाले है उनसे परमेश्वर हमे सदा दूर रखे।

३ हे ज्ञानस्वरूप परमश्वर ! वा विद्वन् आप हमे दुश्चरित से दूर हटावे और सुचरित मे प्रवृत्त करे। यजु ४।२८

४ हे पुरुष ! तू लालच मत कर, धन है ही किसका। यजु ४० १

५ हे भगवन् ! हम सत्य का पालन करे, झूठ के पास भी न जावे, । ऋ ८।६२।१२

६ एक समय मे एक पति की एक ही पत्नी और एक पत्नी का एक ही पति होवे। अथर्व ७।३७।१

७ हमारे दाये हाथ मे पुरुषार्थ हो और बाये मे विजय हो। अथर्व ७।५८।८

८. पिता-पुत्र, भाई-बहिन आदि परस्पर किस प्रकार व्यवहार करें—इसका वर्णन अथर्व ३।३० सूक्त मे है।

९ उत्तम मति, उत्तम कृति और उत्तम उक्ति का सदा मानव मे स्थान होना चाहिए। ऋग्वेद १०।१९१।१-४

१० सभा और समिति राजा की पुत्री के समान है। इनमे बैठने पर सत्य और उचित ही सम्मति देनी चाहिए। अथर्व ७।१२।१

११. द्यूत नहीं खेलना चाहिए। इसको निन्द्य कर्म समझें। ऋग्वेद १०।३४ सूक्त।

१२ सात मर्यादायें हैं जिनका सेवन करने वाला पापी माना जाता है। इन सातों पापों को नही करना चाहिए। स्तेय, तल्पारोहण, ब्रह्महत्या, भ्रूणहत्या, सुरा-पान, दुष्कृत कर्म का पुन-पुन करना, तथा पाप करके झूठ बोलना—ये सात मर्या-दायें हैं। ऋग्वेद १०।५।६

१३ पशुवो के प्रिय बनो और उनका पालन करो। अथर्व १७।४ और यजु १।१

१४ चावल, खावो, यव खावो, उडद, खावो, तिल खावो—इन अन्नों में ही तुम्हारा भाग निहित है। अथर्व ६।१४०।२

१५ आयु यज्ञ से पूर्ण हो मन यज्ञ से पूर्ण हो, आत्मा यज्ञ से पूर्ण हो और यज्ञ भी यज्ञ से पूर्ण हो। यजुर्वेद २२।३३

१६ ससार के मनुष्यो मे न कोई छोटा है और न कोई बडा है। सब एक परमात्मा की सन्तान है और पृथिवी उनकी माता है। सबको प्रत्येक के कल्याण मे लगे रहना चाहिए। ऋग्वेद ५।६०।५

१७ जो समस्त प्राणियो को अपनी आत्मा मे देखता है उसे किसी प्रकार का मोह और शोक नही होता है। यजु ४०।६

१८ ऋतकी प्रकाशरश्मिया पूर्ण हैं। ऋत का ज्ञान बुरे कर्मों से बचाता है। ऋग्वेद ४।२३।८

१९. परमेश्वर यहाँ वहाँ सर्वत्र और सबके बाहर भीतर भी है। यजु ४०।५

२० इन्द्रियाँ परमेश्वर को नहीं प्राप्त कर सकती हैं। यजु ४०।४

२१ प्रजा के पालक परमेश्वर ने सत्य और असत्य के स्वरूप का व्याकरण कर सत्य में श्रद्धा और असत्य मे अश्रद्धा धारण करने का उपदेश किया है। यजु १९।७७

२२. अपने ज्ञान और कर्म से मनुष्य परमेश्वर का भक्त बनाता है और इन्ही से दुर्गुणों से भी दूर रहता है। ऋ ५।४५।११

२३. कुटिल कर्म अथवा उल्टे कर्म का नाम ही पाप है। ऋग्वेद १।१८९।१

२४ हमारा मन सदा उत्तम विचारों वाला ही हो। यजु: ३४।१

२५ अतपस्वी मनुष्य कच्ची बुद्धि का होता है अत वह उस परमेश्वर को नहीं प्राप्त कर सकता है। ऋ ६।८३।१

२६ यह शरीर अन्त मे भस्म हो जाने वाला है। हे जीवात्मन् ! तू अपना, अपने कर्म और ओम् का स्मरण कर। यजु ४०।१५

२७. परमेश्वर का सखा न मारा जाता है और न वह कभी हानि उठाता है।

२८ सत्य, बृहत्, ऋत, उग्र, तपस, दीक्षा, ब्रह्म और यज्ञ पृथिवी का धारण करते हैं।

२९. मनुष्य मे उल्लू, भेडिया, सुपर्ण, गृध्र, श्वा, और कोक का व्यवहार नही होना चाहिए।

३० जो बैठा है, जो चलता है, जो छिपकर चलता है, जो भय देता है, तथा दो आदमी जो बैठकर आपस मे कानाफूसी करते हैं—परमात्मा तीसरा होकर इस सबको जानता है।

३१ उस भगवान् को जान कर ही मानव मृत्यु को लाघ जाता है कल्याण का अन्य कोई मार्ग नही। यजु ३१।१८

३२ बहुत सन्तानो वाला दु ख को प्राप्त होता है। ऋ १।१६४।३२

३३. मनुष्य बनो और उत्तम सन्तानो को उत्पन्न करो। ऋग्वेद १०। ११४।१०

३४. आत्मघाती अन्धकारमय लोको को प्राप्त होता है। यजु ४०।३

३५ सब दिशायें हमारे लिए मित्रवत् होवें। अथर्व १९।५।६

३६ ब्रह्मचर्य और तप से विद्वान् लोग मृत्यु को पार करते हैं।

३७. हम सदा ज्ञान के अनुसार चलें कभी भी इसका विरोध न करें। अथर्व १।१।४

३८. अपने कानो से हम सदा अच्छी वस्तु सुनें, आंखो से अच्छी ही वस्तु को देखें, सदा हृष्ट-पुष्ट शरीर से स्तुति करे और समस्त आयु उत्तम कर्म के लिए ही हो। यजु २५।२१

३९. उत्तम कर्म करने वालों का किया हुआ उत्तम कर्म हमारे लिए कल्याणकर हो। ऋग्वेद ७।३५।४

४०. हमारे लिए दिन कल्याणकारी हो और रात्रियें भी सुखकारी हो। यजु । ३६।१९

उपसहार—पुस्तक को ९ अध्यायो के कलेवर मे यहाँ तक पहुँचाने के बाद अब विराम की तरफ रुचि होना स्वाभाविक है। पर्याप्त विस्तार दिया गया। अभी बहुत सी बातें मस्तिष्क मे लिखने की इच्छा से शेष भी हैं परन्तु पुस्तक का विस्तार और अधिक हो जावेगा इसलिए विराम की भावना से उपसहार करने मे प्रवृत्त हो रहा हूँ। वैदिक एज की सभी भ्रान्तियो का निराकरण करने की इन अध्यायो में पूरी चेष्टा की गई। वैदिक एज को दृष्टि-पथ मे रखते हुए भी इन अध्यायों मे अन्य शतश पुस्तकों का भी उत्तर दे दिया गया है। कुछ ऐसी भ्रान्तियाँ इतिहास और वेदकाल आदि के विषय मे फैलाकर दृढमूल कर दी गई हैं कि उनका निराकरण बिना किए हुए प्रस्तुत विषय के साथ न्याय किया ही नही जा सकता था। अतः इन भ्रान्तियो के दूर करने मे कोई भी कोर कसर नही रखी गई है। इन नव अध्यायो को पढ़ने के अनन्तर एक निष्पक्ष विद्वान् जिस परिणाम पर पहुँचेगा मेरा विचार है कि वह परिणाम भ्रान्त धारणावो को विध्वस्त करके स्थापित किया हुआ वास्तविक तथ्य होगा। अन्य कुछ स्थापना करने का स्थान नही रह जावेगा। सत्य मे प्राची, प्रतीची और देशकाल का भेद नही होता है। परन्तु कभी भी इन दीवारो मे रहकर सत्य को लोग सत्याभासो से भी छादित कर देते हैं। वैदिक एज इन सत्याभासो की पुस्तको मे एक है।

बहुधा लोग अपने विचारो को प्रस्तुत करते हुए सभव और संभावना का आश्रय लिया करते हैं। यह सदा अदृढ़ पक्ष की स्थिति रही है। दर्शन के क्षेत्र मे दार्शनिक की अशक्तता को छिपाने का एक बडा आश्रय 'अकस्मात्' शब्द मे मिला। जब भी क्यो ? और कैसे ? का उत्तर नही बना तब इस अकस्मात् (By chance) का अवलम्ब पकडा गया। बाद मे इसे एक दर्शन का रूप ही प्रदान कर दिया गया। यही बात इन सभव और सभाव्यता आदि मे भी पाई जाती है। ऐतिहासिक बहुधा अपने सत्याभासों के प्रकटीकरण और स्थिरीकरण मे इन शब्दों की आड़ लिया करते हैं। वैदिक एज मे इन शब्दों की जादूगरी का पूरा लाभ उठाया गया है। यह वस्तुत इन शब्दों का एक कोष ही बन गया है। इसके बलाबल का पूरा विचार करके इसका पर्याप्त परीक्षण कर दिया गया है और यह प्रकट कर दिया गया है कि इन शब्दो के प्रयोग से वैदिक एज द्वारा प्रदर्शित समस्त निर्णय, निश्चित तथ्य होना तो दूर रहा, सत्याभास सिद्ध हो गए हैं। वे वाद या सिद्धान्त नहीं कहे जा सकते हैं।

इतिहासकारो ने अपनी सुविधा के लिए कुछ कल्पित एव भ्रान्त स्थापनाये स्थापित कर रखी है। उनका अनेको प्रकार है। इन समस्त प्रकारों पर भी इस पुस्तक मे विचार करके इन्हे कल्पित एव भ्रान्त सिद्ध किया गया है। विभिन्न युगो आदि की कल्पना ऐसी वस्तुवें हैं कि जिनके रहते हुए आर्येतिहास और वैदिक काल का वास्तविक स्वरूप नहीं रखा जा सकता है। अनेक उपजातियो की कल्पनावो ने मानव के इतिहास को वस्तुत दानव का इतिहास बना दिया है। सर्वत्र भेद-भाव की लहरें बह रही हैं। इन सबका भी निराकरण कर वास्तविक इतिहास को बताने का पूर्ण प्रयत्न किया गया है। भूस्तरो की गणना और भूगर्भ-शास्त्र के कुछ उपकरणों एव पुरातात्विकी की उपलब्धियो आदि के आधार पर जो निर्णय किए जाते है— इनकी सारासारता की भी परीक्षा की गई है। कई विषयो मे इन्ही की कल्पनावो से इनका खण्डन कर दिया गया है। अगर भूगर्भ का सहारा लेकर कोई वेद के काल का सकोच कर एक सहस्र वर्ष का उसे बनाना चाहता हैं तो उसी शास्त्र के आधार पर वेद के काल को बहुत लम्बे काल के रूप मे स्थापित कर दिया गया है। मानव के उदय काल के विषय मे भूगर्भ शास्त्र से ही पर्याप्त प्रकाश डालकर उसे अरबों वर्षों तक ले जाने का सफल उद्योग किया गया है।

वर्तमान मे एक बहुत बडा हौवा भाषा-विज्ञान और विकासवाद का है। इसे लोगो ने विज्ञान और दर्शन नाम दे रखा है। वस्तुत इनमे ऐसी कोई वस्तु नही है। इस प्रसग मे अनेक प्रमाणो और युक्तियो आदि से यह सिद्ध कर दिया गया है कि भाषा-विज्ञान के कोई नियम नही हैं। इसे विज्ञान कहना नितान्त भ्रम है। भाषावो की विशेष प्रकार से जांच-पडताल करके भाषा-विज्ञान को निराधार सिद्ध किया गया है। साथ ही यह दिखलाया गया है कि ईश्वरीय ज्ञान वेद का काल भाषा-विज्ञान के आधार पर कूतना समुचित नही। भाषा-विज्ञान से न तो काल का निर्णय हो सकता है और न इतिहास की किसी कडी का ही निर्धारण किया जा सकता है। जो परिणाम इस आधार पर निकाले गए है वे सर्वथा ही विपरीत और असमीचीन है। वस्तुत भाषा और ज्ञान ईश्वर की प्रेरणा से मानव को प्राप्त होने है। वेद ईश्वरीय ज्ञान है और वेद की भाषा भी ईश्वर-प्रदत्त है। ससार मे वेद की भाषा किसी देश और काल में बोल चाल की भाषा नहीं रही है। वही आदि वाणी है जिसके आधार पर ससार की समस्त भाषायें विकृत होकर बनी। ससार मे जिसे भाषा-वैज्ञानिक

भाषा-विकास कह रहे हैं वह विकार है। उत्तरोत्तर परिमार्जन नही हुआ है—अपितु अपभ्रंश और विकार हुआ है।

विकासवाद का पूर्ण रूप से विचार किया गया। यह भी सिद्ध किया गया है कि यह अब एक अस्वीकृत वा तिरस्कृत वाद रह गया है। इसका प्रभाव सभी विज्ञान के क्षेत्र पर दिखाना ठीक नही। पाश्चात्यो और उनके अनुयायी एतद्देशीयो की सरणी से जो सभी विज्ञानो पर इसका प्रभाव पाया जा रहा है वह केवल एक प्रचार का बल है। वस्तुत उसमे कोई तथ्य नही है। ज्ञान-विकास, सृष्टि-विकास और चेतन-विकास—तीनो ही असभव है। ससार मे इनके कोई उदाहरण नही देखे जाते है। न जगत् विकास का परिणाम है और न चेतना और ज्ञान ही। विकासवाद की मान्यतावो की इसके प्रसग मे पूण निराकृति की गई है।

मोहे-जो दारो आदि की खोजो का हवाला देकर जो वेद के काल से उसे पूर्व सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है—इस पर भी विचार किया गया है। मोहे जो दारो की सभ्यता आसुरी है और वह वेद से बहुत बाद की है—यह सप्रमाण सिद्ध कर दिया गया है।

जन्द को वेद की समकालिक मानकर जो परिणाम वेद के विषय में निकाले जाते है उनका भी विस्तृत परीक्षण किया गया है और यह निश्चित दिखला दिया गया है कि वेद से प्राचीन ससार मे कोई भी धर्म-ग्रन्थ नहीं है।

अन्त मे वेद की अन्त साक्षियो से विविध विषयो पर विचार कर विभिन्न समस्यावो का समाधान किया गया है। यह निष्कर्ष निकाला गया है कि वेदो की चार सहितायें भिन्न-भिन्न कालो मे नही बनी—एक काल के ही सब हैं और सभी मन्त्र भी एक काल के है। इतने युक्ति और प्रमाण प्रस्तुत किए गए हैं कि पाठक परिणाम निकाल सकेगे।

फिर फल क्या है ?—यह एक सर्वसाधारण जिज्ञासा हो सकती है। उत्तर मे यही निवेदन करना पर्याप्त होगा। कि युगप्रवर्त्तक आचार्य दयानन्द सरस्वती ही एक ऐसे आचार्य हैं जिन्होने प्रवाह को पलट दिया और नये युग का निर्माण किया। प्रवाह मे तो सभी बहते हैं—परन्तु प्रवाह के विपरीत चलना उनका ही कार्य था। उन्हीं की शिक्षावो का अनुकरण कर वर्तमान ऐतिहासिक मान्यतावो के प्रवाह के

उल्टा मार्ग इस में लिया गया है। परिश्रम, तर्क प्रमाण और वैज्ञानिकी से यह सिद्ध किया गया है कि वेद ईश्वरीय ज्ञान है, इनकी प्रेरणा का समय लगभग दो अरब वर्ष पूर्व जाता है, इनसे पूर्व ससार में कोई धर्म या भाषा नहीं थे और न आर्यों से पूर्व संसार में कोई जाति ही थी। वेद सृष्टि के प्रारम्भ में मिला आदि ज्ञान है और आर्य जाति ही आदि जाति है।

कुछ विशेष ग्रन्थ जिनका सहयोग लिया गया

१. वेद—ऋक्, यजुः, साम और अथर्व – विभिन्न भाष्यों सहित
२ ब्राह्मण—शतपथ, गोपथ, ऐतरेय, तैत्तिरीय, जैमिनीय और ताण्ड्य
३. उपनिषद्—मुण्डक आदि
४ दर्शन—छः दर्शन और उनके भाष्य आदि
५. वेदाङ्ग—निरुक्त, ज्योतिष, व्याकरण=महाभाष्य—अष्टाध्यायी, गोभिल गृह्यसूत्र
६ स्मृति—मनुस्मृति
७ इतिहास—रामायण, महाभारत
८. आर्यों का आदिदेश—श्री सम्पूर्णानन्द
९. वैदिक सम्पत्ति—श्री रघुनन्दन शर्मा
१०. वैदिक साहित्य—श्री रामगोविन्द त्रिवेदी
११. अवेस्ता और उसका भाषानुवाद—प० राजाराम शास्त्री
१२ Hymns of Zorcaster—by Kenneth Sylvan Guthric
१३. Zoroastrianism—by Annie Besent
१४ The Vedic Origin of Zoroastrianism —by Rulia Ram Kashyap M. Sc.
१५ Religion in the Twentie'h Century —by Vergilius Ferm
१६. Science of Religions (English Version) —by Emile Burnouf
१७ The Origin of Religion—by Rafael Karsten Ph D.
१८. Rigvedic India—by A C. Das
१९. The Vedic Fathers of Geology—by N. B. Pavgee
२०. India What Can It Teach Us—by Maxmuller
२१. The Fountain Head of Religion —by Pt. Ganga Prasad M. A

२२. सत्यार्थप्रकाश—महर्षि दयानन्द सरस्वती
२३. भारतवर्ष का बृहद् इतिहास—श्री प० भगवद्दत्त जी बी० ए०
२४. भारतवर्ष का इतिहास—श्री आचार्य रामदेव बी० ए०
२५ Vedic Age—by R C. Majumdar M. A., Ph. D.
२६. आत्मदर्शन—श्री महात्मा नारायण स्वामी
२७ चरक और सुश्रुत
२८ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका—महर्षि दयानन्द सरस्वती
२९. Bible In India—by M Louis Jacolliot
३०. काठक शाखा
३१ मैत्रायणी शाखा
३२ तैत्तिरीय शाखा
३३ अन्यान्य पुस्तकें और लेख आदि